राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास

लेखक

डॉ० गोपीनाथ शर्मा

डी लिट्

निदेशक, सेन्टर फार राजस्थान स्टडीज,

राजस्थान विश्वविद्यालय एवं

राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी अपनी स्थापना के 20 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1989 को 21वे वर्ष मे प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि मे विश्व साहित्य के विभिन्न विषयो के उत्कृष्ट ग्रंथो के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रंथो को हिन्दी मे प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत् के शिक्षको, छात्रो एव अन्य पाठको की सेवा करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी मे शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी मे ऐसे ग्रंथो का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमो के अनुकूल हो। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रंथ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड मे अपना समुचित स्थान नही पा सकते हो, और ऐसे ग्रंथ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नही पाते हो, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय मे उन दुर्लभ मानक ग्रंथो को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नही, गौरवान्वित भी हो सके। हमे यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 340 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथो का प्रकाशन किया है जिसमे से एकाधिक केन्द्र, राज्यो के बोर्डो एव अन्य सस्थाओ द्वारा पुरस्कृत किये गये है तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा अनुशसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अत अकादमी अपने लक्ष्यो की प्राप्ति मे उक्त सरकारो की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

विद्वान् एव सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० गोपीनाथ शर्मा लिखित प्रस्तुत पुस्तक 'राजस्थान का सास्कृतिक इतिहास'—इतिहास विषय के स्नातकोत्तर छात्रो के लिए तो उपयोगी होगी ही, बल्कि अन्य जिज्ञासु रुचिशील व्यक्तियो को भी रोचक सामग्री उपलब्ध करायेगा।

हम इसके विद्वान् लेखक डॉ० गोपीनाथ शर्मा एव भाषा सम्पादक श्री प्रकाश परिमल, जयपुर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु धन्यवाद ज्ञापित करते है।

पी० वी० माथुर	डॉ० राघव प्रकाश
अध्यक्ष	निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी एव	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
शिक्षा आयुक्त, राजस्थान सरकार, जयपुर	जयपुर

प्राक्कथन

सस्कृति की दृष्टि से राजस्थान भारत के उन समृद्ध प्रदेशो मे है जो विश्व-समाज को कुछ दे सकते हैं। जो देय सामग्री है वह सभ्यता की अविच्छिन्नता तथा ओजस्विता है। चाहे यहाँ का साहित्य हो या कला, वे ऐसे अनमोल रत्न हैं कि इनका मूल्याकन सहज मे होना सभव नही। इनका स्वरूप चिन्तन और मनन से निर्धारित होता है। यही वो तत्त्व हैं जिन्होने यहाँ के मानव मे उदारता, दृढता और शौर्य का सचार किया। प्राचीनकाल मे जितनी भी विदेशी नस्लें यहाँ बसी, उन्हे आत्मसात करने मे यहाँ की धरती ने कोई कसर न रखी। साथ ही मध्यकालीन आक्रामको की विशेषता को सामञ्जस्य की भावना से इस प्रकार प्रभावित किया कि यहाँ एक समन्वयपरक सस्कृति का उदय हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक मे सस्कृति के उसी अश का विवरण प्रस्तुत किया गया है जो आध्यात्मिक तथा धार्मिक आन्दोलनो और सामाजिक परम्पराओ से प्रभावित है। यथास्थान लोक-साहित्य, लोक नृत्य तथा शास्त्रीय साहित्य का समावेश भी किया गया है जिससे पाठको को राजस्थान की आत्मा को समझने मे सरलता का अनुभव हो। मूर्तिकला और चित्रकला का भी उल्लेख किया गया है क्योकि ये कलाएँ राजस्थान के आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक गुणो के मूर्त रूप हैं। कालक्रम और घटना-चक्र को समझने मे सुविधा हो, इस विचार से ग्रन्थ मे पाद-टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं। विवेचन के लिए मानचित्रो तथा निदर्शन चित्रो का सहारा लिया गया है जिससे सस्कृति के लक्षणो का ठीक अध्ययन हो सके।

पुस्तक सम्बन्धी कुछ उपयोगी सामग्री जो स्पष्टीकरण के लिए जन सम्पर्क विभाग, पुरातत्त्व विभाग तथा जनगणना एव गजेटियर विभाग से उपलब्ध हो सकी उसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हू।

मेरे लिए बडे सौभाग्य का विषय है कि ग्रन्थ के लिखे जाने मे मुझे पूर्व मुख्यमत्री श्री हरिदेवजी जोशी से असीम प्रेरणा प्राप्त हुई। उनके सहज स्नेह तथा उनके राजस्थान की सस्कृति के प्रति प्रेम को अभिव्यक्ति देने मे मैं स्वय को असमर्थ पा रहा हू।

लेखन कार्य की व्यस्तता के अवसर पर मेरी धर्म पत्नी सूर्य प्रभा का जो समय-समय पर सराहनीय सहयोग रहा है, उसके लिए मै आभारी हूँ।

अन्त मे, जन सम्पर्क विभाग के पूर्व निदेशक श्री के० एन० कोचर महोदय एव वर्तमान निदेशक डॉ० मनोहर प्रभाकर के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे इस लेखन कार्य के लिए चुना और समय-समय पर आने वाली कठिनाइयो को दूर कर मुझे इस पुस्तक को राजस्थान की सस्कृति के प्रेमियो के समक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया।

—गोपीनाथ शर्मा

विषय-सूची

□□□

चित्र-सूची

क्रमांक	शीर्षक	पृष्ठ सख्या
53–54	(अ) महाराणा छतरसिंह, कोटा शैली	168–169
	(ब) रागिनी देवगन्धार, बूंदी शैली	168–169
55–56	(अ) कृष्णावतार, अलवर शैली	168–169
	(ब) रास मण्डल नाथद्वारा शैली	168–169
57–58	(अ) गर्वा नृत्य	184–185
	(ब) तीज के झूले	184–185
59–60	(अ) ढोल नृत्य	184–185
	(ब) डाडिया नृत्य	184–185
61–62	(अ) तेम्हवली नृत्य	184–185
	(ब) गांगी नृत्य	184–185

मानचित्र-सूची

राजस्थान की भौगोलिक स्थिति और उसका यहाँ की संस्कृति पर प्रभाव

नाम

राजस्थान भारतवर्ष के पश्चिमी भाग मे एक बडा राज्य है जो प्राचीन काल मे किसी विशेष नाम से नही विख्यात था। इसमें कई इकाइयाँ सम्मिलित थी, जिन्हें अलग-अलग नाम से जाना जाता था, जैसे जयपुर राज्य का उत्तरी भाग मत्स्य देश के अन्तर्गत होने से मत्स्य का एक भाग था। इसी का दक्षिणी भाग चौहानो के अधीन था जिसे सपादलक्ष कहते थे। अलवर राज्य का उत्तरी भाग कुरु देश का हिस्सा था तो भरतपुर, धौलपुर तथा करौली राज्य शूरसेन देश के अन्तर्गत थे। मेवाड शिवि जन-पद का भाग था तथा डूंगरपुर एवं बासवाडा वागट (वागड) नाम से प्रसिद्ध थे। जहाँ जैसलमेर राज्य के अधिकाश भाग वल्लदेश के अन्तर्गत थे तो जोधपुर मरुदेश के अन्तर्गत था। जोधपुर के उत्तरी भाग तथा बीकानेर राज्य को जागल देश कहते थे। जोधपुर का दक्षिणी भाग गुर्जरत्रा (गुजरात) नाम से जाना जाता था। प्रतापगढ, झालावाड तथा टोक का अधिकाश भाग मालवदेश के अन्तर्गत थे।[1]

जब राजपूत जाति के कतिपय वीरो ने इस राज्य के विविध भागो पर मध्ययुगीन काल मे अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तो इस समूचे भाग को अपने-अपने वश या स्थान विशेष के अनुरूप नामो से प्रसिद्धि मिली और उन्हें विविध राज्यो की सज्ञा दी गई। ये राज्य उदयपुर, डूगरपुर, बासवाडा, प्रतापगढ, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ, सिरोही, कोटा, बूंदी, जयपुर, अलवर, भरतपुर, करौली, झालावाड और टोक[2] थे।

इन राज्यो के नामो के साथ-साथ इनके कुछ भू-भागो को स्थानीय एव भौगोलिक विशेषताओ के परिचायक नामो से भी पुकारा जाता है। ढूंढ नदी के निकटवर्ती भू-भाग को ढूंढाड (जयपुर) कहते हैं। मेव तथा मेद जातियो के नाम से

---

1 ओझा : राजपूताने का इतिहास, जिल्द पहली, पृ० 2, 3।
2 इम्पीरियल गजेटियर (प्रो सि), पृ० 1।

अलवर को मेवात तथा उदयपुर को मेवाड कहा जाता है। मरु भाग के अन्तर्गत रेगिस्थानी भाग को मारवाड भी कहते हैं। डूंगरपुर तथा उदयपुर के दक्षिण भाग में प्राचीन 56 गांवो के समूह को "छप्पन" नाम से जानते हैं। माही नदी के तटीय भूभाग को कोयल तथा अजमेर के पास वाले कुछ पठारी भाग को ऊपरमाल की संज्ञा दी गई है।[3]

अंग्रेजो का जब समूचे भारतवर्ष मे आधिपत्य स्थापित हो गया तो उन्होंने शासन की सुविधा के लिए ऊपर वर्णित विभिन्न देशी राज्यो जिनमे अधिकाश मे राजपूत राजा थे, को एक इकाई मानकर सम्पूर्ण राज्य को राजपूताना नाम दिया। सभवत: गोंडवाना, तिलगाना, जहा क्रमश गोंड और तैलग लोग वसते हैं, के अनुरूप यह नामकरण दिया गया। यहा भी राजपूतो की प्रधानता होने से इसे राजपूताना कहा जाने लगा[4]। परन्तु ऐसा लगता है कि फारसी मे राजपूता राजपूत शब्द का बहुवचन है जिससे राजपूतो के विभिन्न राज्यो को "राजपूता" लिखे जाने से "राजपूताना" कहने लगे हो[5]। कुछ ऐसी भी मान्यता है कि सन् 1800 ई० मे सर्वप्रथम जार्ज टामस ने इस प्रान्त के लिए राजपूताना नाम का प्रयोग किया है[6]।

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल जेम्स टॉड ने इस राज्य का नाम "रायथान" रखा क्योकि स्थानीय साहित्य एव बोलचाल मे राजाओ के निवास के प्रान्त को "रायथान" कहते थे। इसी का सस्कृत रूप राजस्थान बना। हर्ष कालीन प्रान्तपति, जो इस भाग की इकाई का शासन करते थे, "राजस्थानीय" कहलाते थे। सातवी शताब्दी से जब इस प्रान्त के भाग राजपूत नरेशो के अधीन होते गये तो उन्होंने पूर्व प्रचलित अधिकारियो के पद के अनुरूप इस भाग को राजस्थान की सज्ञा[7] दी जिसे स्थानीय साहित्य मे रायथान कहते थे। जब भारत स्वतन्त्र हुआ तथा कई राज्यो के नाम पुन. परिनिष्ठित किये गये तो इस राज्य का भी चिर प्रतिष्ठित नाम "राजस्थान" स्वीकार कर लिया गया।

स्थान और क्षेत्रफल

राजस्थान राज्य 24 देशी राज्यो तथा अजमेर के विलय की इकाई है जो 23 3, 30·12 उत्तर अक्षाश और 69·30 से 78·17 पूर्व देशान्तर के बीच फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल 3,42,440 वर्ग किलोमीटर है तथा जनसख्या 2,57;24,142 के लगभग है।

---

3. गोपीनाथ शर्मा : सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० 3।
4. ओझा . राजपूताने का इतिहास, पहली जिल्द, पृ० 1।
5. गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० 1।
6. विलियम फ्रेंकलिन . मिलिट्री मेमायर्स ऑफ मिस्टर जार्ज टामस, पृ० 347, सन् 1805 ई० (लदन सस्करण)।
7. बगतगढ़ लेख, वि० स० 682।

राजस्थान के स्थानीय नाम
पंजाब
पंजाब
सिंध
गुजरात
मालवा
मध्य प्रदेश
उत्तर प्रदेश

सीमा—राजस्थान के पश्चिम, उत्तर व पश्चिम मे पाकिस्तान, उत्तर तथा उत्तर-पूर्व मे पजाब और हरियाणा, पूर्व मे उत्तर-प्रदेश, दक्षिण पूर्व मे मध्य प्रदेश एवं दक्षिण मे गुजरात के राज्य हैं।[8]

भौगोलिक परिपेक्ष्य में राजस्थान

भौगोलिक दृष्टि से राजस्थान के दो-प्रमुख भाग हैं—एक पश्चिमोत्तर और दूसरा दक्षिण-पूर्वी। प्रथम भाग मे रेगिस्तान और द्वितीय भाग मे मैदानी व पठारी भाग सम्मिलित हैं। इन दोनो भागों के बीचोबीच अर्द्धवर्ती पर्वत की शृंखलाए ईशान कोण से प्रारभ होकर नैऋत्य कोण तक अर्थात् दिल्ली से आरभ होकर सिरोही तक फैली हुई हैं। उत्तर मे ये श्रेणियां बहुत चौड़ी नही हैं, परन्तु अजमेर से ज्यों-ज्यो हम आगे बढ़ते हैं ये चौडी व ऊँची होती जाती हैं। डूगरपुर, बासवाड़ा, उदयपुर और सिरोही जिले लगभग इन श्रेणियो से ढके हुए हैं। अर्वली पहाड़ का सबसे ऊचा भाग सिरोही जिले मे है जो आबू पहाड़ के नाम से विख्यात है। इसी पर्वतमाला की एक विलग श्रेणी अलवर, अजमेर और हाडौती (कोटा-बूंदी) की विलग श्रेणिया राजस्थान के पठारी भाग को बनाती हैं।

राजस्थान का पश्चिमोत्तर भाग समतल है परन्तु इसका अधिकाश भाग मरुस्थल है जिसमे मारवाड़, बीकानेर और जैसलमेर के रेगिस्तान हैं जो उपजाऊ नहीं हैं। दक्षिण पूर्वी भाग मे जगह-जगह मैदानी भाग है। इनमें कई नदियाँ बहती हैं जो भूभाग को उपजाऊ बनाती हैं। इस भाग मे बहने वाली नदिया अधिकाश में मध्य भारत से निकलती हैं जिनमें चबल, कालीसिंध, पार्वती एव माही प्रमुख हैं। राजस्थान मे बहने वाली सबसे बडी नदी चबल है। जो मध्य प्रदेश से निकल कर भैंसरोडगढ, कोटा, केशवराव-पाटण और धौलपुर के भागो मे बहकर जमुना मे जा मिलती है। कालीसिंध, झालावाड तथा कोटा के भूभाग को सींचती है। पार्वती टोक तथा कोटा मे बहती हुई चंबल मे जा मिलती है। माही डूंगरपुर और बासवाडा के जिलो में बहती हुई गुजरात मे प्रवेश कर खभात की खाड़ी मे जा गिरती है। बनास कुंभलगढ से निकल कर उदयपुर, जयपुर, बूंदी, टोक और करौली जिलो मे बहती हुई ग्वालियर के पास चबल मे जा मिलती है। लूणी नदी अजमेर के पास से निकल कर जोधपुर जिले मे बहती हुई रण मे विलीन होती है।[9]

झीलें

जैसा कि हमने पहले कहा कि राजस्थान का उत्तर-पश्चिमी भाग सूखा मैदान है तो स्पष्ट है कि वहा पानी की झीलें होना सभव नही। इस भाग मे केवल छोटे जलाशय मिलते हैं जो गर्मियो मे सूख जाते हैं और उसके आसपास बसने वाली

---

8. इम्पीरियल गजेटियर, प्रो० सी० पृ० 1।
9 इम्पीरियल गजेटियर (फे० सी०) पृ० 93, 207, 234, 248, 253, 458।

राजस्थान-प्राकृतिक
पाकिस्तान
पंजाब
उत्तर प्रदेश
जयपुर
अजमेर
जोधपुर
उदयपुर
गुजरात
मध्य प्रदेश
सिन्ध
संकेत

बस्ती को पानी और घास की खोज मे इधर-उधर घूमने के लिए विवश करते हैं। जोधपुर, बीकानेर व जैसलमेर मे इधर-उधर पानी को रोककर तालाब बना दिये गये हैं। जोधपुर तथा उसके निकट मीठे पानी की कृत्रिम झीलो मे जसवत सागर, सरदार समद, एडवर्ड समद आदि प्रमुख हैं। बीकानेर तथा उसके निकट गजनेर, कोलायत, छापर आदि झीले हैं। जेट समद और ब्रह्मसर जैसलमेर की, अनासागर अजमेर की, जेत सागर और सूरसागर बूदी की, रावता कोटा की और गेप सागर डूंगरपुर की प्रमुख झीले हैं। अलवर, भरतपुर आदि जिलो मे भी झीलें हैं। ये झीलें इन जिलो की रमणीयता को परिवर्धित करती हैं और कुछ सिंचाई के उपयोग मे आती है।

कृत्रिम बाध बना कर उदयपुर तथा उसके आस-पास कई झीलो का निर्माण कराया गया था। इनमे सबसे बडी झील जयसमुद्र है। उसके भर जाने से इसकी सबसे अधिक लम्बाई 1 मील और चौडाई 6 मील तक हो जाती है। इसके अतिरिक्त उदयपुर मे पीछोला तथा उसके आस-पास उदयसागर, करेडा का तालाब, बडी का तालाब है जो रमणीयता की दृष्टि से बे-जोड़ हैं। कांकरोली के पास राजसमुद्र झील और इसके बाध पर नौ चोकियाँ तथा अजमेर के अनासागर की बारा दरियां बडी सुन्दर हैं।

आज के युग मे नदियो को बाध कर झील बनाने का काम राजस्थान मे द्रुतगति से चल रहा है। इनमे से कुछ तो सिंचाई के काम मे आती हैं और कुछ विद्युत-शक्ति उत्पन्न करने के लिए। कोटा के बाध इस दिशा मे राजस्थान के लिए वरदान सिद्ध हो रहे हैं।

राजस्थान मे कुछ प्राकृतिक झीले भी हैं जो अधिकाश मे खारी हैं। इनमे साभर की झील सबसे बडी है। पूरी भर जाने पर इसकी लम्बाई 20 मील और चौडाई 2 से 7 मील तक हो जाती है। उस समय उसका क्षेत्रफल 10 मील तक फैल जाता है। डीडवाना और पचभद्रा की प्राकृतिक झीलें खारे पानी की हैं। छापर और लूणकरणसर मे भी खारे पानी की झीलें हैं। इन सभी झीलों के पानी से नमक बनाया जाता है जो जोधपुर एव बीकानेर राज्य का आमदनी का बहुत बड़ा स्रोत था। ई०स० 1870 से अंग्रेज सरकार ने नमक बनाने के लिए दोनो राज्यो से इन्हे ठेके पर ले लिया और उन पर एकाधिपत्य अधिकार स्थापित कर इन राज्यो के अधिकार पर एक बडा आघात पहुँचाया।

वन, पशु तथा उपज

अर्वली के दक्षिण पश्चिमी व दक्षिण पूर्वी भाग तथा पश्चिमी ढाल पर घने वनो के उल्लेख मिलते हैं जिनमे से अधिकाश कट चुके हैं या जिनसे प्राप्त भूमि मे बस्तियां हो गई हैं। जो जगल बाकी रहे हैं उनमे सालर, महुआ, खेर, नीम, गूलर, ढाक, आम, जामुन, बबूल और कहीं-कहीं देशी सागवान के वृक्ष मिलते हैं। धो, खेर

तथा खजूर की लकडी इमारतो मे काम मे आती है और बाकी कुछ लकडी का किवाडो मे या जलाने मे उपयोग किया जाता है । वर्तमान सरकार वन क्षेत्रो को पुन स्थापित करने तथा सुरक्षित रखने के लिए कृत सकल्प है ।

राजस्थान का सबसे प्रसिद्ध पशु ऊँट है जो सवारी तथा माल ढोने के काम मे आता है । पालतू पशुओ मे गाय, बैल, भैंस, बकरी, घोडा, गधा आदि हैं । बाघ, चीता, रीछ, सूअर, भेडिया, जरख, चीतल, हिरन, नीलगाय, खरगोश, लोमडी, आदि जगली जानवर यहा पाये जाते हैं । इनकी रक्षा के लिए रणथम्भोर तथा सिरिस्का मे अभयारण्य बनाये गये हैं । पक्षियो के लिए भी भरतपुर के पास बना भील मे इनके परिपालन की व्यवस्था है ।

वर्षा तथा जलवायु

राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी भाग मे वर्षा बहुत कम होती है । इसकी औसत 6 से 7 इच है । पूर्वी विभाग मे सामान्य वर्षा होती है । जिसकी औसत 15 से 22 इच है । दक्षिण पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्वी भाग मे वर्षा अन्य भागो की अपेक्षा अधिक होती है जिसकी औसत 30 से 80 इच है ।[10]

यहा की जलवायु सामान्यत आरोग्यप्रद है । रेगिस्तानी भाग आरोग्यता के विचार से उत्तम है । पहाडी भागो का पानी भारी होने से स्वास्थ्य के लिए इतना लाभदायक नही है । रेगिस्तानी भागो मे सर्दी के दिनो मे अधिक सर्दी और गर्मी के दिनो मे अधिक गर्मी अनुभव की जाती है तथा वहा लू एव आधियो का दौर विशेष रहता है । पहाडी भागो मे लू, पसीना, आधी आदि का प्रकोप नही रहता । ऐसे प्रदेश न अधिक ठडे और न अधिक गर्म रहते है ।[11]

भौगोलिक स्थिति और सस्कृति पर प्रभाव

राजस्थान की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक बनावट ने यहा के जन-जीवन व सस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है । अर्वली पर्वत श्रेणी के अचलो ने यहा की मौलिक जन-जाति को बाहरी प्रभाव से इस प्रकार अछूत रखा कि वे सदियो तक प्राचीन भारतीय सस्कृति को सुरक्षित रख सके । यही कारण है कि प्राचीन भारत के जन जीवन, मान्यताओ तथा विचारो की झलक यदि हम आज भी देखना चाहे तो वे अक्षुण्ण रूप मे राजस्थान मे ही देखने को मिलती हैं । जब विदेशी आक्रमणो से उत्तरी भारत आक्रात था, राजस्थान उन पर्वतीय दीवारो के कारण उनके कुप्रभावो से बचा रहा । ऐसी परिस्थिति मे यहा दीर्घकाल तक सुव्यवस्था और शाति रह सकी थी और सस्कृति को प्रश्रय मिलता रहा ।

---

10 इ० ग० राजस्थान ।

11. [illegible], पृ० 16 ।

इसी प्रकार जब कई क्षत्रिय वीर सातवी शताब्दी से राजस्थान मे विजेता के रूप मे आकर बस गये तो इन्होने भी जीवन के कतिपय मूल्यो को जन-जाति के संपर्क से आत्मसात् किया और वे भी न केवल देश के रक्षक अपितु भारतीय संस्कृति के पोषक भी बन गये। अपने अथक परिश्रम से उन्होंने भारतीय जीवन के मूल्यो को यथावत् बनाये रखने एव उन्हे परिवर्धित करने मे अपना पूरा योग दिया। यहा तक कि हमारे देश की स्वतन्त्रता को बचाये रखने मे उन्होंने अपने जीवन की बाजी लगा दी। राजस्थान आज भी देश विदेश मे अपने बलिदानो के लिए विख्यात है।

इतना ही नही पर्वतीय शृखलाओ मे अपने धन और जीवन को सुरक्षित रखने के लिए विशेष रूप से गुजरात तथा मध्य प्रदेश से अनेक समृद्ध परिवार यहा आये और उन्होंने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग मन्दिरो, धर्मशालाओ अथवा पुण्य गृहो के निर्माण द्वारा किया। रणकपुर तथा देलवाडा के मन्दिर इसी प्रक्रिया के ज्वलन्त उदाहरण है।[12]

इसके अतिरिक्त पर्वतीय वृक्ष, लता तथा पुष्प सम्पदा ने यहाँ के निवासियों मे प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए आकर्षण पैदा किया जो उनके जीवन का एक अग बन गया। त्यौहारो, पर्वो एव उत्सवो पर ऋतु के अनुकूल वेष–भूषा का उपयोग राजस्थान मे ही दिखाई देता है जो उनके प्राकृतिक सपदा के बीच रहने के कारण जीवन क्रम मे सहज ही ढल गया है।

इसी प्रकार पठारी भाग जिसमे चित्तौड़, बीजोलिया, अजमेर तथा हाड़ोती के भाग सम्मिलित हैं, राजस्थान के धार्मिक एव बौद्धिक विकास मे बडा उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसी के अन्तर्गत पुष्कर और अजमेर जैसे अनेक तीर्थ-स्थल विद्यमान है जिन्होने अनेक विचारको तथा सतो को यहाँ मनन एव ध्यान के लिऐ प्ररित किया उनके विचार आज भी श्रान्त हृदय को शाति देने के लिए प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं। इस भूभाग के विशुद्ध तथा शात वातावरण ने चन्द बरदाई तथा सूर्यमल मिश्र जैसे कवियो को जन्म दिया जो हमारे बौद्धिक जगत् के अग्रणी बने हुए हैं। इसी के अचल मे अनेक कलाकार हुए जिन्होने अपनी छीनी से बाडोली जैसे देवालय का निर्माण कर अपनी कृति को विश्वविख्यात किया है।[13]

राजस्थान का एक प्रमुख प्राकृतिक अग मरुस्थल है जो शुष्क तथा निरजन है। परन्तु कई आक्रमणकारियो की घुसपैठ को रोकने से इसने राजस्थान की सांस्कृतिक धरोहर को बचाये रखने मे बडा योग दिया है। जैसलमेर के मन्दिर तथा वहा के जैन भडारो की विरासत आज भी दर्शको को आश्चर्य मे डाल देती है। कई ताड-पत्रो पर लिखित एव चित्रित ग्रन्थ यहा के भडारो मे उपलब्ध हैं जिनकी समता कोई अन्य स्थान नही कर सकता। रेगिस्तान ने ही इन अलभ्य ग्रन्थो को बचाये रखा।[14]

---

12. गोपीनाथ शर्मा : सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० 6–9
13. गोपीनाथ शर्मा सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान पृ० 9–10
14. गोपीनाथ शर्मा : वही, पृ० 12–13

मरुस्थल की एकान्तता तथा विशालता ने यहा की घुम्मकड़ जाति मे से ऐसे रत्न पैदा किये जिन्होंने अपने वलिदान, ज्ञान और विचारो से दस्तकारी करने वाली, पशुपालन करने वाली तथा खेती करने वाली जातियो मे ब्रह्माण्ड की विशालता एव परमात्मा की महिष्णुता का पाठ पढाया और उन्हे आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित किया। मल्लिनाथ, पाबूजी, गोगाजी आदि विचारक इसी मरुस्थली की ज्योति से ज्ञान सम्पन्न हुए और उस ज्ञान का प्रसाद उन लोगो को वितरण किया जो इससे वचित थे।[15]

वैसे तो राजस्थान मे नदियो का अभाव है, परन्तु जो भी नदियाँ यहा रही हैं उन्होने देश को समृद्ध बनाने तथा नगरो को व्यावसायिक केन्द्र बनाने मे बड़ा योग दिया है। प्राचीन काल मे कालीबगा, आहड, गिलूड आदि बस्तियो को पनपने तथा उन्हें औद्योगिक केन्द्र बनाने मे सरस्वती, आहड तथा बनास एव चबल नदियो का हाथ रहा है। ये ही स्थान प्राचीन सस्कृति के केन्द्र रहे है जिनका वर्णन आगे के अध्याय मे किया जायेगा।[16]

राजस्थान की स्थिति भी ऐसी है कि गुजरात और मालवा जैसे समृद्ध प्रदेश इसके निकटतम पडोसी हैं तथा इधर-उधर आयात-निर्यात के मार्ग भी राजस्थान मे होकर गुजरते हैं। इस केन्द्रीय स्थिति ने इसे कभी एकान्त प्रदेश नही रखा। यहा तक कि राजनीतिक दृष्टि से अशोक एव अकबर जैसे शासको ने भी राजस्थान को अपनी नैतिक व राजनीतिक शक्ति का केन्द्र बनाया। बराठ एव अजमेर क्रमश इन सम्राटो के नियन्त्रण के प्रमुख बिन्दु थे।

इसकी भौगोलिक स्थिति ने यहां के जन समुदाय को निरन्तर रूप से यहा बसने का अवसर दिया और उन्हे और अपनी सस्कृति के लिए निष्ठावान बनाया। उन्हे अपनी भाषा, वेश–भूषा तथा विचारो के प्रति सचेतन किया। इसी उद्बोधन की प्रवृत्ति ने उन्हे अपने देशाभिमान के लिए चिन्तित व जागरूक बनाये रखा। युग-युगान्तर से चली आ रही आस्था और मान्यता यहा के निवासियो के लिए धरोहर का काम करने लगी। यही आस्था और निष्ठा राष्ट्रीयता की द्योतक बनी। यहा के निवासियो ने अपनी मूल-भूत अधिकारो और सस्कृति के प्रतीको की ओर ममत्व बना रहा। ऐसा सभव इसीलिए हो सका कि राजस्थान की भौगोलिक स्थिति निरन्तरता और अक्षुण्णता लिए हुई थी। यही कारण है कि आज भी राजस्थान मे अनेक बोलिया होते हुए भी यहा की भाषा मूलत राजस्थानी है। इसी भाषा मे समग्र राजस्थान मे लोकगीत गाये जाते हैं और राजस्थानी साहित्य का सृजन भी होता है। राजस्थान के किसी भी भाग मे रहने वाला व्यक्ति किसी भी जाति का क्यो न हो

---

15 गोपीनाथ शर्मा वही, पृ० 12–13

16 गोपीनाथ शर्मा सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान पृ० 14–16

उसकी भाषा व पहिचान मे एकरूपता मिलेगी। यहा की भौमिक स्थिति ने सास्कृतिक ऐक्य और विशिष्टता को अनुप्राणित किया है इसमे कोई सन्देह नही।

मरुस्थल को छोड शेष राजस्थान की जलवायु प्राय सुहावनी है। ऐसी जलवायु ने लोगो के रहन-सहन व व्यवहार को सरल और निश्छल बनाया। जीवन की आवश्यकताएँ कम होने से होड और छल-कपट का दश इनके दैनिक जीवन मे नही आया। इसी जलवायु के कारण ढीले-ढाले और कम वस्त्र जीवनयापन के लिए पर्याप्त थे और साथ ही खुले घर, जिन पर घास-फूस की छप्पर ही रहने के लिए अनुकूल पडते थे, खुली हवा और खुले आकाश मे रहने से यहाँ के निवासियो मे बौद्धिक विकास, विचारशीलता और आत्म-विश्वास को सहज मे बढावा मिलता रहा। धन-धान्य की कमी ने यहाँ के लोगो को परिश्रमी और अध्यवसायी बनाने मे सहयोग दिया एव ऐश्वर्य की कमी ने उन्हे चरित्रवान बनाया।

भारतीय एवं राजस्थानी संस्कृति की मौलिक एकता

भारतीय सभ्यता मे एक अविच्छिन्नता इस प्रकार दृढ और सक्रिय है कि हमे ये विशेषताएँ अन्यत्र नही दिखाई देती। यही कारण है कि अनेकानेक आक्रमणो के निरन्तर प्रवाह ने यहाँ के दार्शनिक विचारो तथा सामाजिक जीवन के विविध पहलुओ मे अस्थिरता नही पैदा होने दी। जीवन के चार उद्देश्यो—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की गरिमा और उनकी व्यवस्था सतत रूप से यहाँ के निवासियो का प्रेरणा का स्रोत बना रहा। राजस्थान की सस्कृति का भी मूल स्वरूप अविच्छिन्नता है। प्राचीन काल से 14वी शताब्दी तक लगातार यहाँ आक्रमण होते रहे तथा राज्यो की सीमा मे उथल-पुथल होती रही, परन्तु भारतीय परम्परा के अनुरूप यहाँ के निवासियो ने उन्हे सहा और उनका डटकर मुकाबला भी किया। उन्होंने जीवन के चार उद्देश्यो की भावना का सर्वदा सम्मान किया। अनेकानेक आक्रमणो की भयावह स्थिति मे समाज के प्रत्येक तबके ने पूर्ण सन्तुलन के साथ कर्त्तव्य-पालन का परिचय दिया। बडे आश्चर्य की बात है कि ज्यो-ज्यो राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनो की रफ्तार तेज होती गई लोगो ने निष्ठा और कर्त्तव्य-परायणता मे अधिक से अधिक दृढता दिखाई। कई ऐसे अवसर आये जब एक परिवार मे एक साथ अनेक वीरो ने देश के लिए अपने जीवन की आहुति दे डाली, परन्तु उन्होने कभी अपनी सस्कृति या परम्परा को आघात नही पहुँचने दिया।

भारतवर्ष की सस्कृति की दूसरी विशेषता साहित्य और कला की उत्कृष्टता है। यहाँ की कला मे व्यक्ति विशेष का कोई स्थान नही। कला मे आध्यात्मिक, सामाजिक तथा काल्पनिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। भारतीय ज्ञान, दर्शन तथा साहित्य की झाँकी स्पष्ट रूप मे कलाकृतियो में देखी जाती है। कई जटिल आध्यात्मिक विचार सरलता से मूर्ति के स्वरूप, लक्षण और सौन्दर्य से अनुभूत किये

मरुस्थल की एकान्तता तथा विशालता ने यहा की घुम्मकड जाति मे से ऐसे रत्न पैदा किये जिन्होंने अपने बलिदान, ज्ञान और विचारो से दस्तकारी करने वाली, पशुपालन करने वाली तथा खेती करने वाली जातियो मे ब्रह्माण्ड की विशालता एव परमात्मा की सहिष्णुता का पाठ पढाया और उन्हें आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित किया। मल्लिनाथ, पाबूजी, गोगाजी आदि विचारक इसी मरुस्थली की ज्योति से ज्ञान सम्पन्न हुए और उस ज्ञान का प्रसाद उन लोगो को वितरण किया जो इससे वचित थे।[15]

वैसे तो राजस्थान मे नदियो का अभाव है, परन्तु जो भी नदियाँ यहा रही हैं उन्होने देश को समृद्ध बनाने तथा नगरो को व्यावसायिक केन्द्र बनाने मे बडा योग दिया है। प्राचीन काल मे कालीबगा, आहड, गिलूंड आदि बस्तियो को पनपने तथा उन्हें औद्योगिक केन्द्र बनाने मे सरस्वती, आहड तथा बनास एव चबल नदियो का हाथ रहा है। ये ही स्थान प्राचीन सस्कृति के केन्द्र रहे हैं जिनका वर्णन आगे के अध्याय मे किया जायेगा।[16]

राजस्थान की स्थिति भी ऐसी है कि गुजरात और मालवा जैसे समृद्ध प्रदेश इसके निकटतम पडोसी हैं तथा इधर-उधर आयात-निर्यात के मार्ग भी राजस्थान मे होकर गुजरते हैं। इस केन्द्रीय स्थिति ने इसे कभी एकान्त प्रदेश नही रखा। यहा तक कि राजनीतिक दृष्टि से अशोक एव अकबर जैसे शासको ने भी राजस्थान को अपनी नैतिक व राजनीतिक शक्ति का केन्द्र बनाया। बैराठ एव अजमेर क्रमश इन सम्राटो के नियन्त्रण के प्रमुख बिन्दु थे।

इसकी भौगोलिक स्थिति ने यहाँ के जन समुदाय को निरन्तर रूप से यहा बसने का अवसर दिया और उन्हें और अपनी सस्कृति के लिए निष्ठावान बनाया। उन्हे अपनी भाषा, वेश–भूषा तथा विचारो के प्रति सचेतन किया। इसी उदबोधन की प्रवृत्ति ने उन्हे अपने देशाभिमान के लिए चिन्तित व जागरूक बनाये रखा। युग-युगान्तर से चली आ रही आस्था और मान्यता यहा के निवासियो के लिए धरोहर का काम करने लगी। यही आस्था और निष्ठा राष्ट्रीयता की द्योतक बनी। यहा के निवासियो ने अपनी मूल-भूत अधिकारो और सस्कृति के प्रतीको की ओर ममत्व बना रहा। ऐसा सभव इसीलिए हो सका कि राजस्थान की भौगोलिक स्थिति निरन्तरता और अक्षुण्णता लिए हुई थी। यही कारण है कि आज भी राजस्थान मे अनेक बोलिया होते हुए भी यहा की भाषा मूलत राजस्थानी है। इसी भाषा मे समग्र राजस्थान मे लोकगीत गाये जाते हैं और राजस्थानी साहित्य का सृजन भी होता है। राजस्थान के किसी भी भाग मे रहने वाला व्यक्ति किसी भी जाति का क्यो न हो

---

15 गोपीनाथ शर्मा, वही, पृ० 12–13
16 गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ० 14–16

उसकी भाषा व पहिचान मे एकरूपता मिलेगी। यहा की भौमिक स्थिति ने सास्कृतिक ऐक्य और विशिष्टता को अनुप्राणित किया है इसमे कोई सन्देह नही।

मरुस्थल को छोड शेष राजस्थान की जलवायु प्राय सुहावनी है। ऐसी जलवायु ने लोगो के रहन-सहन व व्यवहार को सरल और निश्छल बनाया। जीवन की आवश्यकताएँ कम होने से होड और छल-कपट का दश इनके दैनिक जीवन मे नही आया। इसी जलवायु के कारण ढीले-ढाले और कम वस्त्र जीवनयापन के लिए पर्याप्त थे और साथ ही खुले घर, जिन पर घास-फूस की छप्पर ही रहने के लिए अनुकूल पडते थे, खुली हवा और खुले आकाश मे रहने से यहाँ के निवासियो मे बौद्धिक विकास, विचारशीलता और आत्म-विश्वास को सहज मे बढावा मिलता रहा। धन-धान्य की कमी ने यहाँ के लोगो को परिश्रमी और अध्यवसायी बनाने मे सहयोग दिया एवं ऐश्वर्य की कमी ने उन्हे चरित्रवान बनाया।

भारतीय एव राजस्थानी सस्कृति की मौलिक एकता

भारतीय सभ्यता मे एक अविच्छिन्नता इस प्रकार दृढ और सक्रिय है कि हमे ये विशेषताएँ अन्यत्र नहीं दिखाई देती। यही कारण है कि अनेकानेक आक्रमणो के निरन्तर प्रवाह ने यहाँ के दार्शनिक विचारो तथा सामाजिक जीवन के विविध पहलुओ मे अस्थिरता नही पैदा होने दी। जीवन के चार उद्देश्यो—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की गरिमा और उनकी व्यवस्था सतत रूप से यहाँ के निवासियो का प्रेरणा का स्रोत बना रहा। राजस्थान की सस्कृति का भी मूल स्वरूप अविच्छिन्नता है। प्राचीन काल से 18वी शताब्दी तक लगातार यहाँ आक्रमण होते रहे तथा राज्यो की सीमा मे उथल-पुथल होती रही, परन्तु भारतीय परम्परा के अनुरूप यहाँ के निवासियो ने उन्हे सहा और उनका डटकर मुकाबला भी किया। उन्होंने जीवन के चार उद्देश्यो की भावना का सर्वदा सम्मान किया। अनेकानेक आक्रमणो की भयावह स्थिति मे समाज के प्रत्येक तबके ने पूर्ण सन्तुलन के साथ कर्त्तव्य-पालन का परिचय दिया। बडे आश्चर्य की बात है कि ज्यो-ज्यों राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनो की रफ्तार तेज होती गई लोगो ने निष्ठा और कर्त्तव्य-परायणता मे अधिक से अधिक दृढ़ता दिखाई। कई ऐसे अवसर आये जब एक परिवार मे एक साथ अनेक वीरो ने देश के लिए अपने जीवन की आहुति दे डाली, परन्तु उन्होने कभी अपनी सस्कृति या परम्परा को आघात नही पहुँचने दिया।

भारतवर्ष की सस्कृति की दूसरी विशेषता साहित्य और कला की उत्कृष्टता है। यहाँ की कला मे व्यक्ति विशेष का कोई स्थान नही। कला मे आध्यात्मिक, सामाजिक तथा काल्पनिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। भारतीय ज्ञान, दर्शन तथा साहित्य की झाँकी स्पष्ट रूप से कलाकृतियो मे देखी जाती है। कई जटिल आध्यात्मिक विचार सरलता मे मूर्ति के स्वरूप, लक्षण और सौन्दर्य से अनुभूत किये

जा सकते हैं। साधना एव पूजा का माध्यम कला को सस्थापित कर भारतीय दार्शनिको ने इहलोक और परलोक की खाई को पाट सी दी है।

राजस्थान मे भी कला की अभिव्यक्ति भारतीय दर्शन और साहित्य से पूर्ण मेल खाती है। आबू के मन्दिरो या रणकपुर, वाडोली, जगत अथवा ओसिया के देवालयो की देव, पुष्प या नारी मूर्तियो मे हम वही गौरव, सौरभ तथा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति देखते हैं जो हमे देवगढ, खजुराहो तथा भीतरगाव आदि मन्दिरो की मूर्तियो मे दिखती है। यहा के मन्दिरो के गर्भगृहो, अन्तरालो, मण्डपो, शिखरो का नियोजन उसी प्रकार का है जो भारतीय मन्दिरो मे मिलता है। जिस प्रकार भारतीय कला ने अध्यात्म और धर्म के प्रसार मे योग दिया राजस्थान के शिल्प ने भी भारतीय दर्शन के गूढतम रहस्यो को और धर्म के लक्षणो को समझने मे बडी सहायता की।

भारतीय सस्कृति मे सहिष्णुता और उदारता का दृष्टिकोण एक विशिष्ट गुण है। यहाँ आने वाली विविध जातियाँ इस प्रकार यहाँ की परम्परा और जीवन मूल्यो के साथ जुड गई कि उनका स्वरूप भारतीय ही हो गया। आज यह कहना कठिन है कि कौन हम मे से यूनानी अथवा कुशाण या हूण की सन्तान है जो यहाँ बाहर से आये। जितनी विदेशी जातिया आई वे सभी भारतीय समाज की अग बन गई। उन्होने यहाँ के जीवन और दर्शन के सिद्धान्तो को इस प्रकार अपना लिया कि उनका विदेशी अस्तित्व समाप्त प्राय हो गया। राजस्थान मे भी हूण आये, बडी सख्या मे आये। परन्तु थोडे समय मे ही उनका विलीनीकरण स्थानीय युद्ध-प्रिय जातियो मे इस प्रकार हो गया कि उनका पृथक् रूप स पहचाना जाना सम्भव ही नही। विविध वर्णो मे भी हेर-फेर हुआ। वैश्य परिवार आज भी अपने को राजपूतो से उत्पन्न मानते है। कई राजपूत परिवारो ने अन्य वर्णों के सदस्यो को अपना लिया। ये आदान-प्रदान का क्रम भारतीय उदारता का लक्षण है। यहाँ तक कि कई तुर्क और मुगल सैनिक परिवार यहा जम गये और यहा के स्थानीय शासको ने उन्हे उच्च राजकीय पद देकर सम्मानित किया, उनमे और स्थानीय अधिकारियो मे कोई भेद नही रखा गया। गावो मे तो आज भी हिन्दू तथा मुस्लिम परिवारो मे घरेलू सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण बने हुए है। यदि मानववादी मानदण्ड से राजस्थान की सामाजिक स्थिति को आका जाय तो यहा सभ्यता की उदारता व्यापक रूप मे मिलेगी।

यहा के शासको ने कभी भी इन धार्मियो को अपने राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति मे बाधक नही माना, वरन अपने अभ्युदय के लिए उन्हे साधक माना। यहा तक कि सवत्प्रियता की कई मान्यताओ, निवासो और युद्ध-शासन को अपनाकर उनका [illegible] किया। [illegible] की [illegible] मे उनके बाहुल्य को सम्मानपूर्वक

स्वीकार किया गया है। समूचा राजस्थान मौलिक सस्कृति की धारा मे अवगाहन करता रहा है और आज भी इसकी प्रगति संतोपजनक है। यह स्थिति यहाँ की मौलिक एकता का अच्छा उदाहरण है।

यह सत्य है कि राजस्थान मे कही पहाड हैं तो कही मैदान या घाटियाँ। साथ ही इसका एक वहुत वडा भूभाग मरुस्थल से घिरा हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से इसमे विभिन्नता लगती है परन्तु चरित्र, व्यवहार एव परम्परा मे निष्ठा की दृष्टि से यहाँ के निवासियो मे ऐक्य वना हुआ हैं। ऊपरी विभिन्नता आधारभूत एकता मे वाधक सिद्ध नही हुई है। ऐतिहासिक एकता और सास्कृतिक सभ्यता की कडी इतनी मजवूत है कि इस प्रदेश के जीवन मे सहानुभूति के तत्त्व विद्यमान हैं।

राजस्थान ने समय-समय पर आने वाले विदेशियो को अपने मे आत्मसात् किया जिससे उनकी सभ्यता का यहाँ सम्मिश्रण होता गया। एक दृष्टि से इस सामाजिक समन्वय की प्रक्रिया ने सास्कृतिक आदान-प्रदान की धारा को सतत प्रवाहित रख उसे शुद्ध वनाये रखने मे वडा योग दिया। जिस प्रकार भारतवर्ष नदियो, पहाडो, तीर्थ-स्थानो आदि सम्पदा से पवित्र रहा है, राजस्थान भी इन प्राकृतिक विभूतियो मे अपने देश का प्रतिनिधित्व करता रहा है। यहाँ पुष्कर जैसा पवित्र तीर्थ-स्थान स्थानीय न होकर सम्पूर्ण देश का है। ऋषभदेव, नाथद्वारा आदि पवित्र तीर्थ भी भारतीय तीर्थ स्थान हैं। आवू का पर्वत पौराणिक काल से तपस्वियो और ऋषियो को आवास प्रस्तुत करता है। यहाँ के वन और पर्वत श्रेणियाँ कोयले और लोहे से लेकर चाँदी तथा वहुमूल्य धातु व रत्नो के भण्डारो से भारतीय वसुन्धरा की समृद्धि की वृद्धि करती रही हैं। यहाँ का मरुस्थल सहस्रो गाँवो का भरण-पोषण कर भारतीय पशु सम्पदा का कीर्तिमान स्थापित करने मे पीछे नही रहा। इस प्रकार भारतीय सस्कृति के स्वरूप की छाप राजस्थान की सस्कृति पर प्रत्यक्ष है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि जितना राजस्थान की प्राकृतिक स्थिति और यहाँ के जन-जीवन और सास्कृतिक अभिव्यक्ति का घनिष्ठ सम्वन्ध रहा है, उतना अन्यत्र नही दिखाई देता। यहाँ के जीवन की विविधता तथा विपमता भी एक रहस्य मय स्थिति है। आर्थिक दारिद्र्य ने कई व्यक्तियो को धनोपार्जन के लिए प्रवास गमन के लिए वाध्य किया। साथ ही साथ कई समृद्ध परिवारो ने वाहर से आकर सम्पत्ति की रक्षा तथा सद्मार्ग मे व्यय करने की भावना से प्रेरित होकर यहाँ की प्रकृति के अचल मे वसना स्वीकार किया। यहाँ की शुष्क जलवायु ने लोगो को कठोर जीवन-यापन तथा साहसी प्रवृत्तियो मे लगे रहने मे अभ्यस्त कर दिया। प्रकृति की विभा ने लावण्यमय गीतो मे सरसता, परिधानो मे चटक, आमोद-प्रमोद में विभोरता और त्यौहारो मे उल्लास का सचार किया जो सस्कृति के आनन्दमय तत्त्व हैं। इसी प्रकृति की गोद मे अनेक तीर्थ सस्कृति के केन्द्र वने और यहाँ की

राजस्थान में खनिज
बीकानेर
नागौर
सीकर
जैसलमेर
जोधपुर
जयपुर
भरतपुर
टोंक
पाली
सवाई माधोपुर
सिरोही
उदयपुर
डूंगरपुर
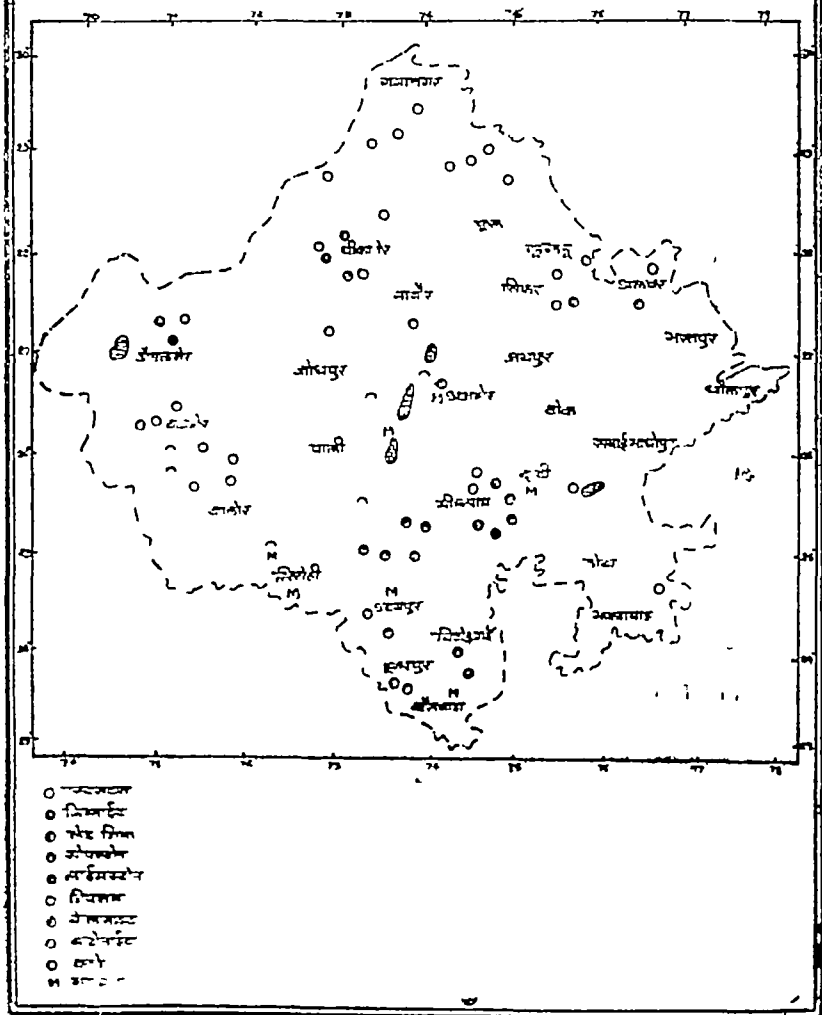
अनेक नदियाँ, घाटियाँ, पर्वत श्रेणियाँ, बीहड जगल आदि कला के पोषक। वीरता, शौर्य, पराक्रम, त्याग, बलिदान आदि जो सस्कृति के देदीप्यमान स्तम्भ हैं, यहाँ की धरती के कण-कण मे बिखरे पड़े हैं। महाराणा कुम्भा, सांगा, प्रताप, महाराज जसवन्तसिंह तथा सवाई जयसिंह की रक्तरजित गौरव गाथाएँ भारतीय इतिहास की अमर कहानियाँ है। आज भी इतिहास, सस्कृति और परम्पराओ की दृष्टि से राजस्थान की गणना भारत के बहुविश्रुत प्रान्तो मे अग्रणी है। यहाँ का जन-जीवन भी आचार, आचरण और विचार के क्षेत्र मे उसी तरह उन्नत है, जिस प्रकार आबू का गिरि शिखर।

प्रागैतिहासिक राजस्थान और संस्कृति का प्रारूप

राजस्थान की प्राकृतिक स्थिति ने, जिसमे पर्वतमाला, पठार, नदियां, मैदान तथा मरुस्थल की विभिन्नता सम्मिलित है, यहां के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण मे अभूतपूर्व भूमिका निभाई है। इसी के अंचल मे प्रागैतिहासिक-काल से वर्तमान-काल तक पनपने वाली युग-युगान्तर की सस्कृति की परतें स्थापित हुई। इन विभिन्न युगीय सस्कृति के निरूपण के सम्बन्ध मे राजस्थान के भौगोलिक ढांचे के निर्माण का परिचय अपेक्षित है जो इसकी आधारशिला है।

राजस्थान की पर्वत श्रेणियो का मूल अरावली पहाड है जो हिमाचल की एक पुनर्विकसित शाखा है। यही पर्वत तथा उसकी प्रशाखाएं यहां बहने वाली नदियो का स्रोत है और उनके वहने के मार्ग को निर्धारित करती रही हैं। इनसे निकलने वाली नदियाँ अपने साथ जो मिट्टी-बालू बहाकर लाती रही, उससे नीचे धँस गई धरती के वडे भाग भरते गये और वे मैदान में वदल गये। पहाडों के तलीय स्थलों एव नदियो के पार्श्ववर्ती चट्टानों और शिलाओं के गर्भ में लोहा, तांवा, मैंगनीज, सीसा, चाँदी, राँगा, नीलम, पन्ना, पुखराज, तांवडा, स्फटिक, मरकत आदि बहुमूल्य खनिजो के भण्डारो की रचना रसायन द्रव्यों की प्रक्रियाओ के द्वारा होती रही जो आज भी राजस्थान की वहुत वडी निधि वनी हुई है।[1]

कभी हिमालय और विन्ध्य मेखलाओं के वीच सिकुडन पडने से तथा वडी खाई के वन जाने से समुद्र का पानी भीतर घुस आया था, वह पुन एक लम्वे अरसे के वाद पहाडों का तक्षण करने वाले धक्के से पश्चिम की ओर हटा और उसकी तलहटी उभर आई। पश्चिमी मरुस्थल उस प्रक्रिया तथा समुद्री तली का स्मारक है। यहां के मिलने वाले सीप, शख, जीवाश्म तथा साभर, डीडवाणा, पचभद्रा, लूणकरणसर, आदि के नमकवे के आकार राजस्थान मे फैले हुए समुद्रीय स्थिति के प्रमाण हैं। इन सम्पूर्ण स्थिति की अवधि करोडो वर्षो पूर्व आंकी जाती है और जिसे अजीव कल्प की सज्ञा मे लिया जाता है।[2]

---

1 राजस्थान स्. द. गजेज, पृ॰ 6।
2 टामसन और गेडीज, आउटलाइन्स ऑफ जनरल वायोलॉजी, भा॰ 2, पृ॰ 1164।

तदनन्तर जीवन सम्भव कल्प एव "जीव कल्प" आते हैं जो आज से 16 से 30 करोड वर्ष पूर्व के है। कल्पों के इन जीवाश्म सघ के असंख्य नमूने जैसलमेर के निकट कई स्थानो से उपलब्ध हुए हैं। कडियाल, काला डूंगर, चैनपुरा आदि से पेड-पौधो एव जीव-जन्तुओ के जीवाश्म मिलते हैं। आज भी आकल मे तो आठ वडे-वडे पेड जीवाश्मो के रूप मे सुरक्षित देखे जा सकते हैं।[3]

इसी तरह अरावली की उपत्यकाओ तथा दक्षिण पूर्वी राजस्थान एव माही की दूनो मे मानव के अनेक अवशेष पाए गए हैं जो आज से लाखेक वर्ष पहले तक की परतो से सम्बन्धित है। इनके अध्ययन से प्रकट होता है कि मानुष प्राणी का क्रमश कैसे विकास होता रहा। आज से पचास हजार वर्प पहले के भी ककाल मिलते हैं जो प्राय आज के से मनुष्यो व पशुओ से अधिक भिन्न नही है। इनके शारीरिक ढाँचो के घटाव, वढाव, तनाव, सिकुडन आदि से इनके जीवन-क्रम व इनकी जाति-विधि का भी अनुमान होता है।[4]

इस भूरचना के दीर्घकालीन क्रम मे राजस्थान का मानुष आने वाली सास्कृतिक इतिहास का प्रथम सूत्रधार वना और परिस्थितियो के अनुकूल प्राकृतिक साधनों और उपकरणो को जुटाता रहा। यही से हमारे सास्कृतिक जीवन की प्रथम कड़ी का धु घला प्रारूप आरम्भ होता है।

प्राचीन प्रस्तर युग की संस्कृति

राजस्थान मे मानव कोटि के जीवधारियो का कव से प्रादुर्भाव हुआ अथवा उनके क्या क्रिया-कलाप थे इसमे सम्वन्धित सम-सामयिक लिखित इतिहास उपलब्ध नही है। परन्तु आज से लगभग दो लाख वर्ष से पचास हजार वर्ष पुराने ककाल, अस्थि-पंजर तथा लकडी, हड्डी व पत्थर के वने हथियार और उपकरणो की खोज से अनुमानित है कि यहाँ एक मानव सस्कृति का अस्तित्व था। मानव कोटि के इन प्राणियो ने सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम किया वह था लकडी, हड्डियो और पत्थरो के अस्त्र-शस्त्र वनाना। चूकि लकडी तथा हड्डियो के हथियार अस्थाई होने से कम मात्रा मे मिले हैं और पत्थर के अधिक इसलिए इस युग का नामकरण प्राचीन प्रस्तर युग से किया गया है।

सस्कृतिक प्रगति के इस उषाकाल मे इस काल का मानव आवश्यकता की पूर्ति के लिए जगली जानवरो का शिकार करता था अथवा जगलो से कद-मूल एकत्रित कर अपना पेट भरता था। शिकार के लिए वह कई आकार और प्रकार के

---

3. डॉ० डी० के० व्यास, जैसलमेर—जीवाश्म का अतुलनीय भण्डार राजस्थान पत्रिका, अगस्त, 1982, पृ० 4।
4 जयचन्द्र विद्यालकार, भारतीय इतिहास का उन्मूलन, पृ० 23-25।

उपकरण बनाने लगा, जिनमे तीन विशेष उल्लेखनीय हैं—हैन्डएक्स[5] क्लीवर[6] तथा चॉपर[7]। विशेषत ग्रे पत्थर के होते थे जो कम सफाई वाले व भद्दे होते थे। इन अस्त्र-शस्त्रो मे छेद भी पाये जाते हैं।

मुख्यत शिकार पर जीवन बिताने के कारण इस काल का मनुष्य कही स्थिर रूप से नही रहा। वह टोलियो मे शिकार अथवा भोजन की तलाश में घूमता था। कभी-कभी प्रबल टोलियो से भी इसकी मुठभेड होती थी तो एक जगली भाग से दूसरे जगली भाग मे उसे प्रयाण भी करना होता था। हिंसक पशुओ तथा ठडक, गर्मी और वर्षा से बचने के लिए वह घास-फूस की कुटिया मे अथवा वृक्ष या पर्वत की कन्दरा मे रह लेता था। ऐसी प्राकृतिक गुफाए व शिलाकुटीर विराट नगर के निकट पाये गये हैं। खोज के आधार पर यह कहा जाता है कि प्रारम्भिक पाषाण-कालीन मानव चित्रकला से परिचित था। भरतपुर जिले के 'दर" नामक स्थान मे कुछ शिला कुटीरो मे व्याघ्र, बारासिघा तथा कुछ मानव आकृतियां पाई गई हैं जो अनुमानत पूर्व पाषाण युग के अन्तिम चरण से नवीन पाषाण युग की हैं।[8]

राजस्थान मे प्राचीन प्रस्तर-युग के अवशेष अजमेर, अलवर, चित्तौडगढ, भीलवाडा, जयपुर, जालौर, पाली, टोक आदि क्षेत्रो की नदियो तथा उनकी सहायक नदियो के किनारे प्राप्त हुए हैं। चम्बल, बनास और उनकी सहायक नदियो के कूल इनमे प्रमुख हैं। चित्तौड और उसके पूर्व की ओर तो औजारो की उपलब्धि उतनी अधिक है कि ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह क्षेत्र इन उपकरणो को बनाने का केन्द्र भी रहा हो। लूनी नदी की उपत्यका मे भी प्रारम्भिक कालीन उपकरण प्राप्त हुए हैं।[9] यदि इन उपकरणो की तुलना भारतीय या पृथ्वी के अन्य प्राचीन स्थानो से प्राप्त उपकरणो से की जाय तो यह प्रमाणित होता है कि उस युग की आवश्यकता विकास क्रम तथा प्राकृतिक वातावरण मे सभी स्थानो मे प्राय समानता थी और मानव सस्कृति एक ही ढग से उन्नति कर रही थी।

राजस्थान मे प्राचीन प्रस्तर युग के मानव मे मौलिक सस्कृति के आधार अवश्य परिलक्षित होते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि उसने शिकार करने अथवा कद-मूल बटोरने में अपनी बुद्धि का प्रयोग किया। अपनी सुरक्षा के लिए उसके द्वारा

---

5 हैन्डएक्स अथवा हथकुल्हाडा—ये एक ओर गोल तथा मोटा और दूसरी ओर नुकीला होता है, जिसे कंद-मूल खोदने, शिकार को काटने, पत्थर से मास कुरेदने मे काम आता था। इसकी लबाई 10 सें मी से 20 सें मी तक होती है।

6 क्लीवर भी कुल्हाड़े के आकार का तेज औजार होता है।

7 चॉपर एक भारी औजार है जिसकी एक ओर धारदार होती है और दूसरी ओर गोल व मोटा होता है।

8 पाषाण कालीन राजस्थान (विजयकुमार) पाण्डुलिपि, पृ० 4-5।

9 दी हिस्ट्री ऑफ ग्रेट इन्डियन डेजर्ट, 1978, लदन।

शिला-कुटीरो का उपयोग इस वात का द्योतक है कि बुद्धि के साथ उसमे विवेक के वीज भी अकुरित हो गये थे। कौन से पशुओ का शिकार करना, कौन से कद-मूल का सेवन करना, एक स्थान से दूसरे स्थान क्यो और कैसे जाना ये सभी प्रक्रियाएँ उसमें बुद्धि वल के प्रमाण हैं। इनका टोलिया वनाकर रहना भी इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि इनमे एक प्रकार के सगठन वनाने की क्षमता उत्पन्न हो गई थी। पुरातन प्रस्तर युग के मानव शिला कुटीरों मे चित्र वनाकर अपने मनोभावो की अभिव्यक्ति करते थे जो इनका कला से परिचय होने का वोध कराता है। ये सभी प्रगतियाँ कम से कम इस वात के प्रमाण हैं कि राजस्थान के पूर्व प्रस्तर युग के मानव आर्थिक व सामाजिक तथा तकनीकी जीवन के प्रारूप के निर्माता थे।

नवीन पाषाण युग

राजस्थान मे मानव-विकास की दूसरी सीढी का क्रम मध्य पाषाण एव नवीन पाषाण युग है। आज से लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व से 90 हजार वर्ष पूर्व सतत रूप से इस युग की सस्कृति विकास मयी रही। शताब्दियो के अनुभव के वाद पत्थर के औजार परिष्कृत उन्नत ओपदार, तीखे, धारदार व आकार मे छोटे वनने लगे। इनमे छेददार काठ का हत्था भी लगाया जाने लगा। ये औजार अर्ध-चन्द्राकार, त्रिभुजाकार व अन्य ज्यामिति के आकारो के अनुरूप होते थे। इन उपकरणो मे स्क्रेपर तथा पाइन्टर विशेष उल्लेखनीय हैं। पहले ये स्क्रेपर तीन से मी से 10 से.मी. और पीछे उत्तरकाल में ये 1 से.मी. से 4 से.मी. तक वनने गे। ये खाल या मास मज्जा निकालने मे काम आते थे। पाइन्टर तीखा नुकीला अन्त्र होता था जो शिकार मे काम आता था।[10]

इन उपकरणो की उपलब्धि पश्चिमी राजस्थान मे लूनी तथा उसकी सहायक नदियो की घाटियों व दक्षिणी पूर्वी राजस्थान मे चित्तौड जिले मे वेडच व वागन व कदमाली नदियों की घाटियो मे प्रचुर मात्रा मे हुई हैं। मेवाड मे वागोर[11], मारवाड मे तिलवाड़ा के उत्खनन से नवीन पाषाण कालीन तकनीकी उन्नति पर अच्छा, प्रकाश पड़ा है। वैसे ऐसे उपकरण अजमेर, नागौर, सीकर, झुन्झुनू जयपुर, कोटा, टोक आदि स्थान से भी प्राप्त हुए है।[12]

इस युग के मानव का विकास केवल शिकार के उपकरणो तक ही सीमित नहीं रहा। उसका विस्तार कृषि सम्बन्धी औजारो मे देखा गया है। अब नवीन प्रस्तर युग का मानव पशु-पालन और कृषि कार्य की ओर भी अग्रसर हो गया था।

---

10. बुलेटिन ऑफ दी इ डियन फीजीक्स, भाग 6, नवम्बर 4, 1975, पृ० 124, 125।
11. वही, पृ० 125।
12 एक्सवेशन एट वेराद् न० 5693 (महानी), पृ० 2।

शिकार किये जाने वाले जानवरों में उसे घरेलू उपयोग के पशु भी मिलने लगे। उसने कुत्ता, गाय आदि को अपने नवीन कार्य में सहायक समझ उन्हें पालना शुरू किया। कन्दराओं तथा शिला कुटीरों से वह अब नीचे समतल भूमि में उतर आया। खेती करने लगा। छप्पर व मकान बनाकर उसने समूह में भी रहना सीखा। पहिले हाथ से और आगे चलकर चाक से विविध आकृति के बरतन बनाना वह जान गया। मृत आत्मा के प्रति श्रद्धा भी इस युग के मानव में उत्पन्न हुई। वह शिलाओं की आड में या बड़े भाण्ड में कुछ उपकरणों के साथ शव को गाड दिया करता था। इसी धार्मिक भावना के साथ जादू-टोना अथवा अन्ध-विश्वास के प्रादुर्भाव की भी परिकल्पना असंगत प्रतीत नहीं होती। ऐसी कल्पना के पीछे तर्क यह है कि भारतवर्ष तथा अन्य देशों में, जैसे यूरोप, अफ्रीका आदि, में भी इसी युग का मानव इसी प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति रखता था। राजस्थान में भी उत्खनन की गति में यदि तीव्रता लाई जाय तो सम्भवतः ऐसे मौलिक संस्कृति के रूपों पर विशेष प्रकाश पड सकता है।[13]

यह नूतन-प्रस्तर युग राजस्थान की संस्कृति के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व रखता है। कृषि, पशुपालन, बुनाई तथा बस्ती बसाकर रहने की आदत ने संस्कृति के पथ को स्थिरता प्रदान की। यहीं से तकनीकी ज्ञान और ग्राम एवं नगर योजना के अंकुर बोये गये। यहीं से स्थिर रूप से बसने और सामूहिक जीवन यापन करने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी। गावों और समाज में संगठन की भावना का विद्यमान होना भी इस युग की एक नवीनता थी। श्रम-विभाजन का प्रयोग भी यहाँ अवश्य चालू हो गया होगा, जब अब पुरुष केवल शिकारी ही नहीं रहा वरन् एक कृषक और पशुपालक भी। अनेक गतिविधियों में स्त्री-पुरुष का सह-जीवन श्रम-विभाजन का पहला सोपान था।

धार्मिक प्रवृत्ति की दिशा में इस युग के मानव को प्रकृति से तथा कृषि जीवन से अधिक प्रेरणा मिली। प्राकृतिक वातावरण और न्यूनाधिक उपज ने उसे अर्चना, प्रार्थना भय निवारण के उपायों की ओर आकर्षित किया। किसी एक शक्ति और समय-समय पर जादू-टोना अथवा अंधविश्वास की ओर भी उसकी निष्ठा जाग्रत होने लगी क्योंकि कौटुम्बिक जीवन और व्यवसाय की अभिवृद्धि ने उसे "बलि" तथा आस्था की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रकार यह युग भारतवर्ष की भाँति राजस्थान के सांस्कृतिक पक्ष के अध्ययन के लिए बड़ा उपादेय है। इस युग का मानव पूर्व पाषाण युग के मानव से सभ्यता व संस्कृति के क्षेत्र में बहुत अधिक आगे बढ गया था।

---

13 पाषाण कालीन राजस्थान (विजयकुमार), पृ० 5-6, मेन एण्ड एनवायरमेन्ट, 1980

राजस्थान में धातु युग का प्रारम्भ

नूतन प्रस्तर युग मे कई हजार बरस तक उक्त प्रकार का जीवन बिताते हुए मनुष्य धीरे-धीरे धातुओ को जान गये। आज से लगभग 6000 वर्ष पहले धातुओ के युग को स्थापित किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नूतन पाषाण युग का मानव आग का उपयोग भोजन बनाने, मिट्टी के बर्तन पकाने तथा पत्थर की बनी भट्टियो को तपाने मे करने लगा तो उसने पत्थर मे मिले हुए धातुओ को पिघलते देखा। इससे वह अनुमान लगा सका कि पिघला हुआ धातु पीट कर कई प्रकार के उपकरणो को अभीष्ट आकार मे लाया जा सकता है। सम्भवत. सोने का ज्ञान उसे सबसे पहले हुआ हो। परन्तु वह अधिक मात्रा मे नही मिलने से उसका उपयोग आभूषण तक ही सीमित रहा। परन्तु समयान्तर मे जब ताबा और पीतल, लोहा आदि का उसे ज्ञान हुआ तो उनका उपयोग औजार बनाने के लिए किया गया। इसी कारण नूतन प्रस्तर युग के बाद जब सबसे पहले ताबा मिला और पीछे अन्य धातु तो इस युग को ताम्र युग से जाना गया। धातु युग की सबसे बडी विशेषता यह रही कि कृषि और शिल्प आदि कार्यो का सम्पादन मानव के लिए अब अधिक सुगम हो गया और धातु से बने उपकरण से वह अपना कार्य अच्छी तरह से करने लगा। इस जानकारी ने कला कौशल मे प्रगति की और सामूहिक जीवन के अनेक पहलुओ मे नए मोड आये। आज से 6–7 हजार वर्ष पहले एशिया, उत्तरी अफ्रीका और यूरोप मे बहुत से कबीले भी पत्थर के बजाय तांबे या कांसे के हथियार बनाने लगे थे। भारत मे भी ताम्र-युग के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रदेशो मे बडे महत्त्व के हैं। उत्खनन के माध्यम से उसी ढग के अवशेष राजस्थान से भी उपलब्ध हुए हैं जिनके ध्वसावशेषो से तत्कालीन सस्कृति का पूरा परिचय मिलता है।

सरस्वती, दृषद्वती सभ्यता—कालीबंगा

प्रागैतिहासिक सस्कृति के यत्किचित् अवशेष उपकरणो के रूप मे यत्र-तत्र बिखरे मिले हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, पर ये सास्कृतिक पक्ष पर पूरा प्रकाश नही डालते। इसका विकसित तथा व्यवस्थित स्वरूप कालीबगा के उत्खनन की सामग्री से स्पष्ट होता है। यह स्थल गंगानगर के निकट सरस्वती-दृषद्वती नदियो के तट पर बसा हुआ था और 2,400–2,250 ई०पू० की राजस्थानी सस्कृति का प्रमाण है। यह भाग हरी-भरी वसुन्धरा की गोद मे इन दोनो नदियो से सिंचित होने से समृद्ध सस्कृति का केन्द्र बन गया। इसी को सरस्वती-दृषद्वती सभ्यता कहते हैं। उस युग मे ये नदियाँ जलप्लावित थी, क्योकि पूर्वी राजस्थान की कई नदियाँ, जैसे कनातली, दोहाना, कृष्णावती आदि उत्तर-पश्चिमी राजस्थान के कई भागो को सीचती हुई अपनी शाखा प्रशाखाओ से आकर इन दो बडी नदियो मे मिलती थी और उनके निकटवर्ती क्षेत्रो की सस्कृति के फलने-फूलने मे सहयोग देती थीं।[14]

14 बी. बी. लाल एण्ड थापर्स एक्सकेवेशन रिपोर्ट, अवगाहन, आर्कियोलोजिकल डिस्कवरी एट गणेश्वर, पृ० 29।

शिकार किये जाने वाले जानवरो मे उमे घरेलू उपयोग के पशु भी मिलने लगे। उसने कुत्ता, गाय आदि को अपने नवीन कार्य मे सहायक समझ उन्हे पालना शुरू किया। कन्दराओ तथा शिला कुटीरो से वह अब नीचे समतल भूमि मे उतर आया। खेती करने लगा। छप्पर व मकान बनाकर उसने समूह मे भी रहना सीखा। पहिले हाथ मे और आगे चलकर चाक से विविध आकृति के बरतन बनाना वह जान गया। मृत आत्मा के प्रति श्रद्धा भी इस युग के मानव मे उत्पन्न हुई। वह शिलाओ की आड में या बडे भाण्ड मे कुछ उपकरणो के साथ शव को गाड दिया करता था। इसी धार्मिक भावना के साथ जादू-टोना अथवा अन्ध-विश्वास के प्रादुर्भाव की भी परिकल्पना असगत प्रतीत नही होती। ऐसी कल्पना के पीछे तर्क यह है कि भारतवर्ष तथा अन्य देशो मे, जैसे यूरोप, अफ्रीका आदि, मे भी इसी युग का मानव इसी प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति रखता था। राजस्थान मे भी उत्खनन की गति मे यदि तीव्रता लाई जाय तो सभवत ऐसे मौलिक सस्कृति के रूपो पर विशेष प्रकाश पड सकता है।[13]

यह नूतन-प्रस्तर युग राजस्थान की सस्कृति के इतिहास मे बहुत अधिक महत्त्व रखता है। कृषि, पशुपालन, बुनाई तथा बस्ती बसाकर रहने की आदत ने सस्कृति के पथ को स्थिरता प्रदान की। यहीं से तकनीकी ज्ञान और ग्राम एव नगर योजना के अकुर बोये गये। यही से स्थिर रूप से बसने और सामूहिक जीवन यापन करने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी। गावो और समाज मे सगठन की भावना का विद्यमान होना भी इस युग की एक नवीनता थी। श्रम-विभाजन का प्रयोग भी यहाँ अवश्य चालू हो गया होगा, जब अब पुरुष केवल शिकारी ही नही रहा वरन् एक कृषक और पशुपालक भी। अनेक गतिविधियो मे स्त्री-पुरुष का सह-जीवन श्रम-विभाजन का पहला सोपान था।

धार्मिक प्रवृत्ति की दिशा मे इस युग के मानव को प्रकृति से तथा कृषि जीवन से अधिक प्रेरणा मिली। प्राकृतिक वातावरण और न्यूनाधिक उपज ने उसे अर्चना, प्रार्थना भय निवारण के उपायो की ओर आकर्षित किया। किसी एक शक्ति और समय-समय पर जादू-टोना अथवा अन्धविश्वास की ओर भी उसकी निष्ठा जाग्रत होने लगी क्योकि कौटुम्बिक जीवन और व्यवसाय की अभिवृद्धि ने उसे "बलि" तथा आस्था की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रकार यह युग भारतवर्ष की भाँति राजस्थान के सास्कृतिक पक्ष के अध्ययन के लिए बडा उपादेय है। इस युग का मानव पूर्व पाषाण युग के मानव से सभ्यता व सस्कृति के क्षेत्र मे बहुत अधिक आगे बढ गया था।

---

13 पाषाणकालीन राजस्थान (विजयकुमार), पृ० 5-6, मेन एण्ड एनवायरमेन्ट, 1980 पृ० 19-31।

राजस्थान में धातु युग का प्रारम्भ

नूतन प्रस्तर युग मे कई हजार वरस तक उक्त प्रकार का जीवन विताते हुए मनुष्य धीरे-धीरे धातुओ को जान गये। आज से लगभग 6000 वर्ष पहले धातुओ के युग को स्थापित किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नूतन पाषाण युग का मानव आग का उपयोग भोजन वनाने, मिट्टी के वर्तन पकाने तथा पत्थर की वनी भट्टियो को तपाने मे करने लगा तो उसने पत्थर मे मिले हुए धातुओ को पिघलते देखा। इससे वह अनुमान लगा सका कि पिघला हुआ धातु पीट कर कई प्रकार के उपकरणो को अभीष्ट आकार मे लाया जा सकता है। सम्भवत. सोने का ज्ञान उसे सवसे पहले हुआ हो। परन्तु वह अधिक मात्रा मे नही मिलने से उसका उपयोग आभूषण तक ही सीमित रहा। परन्तु समयान्तर मे जव तावा और पीतल, लोहा आदि का उसे ज्ञान हुआ तो उनका उपयोग औजार वनाने के लिए किया गया। इसी कारण नूतन प्रस्तर युग के वाद जव सवसे पहले तावा मिला और पीछे अन्य धातु तो इस युग को ताम्र युग मे जाना गया। धातु युग की सवसे वडी विशेपता यह रही कि कृषि और शिल्प आदि कार्यो का सम्पादन मानव के लिए अव अधिक सुगम हो गया और धातु से वने उपकरण से वह अपना कार्य अच्छी तरह से करने लगा। इस जानकारी ने कला कौशल मे प्रगति की और सामूहिक जीवन के अनेक पहलुओ में नए मोड़ आये। आज से 6–7 हजार वर्ष पहले एशिया, उत्तरी अफ्रीका और यूरोप मे वहुत से कवीले भी पत्थर के वजाय ताँवे या काँसे के हथियार वनाने लगे थे। भारत मे भी ताम्र-युग के अवशेप सिन्ध और विलोचिस्तान के प्रदेशो मे वडे महत्त्व के हैं। उत्खनन के माध्यम से उसी ढग के अवशेष राजस्थान मे भी उपलव्ध हुए है जिनके ध्वसावशेषो से तत्कालीन सस्कृति का पूरा परिचय मिलता है।

सरस्वती, दृषद्वती सभ्यता—कालीबंगा

प्रागैतिहासिक सस्कृति के यत्किंचित् अवशेष उपकरणो के रूप मे यत्र-तत्र विखरे मिले हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, पर ये सास्कृतिक पक्ष पर पूरा प्रकाश नही डालते। इसका विकसित तथा व्यवस्थित स्वरूप कालीवगा के उत्खनन की सामग्री से स्पष्ट होता है। यह स्थल गगानगर के निकट सरस्वती-दृषद्वती नदियो के तट पर वसा हुआ था और 2,400–2,250 ई०पू० की राजस्थानी सस्कृति का प्रमाण है। यह भाग हरी-भरी वसुन्धरा की गोद मे इन दोनो नदियो से सिंचित होने से समृद्ध सस्कृति का केन्द्र वन गया। इसी को सरस्वती-दृषद्वती सभ्यता कहते हैं। उस युग मे ये नदियाँ जलप्लावित थी, क्योकि पूर्वी राजस्थान की कई नदियाँ, जैसे कनातली, दोहाना, कृष्णावती आदि उत्तर-पश्चिमी राजस्थान के कई भागो को सींचती हुई अपनी शाखा प्रशाखाओं से आकर इन दो वडी नदियो मे मिलती थी और उनके निकटवर्ती क्षेत्रो की सस्कृति के फलने-फूलने मे सहयोग देती थी।[14]

---

14 वी. वी. लाल एण्ड थापरर्स एक्सकेवेशन रिपोर्ट; अवगाहन, आर्कियोलोजिकल डिस्कवरी एट गणेश्वर, पृ० 29।

नदी सभ्यता का
प्रागैतिहासिक राजस्थान
हिमावन्त
गंगा नदी
जमुना नदी
उतरा पथ
अवन्ति

राजस्थान की ताम्र युग सभ्यता मे सरस्वती-दृषद्वती के दोआब मे पल्लवित सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन है। इस क्षेत्र के सर्वेक्षण[15] से लगभग 100 छोटे-मोटे खण्ड व एक कालीवगा[16] स्थान का बडा टीला प्रकाश मे आया है। यह टीला, जिसमे पूर्व हड़प्पाकालीन वस्ती के भग्नावशेष थे, बडे महत्त्व का है। इस टीले मे मुख्य रूप से नगर योजना के तीन खण्ड व कुछ उत्खनन से प्राप्त सामग्री प्राप्त हुई है। इन तीनो खण्डो की बस्ती घग्घर[17] के तट पर स्थित कालीवगा नाम से विख्यात है। इन तीनों खण्डो मे एक किले का भाग है और दूसरे दो साधारण वस्ती के। तीनो खण्ड प्राचीरों से घिरे थे जो कच्ची ईटो से बने थे। ये मिट्टी की कच्ची ईटे 40/30 सेमी लम्बी, 20 सेमी चौड़ी व 10 सेमी. ऊँची है।

किले का भाग 240 मि उत्तर-दक्षिण और 120 मि पूर्व-पश्चिम मे विस्तारित था। इसके एक ओर 5–6 चबूतरे थे जिन पर चढने की सीढियाँ थी और वहाँ पहुँचने के लिए ईटो की जडाई वाला रास्ता था। सम्भवत. धार्मिक कृत्यो के लिए इसको उपयोग मे लाया जाता था। इसी तरह ऐसे ही कार्य के लिए वहाँ वेदियो का भी प्रावधान था। इसके एक दूसरे भाग मे समृद्ध समुदाय के मकान थे जो वैसे ही ईटो के बने थे जिनसे दुर्ग के प्राचीरो का निर्माण कराया गया था। मकान एक मंजिले होते थे जिनमे तीन-चार कमरे, आँगन तथा नालियाँ बनी हुई थी। दुर्गवाली वस्ती के दो प्रमुख द्वार थे।

इस नगर की दूसरी वस्ती नीचे की भूमि की ओर थी जिसकी लम्बाई 240 × 360 मि थी। यहाँ के मकान व प्राचीर उसी आकार-प्रकार की कच्ची ईटो से बने थे जो दुर्ग की वस्ती के थे। मकान 5–7 मकानो के समूह मे थे जिनको उत्तर-दक्षिण व पूर्व-पश्चिम जाने वाली सडको से जोडा गया था। इन सामूहिक मकानो मे गलियो, पोल व सकरे रास्ते से प्रत्येक कमरे या कमरो मे लाया जाता था। दो-चार परिवार के लिए भीतर कुए भी होते थे। कही-कही एक कमरा वेदी के लिए भी निर्धारित था। कई मकानो के बीच सहन भी होते थे या मकानो के बीच आंगन भी देखे गये हैं। इस वस्ती के भी दो प्रमुख द्वार थे। पानी के निकास के लिए लकड़ी व ईटो की नालियाँ बनी हुई थी जो सड़क मे बने गड्ढो तक पानी पहुँचाती थी।

इस क्षेत्र की उत्खनन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नगर प्राचीर के

---

15. आर्कियोलाजी सर्वे रिपोर्ट, 1950, 52, 53, 60, 61, 68, 69 आदि।
16. स्थानीय भाषा मे इसका नाम कालीवगा चूड़ियो के असंख्य टुकडो से पडा है। इसका प्राचीन नाम क्या था इसका कोई पता नही। कालीवगा गगानगर जिले में दिल्ली से उत्तर-पश्चिम की ओर 310 कि मी की दूरी पर है।
17. यह वही घग्घर है जो प्राचीन काल मे सरस्वती नदी के नाम से विख्यात थी।

बाहर जोती हुई कृषि भूमि है जो स्पष्ट रूप मे इसी क्षेत्र मे देखी गई है। यह कहना तो बड़ा कठिन है कि कौन से अन्नो का यहाँ उत्पादन होता था, परन्तु इतना अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि नदियो मे बाढ़ की सम्भावनाओं के कारण रबी की फसल गेहूँ व जौ यहाँ होते थे। कुछ अनाज इकट्ठा करने की खाइयाँ भी यहाँ के समृद्ध उत्पादन की पुष्टि करती है। ताम्र से बने कृषि के कई औजार भी यहाँ की आर्थिक उन्नति के लक्षण हैं।

इन दोनो बस्तियो से 80 मील आगे एक बस्ती खण्ड मिला है जिसमे सुदृढ प्राचीर मे एक कमरा मिला है जिसमे 4/5 अग्नि कुण्ड थे। योजना की दृष्टि से ये तीनो नगर खण्ड एक दूसरे से विलग भी थे और सम्बद्ध भी। इनकी नगर योजना सिन्धु घाटी के नगर योजना के अनुरूप दिखाई देती है।

उत्खनन से प्राप्त कई मटकियाँ, भाँड, कटोरे, थालियाँ, हत्थे वाले बरतन तथा इनके टुकडे मिले हैं जो हाथ से व चाक से बने थे। बर्तन भूरे व काले रग के हैं जिन पर गोल, अर्द्धचन्द्राकार तथा तिर्यक रेखायें बनी हुई हैं। कुछ ऐसे भाण्ड या उनके टुकडे मिले हैं जिन पर प्रकृति पर आधारित पेड, पौधे, पशु व पक्षी की आकृतियाँ चित्रित हैं।

चित्रों में ही इनका कला-कौशल सीमित नही था अपितु शृ गार के उपकरणो मे व आभूषणों के बनाने मे यहां के निवासियो का कला-प्रेम व सांस्कृतिक रुचि का बोध होता है। कासे के दर्पण, हाथी दाँत का कघा, सोने व मू गे तथा सीपो के आभूषण और ताँबे की पिनें इनकी उन्नत सभ्यता के प्रतीक हैं। इस युग की विकसित सभ्यता कई एक मुहरो से, जिन पर पशु और पुरुषो की आकृतियाँ बनी है, या गाय के मुख वाले प्याले तथा ताँबे का बैल आदि से सिद्ध है।

कालीबगा के निवासियो की मृतक के प्रति श्रद्धा तथा धार्मिक भावनाओ को व्यक्त करने वाली वहा तीन प्रकार की समाधिया मिली हैं। वे अपने शवों को अंडा-कार खण्ड मे सीधी उत्तर की ओर सर रख कर मृत्यु सम्बन्धी उपकरणो के साथ गाडते थे। दूसरी विधि मे शव की टागे समेट कर गाडा जाता था। तीसरी विधि मे शव के साथ बरतन और एक-एक सोने व मणि के दाने की माला से विभूषित कर गाटने की प्रथा थी। यहा के समाधि देवता सिन्धु सभ्यता के अनुरूप थे।

परन्तु ज्यों-ज्यो इन नदियो का पानी सूखता गया और अन्य सहायक नदियो के बहाव के मार्ग दूसरी ओर मुडते गये और धीरे-धीरे वर्षा की कमी आती गई तो इस क्षेत्र का कृषि का व्यवसाय मदा पड गया। सूखे के कारण जगल नष्ट हो गये और बची खुची हरियाली चराई से कम होती चली गई। यहा तक कि मरुस्थल की गैनरी ने पीने के पानी मे कमी कर यहा की समृद्ध बस्ती को उजाड दिया।
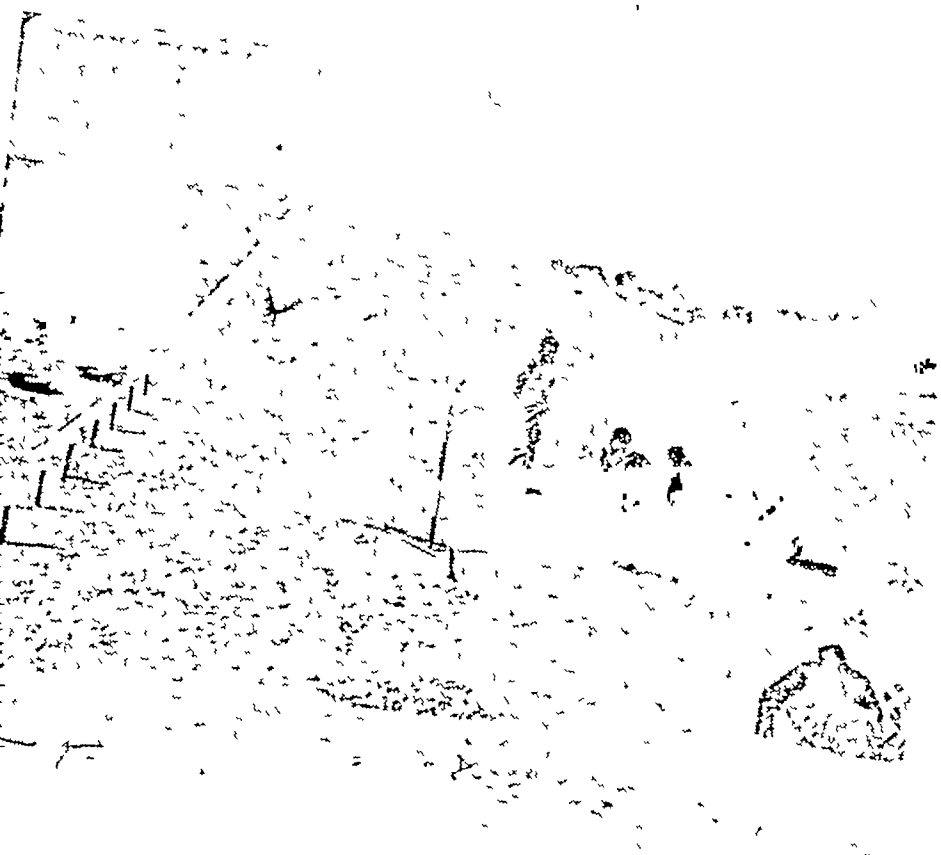
धूलकोट का दृश्य, आहड

बाहर जोती हुई कृषि भूमि है जो स्पष्ट रूप मे इसी क्षेत्र मे देखी गई है। यह कहना तो बडा कठिन है कि कौन से अन्नो का यहाँ उत्पादन होना था, परन्तु इतना अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि नदियो मे बाढ की सम्भावनाओ के कारण रवी की फसल गेहूँ व जौ यहाँ होते थे। कुछ अनाज इकट्ठा करने की खाइयाँ भी यहाँ के समृद्ध उत्पादन की पुष्टि करती है। ताम्र से बने कृषि के कई औजार भी वहाँ की आर्थिक उन्नति के लक्षण हैं।

इन दोनो बस्तियो से 80 मील आगे एक बस्ती खण्ड मिला है जिसमे सुदृढ प्राचीर मे एक कमरा मिला है जिसमे 4/5 अग्नि कुण्ड थे। योजना की दृष्टि से ये दोनो नगर खण्ड एक दूसरे से विलग भी थे और सम्बद्ध भी। इनकी नगर योजना सिन्धु घाटी के नगर योजना के अनुरूप दिखाई देती है।

उत्खनन से प्राप्त कई मटकियाँ, भाँड, कटोरे, थालियाँ, हत्थे वाले बरतन इनके टुकडे मिले हैं जो हाथ से व चाक से बने थे। बर्तन भूरे व काले रग के उन पर गोल, अर्द्धचन्द्राकार तथा तिर्यक रेखायें बनी हुई हैं। कुछ ऐसे भाण्ड या के टुकडे मिले है जिन पर प्रकृति पर आधारित पेड, पौधे, पशु व पक्षी की कृतियाँ चित्रित हैं।

चित्रो मे ही इनका कला-कौशल सीमित नही था अपितु शृंगार के उपकरणो आभूषणों के बनाने मे यहाँ के निवासियो का कला-प्रेम व सास्कृतिक रुचि का होता है। कासे के दर्पण, हाथी दाँत का कघा, सोने व मूगे तथा सीपो के ण और ताँबे की पिनें इनकी उन्नत सभ्यता के प्रतीक हैं। इस युग की विकसित ा कई एक मुहरो से, जिन पर पशु और पुरुषो की आकृतियाँ बनी है, या गाय वाले प्याले तथा ताँबे का बैल आदि से सिद्ध है।

कालीबगा के निवासियो की मृतक के प्रति श्रद्धा तथा धार्मिक भावनाओ को रने वाली वहा तीन प्रकार की समाधिया मिली हैं। वे अपने शवो को अडा-ण्ड मे सीधी उत्तर की ओर सर रख कर मृत्यु सम्बन्धी उपकरणो के साथ े। दूसरी विधि मे शव की टागे समेट कर गाडा जाता था। तीसरी विधि मे साथ बरतन और एक-एक सोने व मणि के दाने की माला से विभूषित कर ी प्रथा थी। यहा के समाधि देवता सिन्धु सभ्यता के अनुरूप थे।

परन्तु ज्यों-ज्यो इन नदियो का पानी सूखता गया और अन्य सहायक नदियो के मार्ग दूसरी ओर मुडते गये और धीरे-धीरे वर्षा की कमी आती गई तो का कृषि का व्यवसाय मदा पड गया। सूखे के कारण जगल नष्ट हो गये । सुची हरियाली चराई से कम होती चली गई। यहा तक कि मरुस्थल की न पीने के पानी मे कमी कर यहा की समृद्ध बस्ती को उजाड दिया।
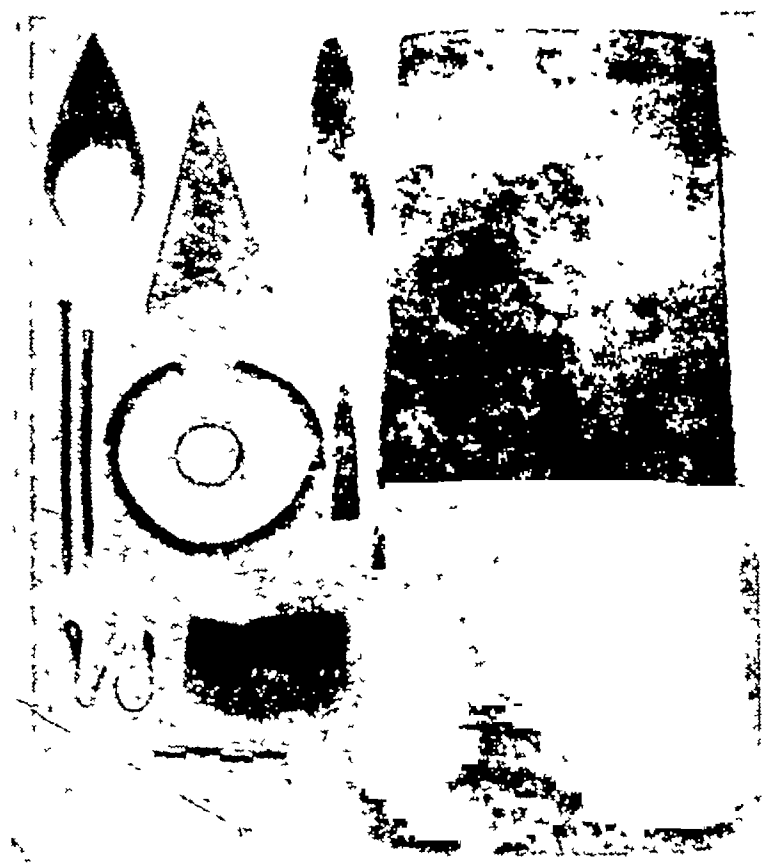
गणेश्वर उत्खनन से प्राप्त ताम्र उपकरण
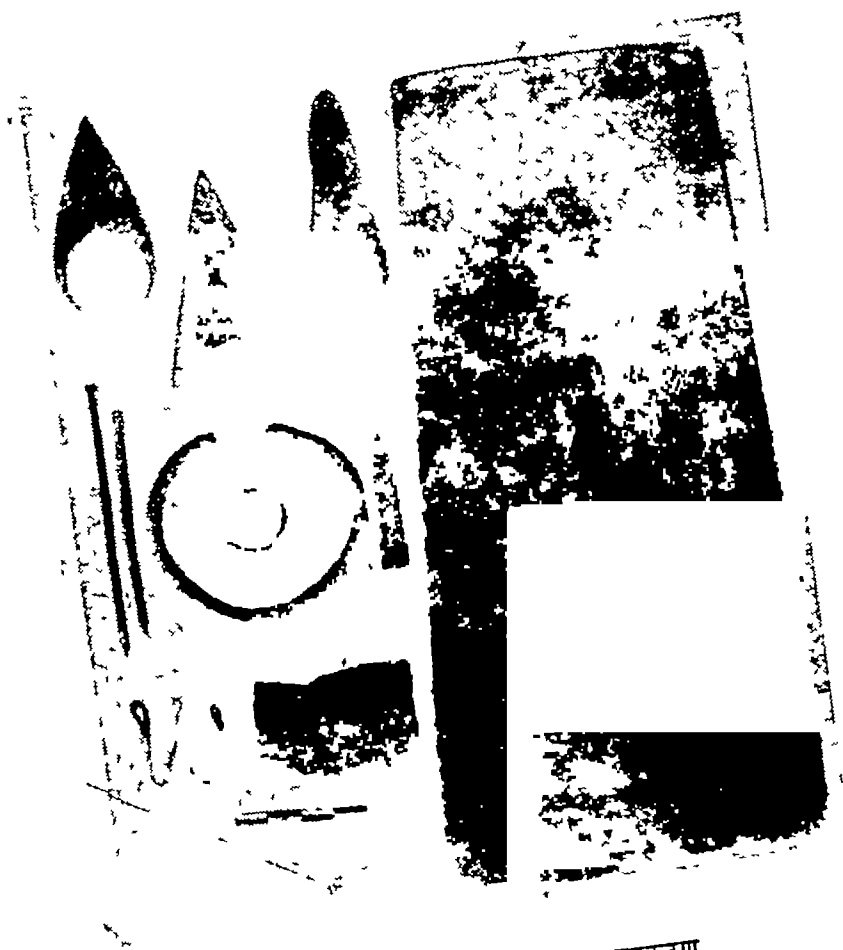
गणेश्वर उत्खनन से प्राप्त ताम्र उपकरण

आहड के उत्खनन मे प्राप्त ताम्र उपकरण

सम्भवत ये लोग अन्य राजस्थानीय या पजाब की बस्तियो की ओर चल पडे और अपने अनुभव से उन स्थानो की सभ्यता को समृद्ध बनाने मे लग गये ।[18]

बनास सभ्यता—आहड़

(1700 बी०सी०–18वीं सेन्चुरी)

सरस्वती-दृषद्वती सभ्यता की भाँति बनास सभ्यता अपनी प्राचीन सस्कृति के शोधो के लिए महत्त्वपूर्ण है । यहा की प्राकृतिक स्थिति और बनास, बेडच, आहड, गेरी आदि नदियो के कूल तथा खनिज द्रव्यो की प्रचुरता ने इसको सांस्कृतिक दृष्टि से सतत् उन्नतोमुखी बनाया । सम्भवत जिन आदिवासियो ने इस ओर प्रव्रजन किया वे प्राकृतिक सुविधा और सुरक्षा की व्यवस्था के कारण यहीं पर स्थाई रूप से बस गये । आगे चलकर पर्वत मालाओ तथा नदी धाराओ के बाहुल्य ने बाहर से आने वाले क्षत्रप, शक, मालव, हूण, गुर्जर आदि विदेशियो को भी इस भूभाग ने अपने अञ्चल मे बसाया और वे कालान्तर मे यहा के निवासी बन गये । खनिज धातुओ की समृद्धि ने उन्हें व्यवसाय दिया । मेवाड मे लगभग ताबा, जस्ता चादी, शीशा, गार्नेट, लोहा और विविध प्रकार के पत्थरो की लगभग 50 से अधिक खाने हैं जिन्हें प्राक् ऐतिहासिक काल से आज तक खूब खोदा गया और उनका उपयोग किया गया ।[19]

ताम्र युग की सभ्यता से सम्बन्धित उदयपुर के निकट आहड़ नाम की नदी के किनारे एक पुरानी ताम्रवती नगरी है जो धूलकोट के नाम से प्रसिद्ध है । इस धूल के ढेर मे प्राचीन बस्ती के अवशेष मिले हैं जो आज से 4000 वर्ष पूर्व बसी थी । विभिन्न उत्खनन के स्तरो से पता चलता है कि इस लम्बे समय मे 18वीं सदी तक यहा कई बार बस्ती बसी और उजड़ी । यहा पनपने वाली सभ्यता को आहड[20] सभ्यता भी कहते हैं, जिसका इतिहास अति प्राचीन और निरन्तर है । ऐसा लगता है कि आहड के आस-पास तावे की अनेक खानो[21] के होने से सतत् रूप से इस स्थान के निवासी इससे धातु के उपकरणो को बनाते रहे और उसे एक ताम्र युगीय कौशल केन्द्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । तावे की बनी यहा की कुल्हाडिया स्थानीय खानो से उपलब्ध धातु की ही बनी होगी यह सभावना है ।

यह धूलकोट का टीला एक ओर आहड़ नदी और दूसरी ओर एक नाले के

---

18. कालीबगा की सभ्यता का वर्णन का आधार निम्न मुद्रित सामग्री है—
कल्चर कट्टूर ऑफ इण्डिया, अभिनव पब्लिकेशन, 1981, पृ० 17-19. कालीबगा एण्ड इण्डस सिविलीजेशन, इंडियन प्रोटोहिस्ट पृ० 65-97
19. अर्ली म इनिंग बुलेटिन, दक्खन कालेज, भा०23, पृ०-31.
20. 10वीं सदी के आहड शिलालेख मे इसका नाम आघाटपुर मिलता है।
21. ये खानें देलवाडा, कारोली, दरोली, वल्लभनगर, देवली, अ गूचा आदि स्थानो मे है ।

किनारे है। इसकी लम्बाई 500 मीटर, चौडाई 275 मीटर एव ऊँचाई 12 8 मी० है। इसी मे आहड के अवशेष दबे पडे है। तीन बार उत्खनन के फलस्वरूप यहा कुछ परीक्षण परिखाएँ खोदी गईं और कई उपकरण तावे की कुल्हाडिया, तावे के फलक, लोहे के औजार, रिंगवेल, बास के टुकडे, हड्डियाँ, भाड, आदि सामग्री प्राप्त हुई। सबसे गहरी खाई 40 फी० तक खोदी गई जिसके आधार पर बस्ती के बनने व नष्ट होने की तालिका भी तैयार की गई। स्तरीकरण से अनुमानित है कि आठ बार यहा बस्ती बनी और उजडी। उजडी हुई बस्ती पर ही समतल भूमि कर और नई मिट्टी डालकर उत्तरोत्तर मानव यहाँ बसते गये। इस पूरे क्रम मे आज से चार हजार वर्ष से लगाकर अठारहवी शताब्दि तक का समय लगा।

धूलकोट की खुदाई द्वारा उन मकानो के सम्बन्ध मे भी कुछ जानकारी होती ह, जिनमे आहड-सभ्यता के निवासी रहते थे। इन मकानो के बनाने मे ककरेट से मिली मिट्टी तथा पास मे बहुतायत से मिलने वाले पत्थर व बास व पेडो की डालियो का प्रयोग किया जाता था। दीवारो को मिट्टी से पोत लिया जाता था और फर्श की अधिक मजबूती के लिए मिट्टी मे गोबर मिला लिया जाता था। ककर और मिट्टी को और बीच-बीच मे पत्थरो को चुनकर आधार व दीवारे बनाई जाती थी, जो टिकाऊ होती थी। सबसे बडा मकान जो यहा की खुदाई मे मिला है उसकी लम्बाई 33 फी० 10 इन्च थी जिसके विभाजन कर दो कमरे बना दिये गये।

अनुमानित है कि मकानो की योजना मे आँगन या गली या खुला स्थान रखने की व्यवस्था थी। एक मकान मे 4 से 6 बडे चूल्हो का होना आहड मे वृहत् परिवार या सामूहिक भोजन बनाने की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। चूल्हो के बीच निकला हुआ भाग भोजन सामग्री अथवा भाण्डो के रखने के स्थान को इगित करता है। चूल्हो की पुन मरम्मत होती थी जो विविध अगुलियो के निशानो से स्पष्ट है। यहाँ एक 4 × 3 फी० का चूल्हा देखने मे आया जिसके सम्बन्ध मे अनुमानित है कि इसका प्रयोग तावे को पिघलाने मे किया जाता हो। कुछ एक ऐसे कमरे भी देखने मे आये जिनमे नीचे व मोड वाली सिलें व पट्टे थे और जिनमे गावे गडे हुए भाण्ड थे। ऐसे उपकरणो वाले कमरे रसोई घर के काम मे आते थे। मकानो के विविध आयातो से तथा उनके आकार व प्रकारो मे वृद्धि होने के चिन्हो से प्रतीत होता है कि ज्यो-ज्यो आहड मे तांबे से औजारो को बनाने का व्यवसाय बढता गया कमरो की लबाई चौडाई भी बढती गई। इन कमरो की छतें बास व घास-फूस से ढकी जाती थी और बडे कमरो का विभाजन बांसो को सीधा गाढ कर तथा उन्हे मिट्टी से पोतकर किया जाता था। बडे कमरो मे बडी बल्ली के सहारा देने के लिए लकडी के खम्भो का भी प्रावधान वहा रहता था। प्राय मकानो की लम्बाई उत्तर दक्षिण तथा चौडाई पूर्व-पश्चिम रहती थी।

आहड मे उत्खनित बरतनो तथा उनके खण्डित टुकडो मे हमे उस युग मे मिट्टी

के बरतन बनाने की कला का अच्छा परिचय मिलता है। प्रारंभिक काल के बने बरतन सादे व गोल रेखा वाले मिले हैं। ज्यो-ज्यो समय निकलता गया इस कौशल की निपुणता बढती गई। चाक से बने बरतनो को भट्टे मे पकाया जाता था। उभरी हुई आवृत्तियाँ, छेद द्वारा अलकरण, फूल-पत्ती, पशु-पक्षी का चित्रण आदि इनकी विशेषताए थी। इन पर चमकदार पालिश कुम्हार के शिल्प की उत्कृष्टता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। बरतनो की विविधता मे कटोरे, कटोरियाँ, ढक्कन, प्याले तवे, तश्तरियाँ, परातें, कलश, मटके, मटकियाँ, रकाबियाँ, सुराहियाँ, धूपदान आदि है जिनके विधिवत् अध्ययन से सास्कृतिक उन्नति के स्तर नापे जा सकते हैं। कुछ ऐसे भी बरतन प्रकाश मे आये हैं जो समृद्ध परिवार के द्वारा काम मे लाये जाते थे। बरतनो की नक्काशी व रग के प्रयोग से उपकरण उन्नत तकनीकी कुशलता के प्रमाण हैं। काँच, मिट्टी, स्फटिक, सीप व कोडी के उभार वाले मणिये इतिहासकालीन कला के प्रतीक हैं। आकार व प्रकार की दृष्टि से इनकी 26 किस्मे हैं और उनकी कुल सख्या 191 है। ये सभी वस्तुए जीवन के वास्तविक रूप प्रकट करती हैं।

आहड मे पाव धोने का कवेलू, मूर्तियाँ, खिलौने, चकरी, पहिया, काचरोट, दीपक, चूडिया आदि मिट्टी मे बनते थे। यहाँ तावे की मुद्रिका, अस्त्र-शस्त्र, चूड़ियाँ, चाकू आदि पाये गये हैं। लोहे के उपकरणो मे कुल्हाड़ी, खूटियाँ आदि प्रमुख है जो कृषि या घरेलू काम मे प्रयुक्त होते थे। काच की अथवा सीप की चूड़ियाँ भी आहड़ी स्त्रियाँ पहनती थी। पत्थर की बनी वस्तुओ मे तोल, पीसने का पत्थर काचरोट, हत्था आदि थे। तीर की नोक, चाकू, सूई आदि को हड्डियो से वे लोग बनाते थे। ये लोग अपने को आभूषणो से सजाते थे। सोना, तांबा, हाथीदात, सीप, कौड़ियाँ, काच, आदि का प्रयोग बाजूबद, हार, कर्णफूल, झुमके आदि के लिए होता था। कला की दृष्टि से ये सुन्दर और उत्कृष्ट होते थे। यहाँ की ताम्रयुगीय सभ्यता पत्थर के औजारो के समय से काफी आगे बढ़ चुकी थी।

यहाँ कुछ तृतीय ईसा पूर्व व प्रथम व द्वितीय ई० पूर्व की यूनानी मुद्रायें मिली हैं।[22] ये मुद्रायें यहाँ कैसे आई उसके लिए अधिकृत रूप से कुछ नही कहा जा सकता, परन्तु इतना अनुमानित किया जा सकता है कि बनास नदी सभ्यता का प्रसार व अन्य नदियो के मार्ग का सम्बन्ध इतना विकसित था कि किसी प्रकार क्रय-विक्रय के दौरान ये मुद्रायें यहाँ पहुँच गई हो। अथवा तांबे के शिल्पी जो अन्य स्थानो से यहाँ आकर बस गये हो वे अपने साथ इन मुद्राओ को लाये हो। इनसे इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि उस युग मे राजस्थान का व्यापार विदेशी बाजारो से था।

बनास सभ्यता की व्यापकता एव विस्तार गिलूंड, बागोर, पलाडिया तथा अन्य आसपास के स्थानो से प्रमाणित है। इसका सपर्क नवदातोली, हड़प्पा, माहेश्वर,

---

22. संकालिया—एक्सेवेशन एट आहड, पृ० 13

किनारे है। इसकी लम्बाई 500 मीटर, चौडाई 275 मीटर एव ऊँचाई 12.8 मी० है। इसी मे आहड के अवशेष दबे पडे है। तीन बार उत्खनन के फलस्वरूप यहा कुछ परीक्षण परिखाएँ खोदी गईं और कई उपकरण तावे की कुल्हाडिया, तावे के फलक, लोहे के औजार, रिगवेल, वास के टुकडे, हड्डियाँ, भाड, आदि सामग्री प्राप्त हुई। सबसे गहरी खाई 40 फी० तक खोदी गई जिसके आधार पर बस्ती के बनने व नष्ट होने की तालिका भी तैयार की गई। स्तरीकरण से अनुमानित है कि आठ बार यहाँ बस्ती बनी और उजडी। उजडी हुई बस्ती पर ही समतल भूमि कर और नई मिट्टी डालकर उत्तरोत्तर मानव यहाँ बसते गये। इस पूरे क्रम मे आज से चार हजार वर्ष से लगाकर अठारहवीं शताब्दि तक का समय लगा।

धूलकोट की खुदाई द्वारा उन मकानो के सम्बन्ध मे भी कुछ जानकारी होती ह, जिनमे आहड-सभ्यता के निवासी रहते थे। इन मकानो के बनाने मे ककरेट से मिली मिट्टी तथा पास मे बहुतायत से मिलने वाले पत्थर व वास व पेडो का डालियो का प्रयोग किया जाता था। दीवारो को मिट्टी से पोत लिया जाता था और फर्श की अधिक मजबूती के लिए मिट्टी मे गोवर मिला लिया जाता था। ककर और मिट्टी को और बीच-बीच मे पत्थरो को चुनकर आधार व दीवारे बनाई जाती थी, जो टिकाऊ होती थी। सबसे बडा मकान जो यहा की खुदाई मे मिला है उसकी लम्बाई 33 फी० 10 इन्च थी जिसके विभाजन कर दो कमरे बना दिये गये।

अनुमानित है कि मकानो की योजना मे आँगन या गली या खुला स्थान रखने की व्यवस्था थी। एक मकान मे 4 से 6 बडे चूल्हो का होना आहड मे बृहत् परिवार या सामूहिक भोजन बनाने की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। चूल्हो के बीच निकला हुआ भाग भोजन सामग्री अथवा भाण्डो के रखने के स्थान को इगित करता है। चूल्हो की पुन मरम्मत होती थी जो विविध अगुलियो के निशानो से स्पष्ट है। यहाँ एक 4 × 3 फी० का चूल्हा देखने मे आया जिसके सम्बन्ध मे अनुमानित है कि इसका प्रयोग तावे को पिघलाने मे किया जाता हो। कुछ एक ऐसे कमरे भी देखने मे आये जिनमे सीधे व मोड वाली सिलें व पट्टे थे और जिनमे आधे गडे हुए भाण्ड थे। ऐसे उपकरणों वाले कमरे रसोई घर के काम मे आते थे। मकानो के विविध आयातो से तथा उनके आकार व प्रकारो मे वृद्धि होने के चिन्हो से प्रतीत होता है कि ज्यो-ज्यो आहड में तांबे से औजारो को बनाने का व्यवसाय बढता गया कमरो की लबाई चौडाई भी बढती गई। इन कमरो की छते वास व घास-फूस से ढकी जाती थी और बडे कमरो का विभाजन बांसो को सीधा गाड कर तथा उन्ह मिट्टी से पोतकर किया जाता था। बडे कमरो मे बडी बल्ली के सहारा देने के लिए लकडी के खम्भो का भी प्रावधान यहा रहता था। प्राय मकानो की लम्बाई उत्तर दक्षिण तथा चौडाई पूर्व-पश्चिम रहती थी।

आहड से उत्खनित बरतनो तथा उनके खडित टुकडो मे हमे उस युग मे मिट्टी

के बरतन बनाने की कला का अच्छा परिचय मिलता हैं । प्रारंभिक काल के बने बरतन सादे व गोल रेखा वाले मिले है । ज्यो-ज्यो समय निकलता गया इस कौशल की निपुणता बढती गई । चाक से बने बरतनो को भट्टे मे पकाया जाता था । उभरी हुई आवृत्तियाँ, छेद द्वारा अलकरण, फूल-पत्ती, पशु-पक्षी का चित्रण आदि इनकी विशेषताए थी । इन पर चमकदार पालिश कुम्हार के शिल्प की उत्कृष्टता का प्रत्यक्ष प्रमाण है । बरतनों की विविधता मे कटोरे, कटोरियाँ, ढक्कन, प्याले तवे, तश्तरियाँ, पराते, कलश, मटके, मटकियाँ, रकाबियाँ, सुराहियाँ, धूपदान आदि है जिनके विधिवत् अध्ययन से सास्कृतिक उन्नति के स्तर नापे जा सकते हैं : कुछ ऐसे भी बरतन प्रकाश मे आये हैं जो समृद्ध परिवार के द्वारा काम मे लाये जाते थे । बरतनो की नक्काशी व रग के प्रयोग से उपकरण उन्नत तकनीकी कुशलता के प्रमाण है । काँच, मिट्टी, स्फटिक, सीप व कोडी के उभार वाले मणिये इतिहासकालीन कला के प्रतीक है । आकार व प्रकार की दृष्टि से इनकी 26 किस्मे हैं और उनकी कुल सख्या 191 है । ये सभी वस्तुए जीवन के वास्तविक रूप प्रकट करती हैं ।

आहड मे पाव धोने का कवेलू, मूर्तियाँ, खिलौने, चकरी, पहिया, काचरोट, दीपक, चूडिया आदि मिट्टी मे बनते थे । यहाँ तांबे की मुद्रिका, अस्त्र-शस्त्र, चूड़ियाँ, चाकू आदि पाये गये है । लोहे के उपकरणो मे कुल्हाडी, खूटियाँ आदि प्रमुख हे जो कृषि या घरेलू काम मे प्रयुक्त होते थे। काच की अथवा सीप की चूडियाँ भी आहड़ी स्त्रियाँ पहनती थी । पत्थर की बनी वस्तुओ मे तोल, पीसने का पत्थर काचरोट, हत्था आदि थे । तीर की नोक, चाकू, सूई आदि को हड्डियो से वे लोग बनाते थे । ये लोग अपने को आभूषणो से सजाते थे । सोना, तांवा, हाथीदात, सीप, कौडियाँ, काच, आदि का प्रयोग बाजूबद, हार, कर्णफूल, झुमके आदि के लिए होता था । कला की दृष्टि से ये सुन्दर और उत्कृष्ट होते थे । यहाँ की ताम्रयुगीय सभ्यता पत्थर के औजारो के समय से काफी आगे बढ़ चुकी थी ।

यहाँ कुछ तृतीय ईसा पूर्व व प्रथम व द्वितीय ई० पूर्व की यूनानी मुद्रायें मिली हैं ।[22] ये मुद्रायें यहाँ कैसे आई उसके लिए अधिकृत रूप से कुछ नही कहा जा सकता, परन्तु इतना अनुमानित किया जा सकता है कि बनास नदी सभ्यता का प्रसार व अन्य नदियो के मार्ग का सम्बन्ध इतना विकसित था कि किसी प्रकार क्रय-विक्रय के दौरान ये मुद्राये यहाँ पहुँच गई हो । अथवा तांबे क शिल्पी जो अन्य स्थानो से यहाँ आकर बस गये हो वे अपने साथ इन मुद्राओ को लाये हो । इनसे इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि उस युग मे राजस्थान का व्यापार विदेशी बाजारो से था ।

बनास सभ्यता की व्यापकता एव विस्तार गिलूड, बागोर, पलाडिया तथा अन्य आसपास के स्थानों से प्रमाणित है । इसका सपर्क नवदातोली, हडप्पा, माहेश्वर,

22 सकालिया—एस्केवेशन एट आहड, पृ० 13

नागदा, एरन, कायथा आदि भागो की प्राचीन सभ्यता से भी था जो यहाँ से प्राप्त काले व लाल भाडो के आकार, उपादान व कौशल की समानता से निर्दिष्ट होता है। ऐसा भी अनुमानित है कि इस सभ्यता की परम्परा गगा-यमुना के दोआव तक पहुँच गई। 1800 ई०पू० मे लगभग कुछ बाहर से आने वाले नृवश सबन्धित लोगो का प्रभाव भी पोले हत्थे व नालीवाले बरतनो तथा असाधारण व अपरिचित वर्ग के पशुओ की आकृति के मुह वाले बरतनो से दिखाई पडता है। यहाँ उभरे हुए बरतनो के पाये जाने से एसा लगता है कि आहड मे नाल और बिलोची सभ्यता का प्रभाव था। सभवत विविध प्रभाव जयपुर-अलवर मार्ग से यहाँ पहुँचने पाए हो।[23]

ताम्र युगीय राजस्थान के अन्य केन्द्र

ताम्र युगीय सभ्यता के दो वृहद समूह सरस्वती तथा बनास नदी के काठे मे पनपे थे जिनका वर्णन ऊपर के पृष्ठो मे किया गया है। इसी प्रकार राजस्थान मे अन्य कई महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं जो इस युग के वैभव की दुहाई दे रहे हैं। ये केन्द्र भी नदियो की घाटियो तथा उनके निकटवर्ती स्थानो में पल्लवित थे। उत्तर-पूर्वी राजस्थान की बालेश्वर पर्वत श्रेणी और उससे तथा उसके पास से निकलने वाली नदियो जैसे कानातली, कसूकली (कृष्णावती) पर बसने वाले स्थान ताम्र उपकरणो और बरतनो के बनाने के अच्छे केन्द्र थे। हाल ही के गणेश्वर जोधपुरा, खेतडी, अहीरवाडा, दरीवा आदि से प्राप्त कुल्हाडिया, परशु, आदि इस बात के प्रमाण हैं कि सीकर जिले मे ताम्बे के भण्डार हैं और उस युग मे यहाँ के बने तांबे के उपकरणो का उपयोग राजस्थान तथा आसपास की बस्तियो जैसे कालीबगा, मोहनजोदडो, हडप्पा, रोपड आदि मे होता था। इस प्रकार का आदान-प्रदान इन नदियो के तथा उसके आसपास के मार्गों से होता था। ये सभी बस्तियाँ अधिक दूरी पर नहीं हैं और एक दूसरे से सम्बन्धित भी प्रतीत होती है।[24]

अत सरस्वती दृषद्वती, बनास, बेडच, आहड, लूणी, कृष्णावती, दोहन आदि नदियों की उपत्यकाओ मे दबी पडी कालीबगा, आहड, बागोर, गिलूड, गणेश्वर आदि बस्तियो से मिली प्राचीन वस्तुओ से एक ऐसी समान और व्यापक सस्कृति का पता लगा है जिनका विस्तार गगानगर, नागोर, जालोर, बाडमेर, मेवाड, आहड,

---

23. मिश्रा-प्री और प्राटोहिस्ट्री ऑफ बेडच, 1967, हारग्रेवस, एस्केवेशन इन बिलासिस्ता, 1925, न 35, पाद् टिप्पणी नं गौड,, एस्केवेशन एट-अत्राजी पेडा, 1967, मालती नागर, आहड कल्चर [पीएच. डी थीसिज] शर्मा , एस्केवेशन एट टॅपे हिसर, 1937 प्लेट 222-222, 366-6, सकालिया, कल्चर डिविजन ऑफ इंडिया, 1967, चोवरी, एस्केवेशन एट देवनामोरी, बडोदा, 1966, पृ 69।
24. जॉन-मार्शल-मोहनजोदडो एण्ड इन्डुस सिविलिजेशन, 1973, पृ. 31, वी एस. वत्स एस्केवेशन एट हडप्पा, 1974 पृ 379, आर सी अग्रवाल-आर्कियोलोजिकल डिस्कवरीज एट गणेश्वर, मरुभारती पत्रिका पृ 28-30

नागदा, एरन, कायथा आदि भागों की प्राचीन सभ्यता से भी था जो यहाँ से प्राप्त काले व लाल भांडों के आकार, उपादान व कौशल की समानता से निर्दिष्ट होता है। ऐसा भी अनुमानित है कि इस सभ्यता की परम्परा गंगा-यमुना के दोआब तक पहुँच गई। 1800 ई०पू० में लगभग कुछ बाहर से आने वाले नृवंश संबन्धित लोगों का प्रभाव भी पोले हत्थे व नालीवाले बरतनों तथा असाधारण व अपरिचित वर्ग के पशुओं की आकृति के मुँह वाले बरतनों से दिखाई पड़ता है। यहाँ उभरे हुए बरतनों के पाये जाने से ऐसा लगता है कि आहड़ में नाल और बिलोची सभ्यता का प्रभाव था। संभवतः विविध प्रभाव जयपुर-अलवर मार्ग से यहाँ पहुँचने पाए हों।[23]

ताम्र युगीय राजस्थान के अन्य केन्द्र

ताम्र युगीय सभ्यता के दो बृहद समूह सरस्वती तथा बनास नदी के कांठे में पनपे थे जिनका वर्णन ऊपर के पृष्ठों में किया गया है। इसी प्रकार राजस्थान में अन्य कई महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं जो इस युग के वैभव की दुहाई दे रहे हैं। ये केन्द्र भी नदियों की घाटियों तथा उनके निकटवर्ती स्थानों में पल्लवित थे। उत्तर-पूर्वी राजस्थान की बालेश्वर पर्वत श्रेणी और उससे तथा उसके पास से निकलने वाली नदियों जैसे कानातली, कसूकली (कृष्णावती) पर बसने वाले स्थान ताम्र उपकरणों और बरतनों के बनाने के अच्छे केन्द्र थे। हाल ही के गणेश्वर जोधपुरा, खेतड़ी, अहीरवाड़ा, दरीबा आदि से प्राप्त कुल्हाड़ियाँ, परशु, आदि इस बात के प्रमाण हैं कि सीकर जिले में ताम्बे के भण्डार हैं और उस युग में यहाँ के बने ताँबे के उपकरणों का उपयोग राजस्थान तथा आसपास की बस्तियों, जैसे कालीबंगा, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, रोपड़ आदि में होता था। इस प्रकार का आदान-प्रदान इन नदियों के तथा उसके आसपास के मार्गों से होता था। ये सभी बस्तियाँ अधिक दूरी पर नहीं हैं और एक दूसरे से सम्बन्धित भी प्रतीत होती है।[24]

अतः सरस्वती दृषद्वती, बनास, बेड़च, आहड़, लूणी, कृष्णावती, दोहन आदि नदियों की उपत्यकाओं में दबी पड़ी कालीबंगा, आहड़, बागोर, गिलूंड, गणेश्वर आदि बस्तियों से मिली प्राचीन वस्तुओं से एक ऐसी समान और व्यापक संस्कृति का पता लगा है जिनका विस्तार गंगानगर, नागोर, जालोर, बाड़मेर, मेवाड़, आहड़,

---

23 मिश्रा-प्री और प्रोटोहिस्ट्री ऑफ बेड़च, 1967, हारग्रेवस, एस्केवेशन इन विलोचिस्ता, 1925, नं 35, पाद टिप्पणी नं गौड़,, एस्केवेशन एट-अत्राजी पेडा, 1967, मालती नागर, आहड़ कल्चर [पीएच. डी थीसिज] शर्मा , एस्केवेशन एट टैपे हिसार, 1937 प्लेट 222-222, 366-6, सकालिया, प्रन्टर डिविजन ऑफ इंडिया, 1967, चौधरी, एस्केवेशन एट देवनामोरी, बड़ौदा, 1966, पृ 69।

24 ज्ञान-भारत-मोहनजोदड़ो एण्ड इन्डस सिविलिजेशन, 1973, पृ. 31, बी एस.वत्स एस्केवेशन एट हड़प्पा, 1974 पृ 379, आर सी अग्रवाल-आर्कियोलोजिकल डिस्कवरीज एट गणेश्वर, राजस्थान पत्रिका पृ 28-30

भीलवाडा, चित्तौड, सीकर, दोसा आदि जिलो मे प्रसारित था। इन जिलो मे और भी अनेक प्राचीन स्थल पाए गए हैं जो ताम्र युगीय सभ्यता के प्रमाण उपस्थित करते हैं। इस सभ्यता की विशेषता यह थी कि यहाँ बहने वाली नदियो तथा उनकी सहायक नदियो के अचलो मे अनेक ताम्र निर्माण प्रक्रिया के केन्द्र निहित थे। इस युग की सभ्यता न केवल स्थानीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती थी, अपितु चित्रकला, भाण्ड-शिल्प, धातु सम्बन्धी तकनीकी कौशल मे पश्चिमी एशिया, ईराक, अफ्रीका आदि देशो की प्राचीन सभ्यताओं से सम्बन्धित थी तथा उनसे किसी प्रकार कम न थी। इस सभ्यता मे हमारे अर्वाचीन सस्कृति के अनेक परिपुष्ट आधार व पूर्वरूप के तत्व निहित थे। इस युग के मानव ने प्राकृतिक चुनौतियो को स्वीकार कर अपने अदम्य साहस का परिचय दिया। कबीले, समूह तथा सगठित वर्ग मे रहने से इनमे दायित्व की भावना का उदय हुआ जो सस्कृति को समृद्ध और उत्कृष्ट बनाने में लाभप्रद सिद्ध हुई।

अध्याय 3

राजस्थान के राजनीतिक और सांस्कृतिक सोपान

जैसा कि हमने पिछले अध्याय मे पढा राजस्थान की सस्कृति की आत्मा सरस्वती दृपद्वती तथा बनास, बेडच, गभीरी आदि नदियो की घाटियों मे पाए गए खण्डहरो व उपकरणो मे छिपी पडी है। इस सस्कृति के निर्माता यहा के मूल निवासी, सभवत भील, मीणा तथा हडप्पा से विस्थापित जन-समूह हो सकते हैं। इन मानवो ने युगो के अथक परिश्रम द्वारा नगर योजना एव तकनीकी ज्ञान को परिवर्धित कर विशिष्ट सास्कृतिक कल्पनाओ तथा मूल्यो का प्रारूप-प्रस्तुत किया और धर्म की मान्यता तथा विश्वास, व्यवसाय तथा सामुदायिक जीवन, सत्ता तथा शक्ति आदि तत्त्वो के बीच एक सतुलन स्थापित किया।

इस अति प्राचीन और प्रच्छन्न सस्कृति का विकसित रूप, उसके इतिहास के निर्माणाधीन विविध युगो तथा उनके अन्तर्गत स्थापित राज्यो और साम्राज्यो की गतिविधियो मे निहित है। इन प्रारम्भिक युगो की लिखित कहानियाँ तो उपलब्ध नही हैं परन्तु महाकाव्यो, पुराणो, धर्म ग्रन्थो तथा अनुश्रुतियो मे ऐसे प्रसग आते हैं जिनके आधार पर प्राचीनतम सस्कृति तथा आने वाले युगो की सस्कृतियो के पारस्परिक सम्बन्ध, सस्पर्श, अनुयोजन एव परिवर्धन के धुन्धले चित्र की परिकल्पना मात्र ही सभव है।

आर्य और राजस्थान का मौलिक सांस्कृतिक संस्पर्श

लगभग 4000 ई० पू० आर्यों का मूल स्थान[1] से भारत मे प्रवेश आरम्भ हुआ जो सदियो तक कई धाराओ मे होता रहा। यह प्रवेश उनकी राजनीतिक प्रभुता, जन-समूहो की विशिष्टता एव उपजाऊ क्षेत्रो को प्राप्त करने की चेष्टाओ मे प्रेरित था। आर्यों की जो शाखाएँ भारत मे प्रविष्ट हुई उन्हे इस देश मे अनेक

1 आर्यों के मूल स्थान और समय के विषय विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य टेलर, दि ओरिजिन ऑफ दि आर्यन्स (लन्दन 1889), जी० चाइल्ड, दि आर्यन्स, दास ऋग्वेदिक इण्डिया, कलकत्ता, 1820, गदाधर, होम ऑफ दि आर्यन्स; श्री संपूर्णानन्द, आर्यों का आदि देश; रमाशकर त्रिपाठी भारत का इतिहास पृ 22-31 आदि।

पारस्परिक कबीलो तथा आर्य भिन्न जातियो के साथ युद्ध करने पड़े। ऋग्वेद[2] के कुछ मन्त्रो से आर्यों और अनार्यों की संघर्ष-स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। ऐसे संघर्षो में दाशराज्ञ अर्थात् दस राजाओ का युद्ध प्रमुख है। आर्यों के पहले के लोगो के तथा आर्यो के नेताओ एव जनो के सम्बन्ध मे वैदिक साहित्य मे कतिपय उपयोगी निर्देश मिलते हैं। वेदो मे अनार्यो को दस्यु, दास, राक्षस असुर आदि कहा गया है। इनके सरदारो मे इलिबिस, धुनि, चमुरि, पिप्रु, वर्चिन और शम्बर तथा इनके जनो मे शिम्यु, कीकट, अज, यक्षु, शिग्रु आदि के नाम आते हैं। ऐसा भी वर्णन मिलता है कि इन युद्धो का नेतृत्व राजाओ के पुरोहित करते थे। विश्वामित्र दाशराज्ञ सगठन के और उनके विरोधी सुदास के नेता वशिष्ठ थे।

सिन्धु, रावी, सतलज और गगा यमुना के काठे मे लडे जाने वाले लम्बे युद्ध के दौरान कुछ एक आर्य कबीले सुरक्षित तथा उपजाऊ मैदानो की खोज मे सरस्वती दृषद्वती नदियो की उपत्यकाओ मे प्रविष्ट हुए। इस सुरम्य प्रदेश के जल-प्रवाह तथा चरागाह की सुविधा से प्रभावित हो वे अपने से पहले बसे हुए स्थानो के निकट बस गये। प्राकृतिक वातावरण से सम्मोहित हो उन्होने इस प्रदेश को पवित्र ब्रह्मावर्त मे सम्मिलित कर लिया और यहीं बस कर इन्द्र और सोम के मन्त्रों की रचना की। ऋग्वेद मे वर्णित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक गम्भीर विषयो का चिन्तन एव यज्ञ के विधि-विधान का निरूपण भी राजस्थान मे हुआ ऐसा माना जाता है। ऐसा लगता है कि आर्येतर बस्तियो की सुदृढता का आर्य और अनार्यो मे यहाँ सघर्ष के बजाय सहवास का वातावरण बनाने मे बडा हाथ था। अनूपगढ, तरखाना वाला एव चाक मे दो पास-पास पाये जाने वाले दो सस्कृतियो के खण्डहर इस बात की पुष्टि करते है कि राजस्थान मे आर्य एव अनार्य बस्तियां साथ-साथ बनी रहीं और वहाँ के निवासी एक दूसरे के अधिक समीप रहे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उत्तर पश्चिमी राजस्थान मे भरत और मत्स्य शाखा के आर्य बसते थे। यहीं सरस्वती के तट पर द्वैतवन नामी पराक्रमी मत्स्यराज ने चवदह अश्वमेध यज्ञ सम्पादित किये थे।[3]

सदियो के अनन्तर भूचाल से तथा सूखे की स्थिति से सरस्वती-दृषद्वती का प्रदेश रहने के योग्य न रहा। फलस्वरूप लगभग 1500 ई० पू० यह क्षेत्र जिसे संस्कृति का गणमान्य केन्द्र बनने का सौभाग्य था निर्जन बन गया[4]। यहाँ की आर्य और अनार्य जातियां पूर्व की ओर उपजाऊ भूमि की तलाश मे निकल पडी।

---

2. ऋग्वेद, 3/33/2,5, 83/8, /133/4
3. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० 41–43।
4. गार्डन, प्री हिस्टोरिक बेकग्राउन्ड ऑफ इण्डियन कल्चर, पृ० 22, पार्गर, पान्ट एण्ड प्रिजुडिस पृ० 24।

मत्स्य-जन जयपुर के आस-पास और अनार्य समूह अर्वली पहाडो तथा दक्षिण पूर्वी पठारो और जगलो की ओर जा बसे। शतपथ ब्राह्मण से इस प्रयाण की सूचना मिलती है कि विदेघ माथव, जो कि सरस्वती प्रदेश का राजा था, अपने पुरोहित गौतम रहुगण एव प्रजा के साथ पूर्व की ओर निकल पडा। अनुश्रुतियो के अनुसार मद्र और कुरु उत्तर तथा उत्तरी पूर्व राजस्थान में बसते थे तो साल्व नामक जाति जो रण कौशल के लिए प्रसिद्ध थी, उत्तर-पूर्वी व दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान में फैली हुई थी। मधु और कैटभ अपने पराक्रम के लिए प्रसिद्ध थे। मधु के पुत्र धुन्धु के द्वारा मरुस्थल मे धुन्धुमार (ढूढाड) और उसके पास कुवलयाश्व के वशज निकुभ द्वारा वस्तियां वसाना पौराणिक कथाओ से प्रमाणित हैं। नागो की एक आर्येतर जाति दक्षिण पूर्वी राजस्थान मे थी। इस वैदिक कालीन राजस्थान की कई आर्य और अनार्य जनो की वस्तियां अपनी-अपनी सस्कृति की प्रतीक थी।[5]

वैसे तो राजस्थान के अनार्यों और आर्यों की सभ्यता और सस्कृति का भेद काल, स्थान एव मान्यता के विचार से स्पष्ट था। अनार्य जन जो यहां के स्थानीय निवासी थे और आर्यों के आने के पहले से बसे हुए थे, एक हजारो वर्षों के जीवन यापन के स्थानीय क्रम को अपनाए हुए थे। इनकी सभ्यता दीर्घकालीन इतिहास का सूचक है। इनकी मान्यताओ और अनुभवो के अस्तित्व मे आने के लिए एक लम्बे समय की अपेक्षा हुई होगी। इसीलिए इनके धर्म, कर्म, भाषा, व्यवसाय, सगठन, कौशल आदि जीवन के पहलुओ मे उच्चता तथा सुदृढता का परिचय मिलता है। इनकी तुलना मे नवागन्तुक आर्य कबीले यहां नए एव स्थानीय स्थिति से अपरिचित थे। इतना अवश्य था कि जो आर्य यहां आए, उनमे एक जोश और उत्साह था और उन्हे अपनी शक्ति और सस्कृति के प्रसार के प्रति ममता थी। अपने अस्तित्व के लिए एक समन्वय की प्रवृत्ति भी उनमे काम कर रही थी और यथा साध्य वे सघर्ष के पक्ष मे न थे। यही कारण है कि इनकी वस्तियां एक प्रकार से उपनिवेशो की भांति द्रुतगति मे स्थापित होती चली गई और एक दूसरे का सम्बन्ध सहयोग पर आधारित होता गया। शाल्व तथा नाग जातियां जो सभ्य पर अनार्य थी, मद्र, कुरु आदि आर्य जातियो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखती थी। सह-निवास की परिस्थिति मे मैत्री एव वैवाहिक सम्बन्ध होना स्वाभाविक भी था। यह भी निर्विवाद है कि साथ-साथ प्रगति करने के अवसर पर आर्य तथा अनार्यों मे धर्म एव जीवन के मूल्यो के निर्धारण तथा तकनीकी ज्ञान में आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी चलती रही। आदिवासियो के धर्म और रस्म-रिवाजो मे वैदिक क्रियाओ का समन्वित रूप आज भी दिखाई देता है। यहां के निवासियो मे मां देवी की पूजा

---

5 कनिघम, भारत की आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, जि० 1, पृ० 20, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ 1, द्वितीय सस्करण, पृ 271, दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ 43

प्रचलित थी जिसे आर्यों के सम्पर्क ने शक्ति पूजा का स्थान ले लिया। वैदिक देवो और लोक देवो मे समन्वय की भावना आज भी आदिवासियो की पूजा और मान्यता मे देखी जाती है। ये लोग कई वैदिक धर्मो की विधियो को अपने जन्म मृत्यु के प्रसगो मे अपनाते हैं जो सहवास का परिणाम है। आर्यो मे भी अवैदिक मान्यताओ को स्थान मिला। मत्स्य, भारत, कुरु आदि आर्य जातियो मे वृक्ष, नदियाँ, सर्प तथा जानवरो की पूजा के प्रतीक, जो आर्य बस्तियो के भाडो पर चित्रित है, इस बात के प्रमाण हैं कि आर्येतर जनो की धार्मिक विश्वासो को आर्यो ने अपनी मान्यता मे स्थान दे दिया था। ग्राम्य सभ्यता के प्रतीक आर्यो ने अनार्य नागरिक सभ्यता के मानवो से नगर नियोजन की व्यवस्था को सीखा जो आगे चलकर इनके बडे-बडे नगरो के बनने से स्पष्ट है। इस प्रकार भारतीय आर्य सस्कृति और राजस्थान की आदि सस्कृति का सस्पर्श और प्रसार अज्ञात युग की सास्कृतिक कड़ियो को जोडने की दृष्टि से बडे महत्त्व के हैं।[6]

महाकाव्य काल और राजस्थान

प्राचीन भारत के इतिहास मे तिथिक्रम बडा जटिल और विवादास्पद है। पर अधिक गभीरता से मननोपरान्त विद्वानो ने इन काव्यो मे वर्णित कथाओ और वशक्रम का समय 2000–1500 ई० पू० निर्धारित किया है। इसमे सन्देह नही कि यह समय की अवधि सर्वसम्मत नही है। परन्तु ऐतिहासिक गणना और राजाओ की पीढियो के विचार से सिन्धु घाटी की सभ्यता के विनाश की कडी से महाकाव्य कालीन समय को जोड़ा जा सकता है। जब राम-रावण और तत्पश्चात् कौरव-पाण्डवो का युद्ध लडा जा रहा था तो उस वर्णन मे राजस्थान के कुछ एक प्रदेशो के नामोल्लेख मिलते हैं। रामायण से पता चलता है कि दक्षिण सागर ने अपने ऊपर जब सेतु बधवाना स्वीकार किया तब रामचन्द्र ने उसको भयभीत करने के लिए खीचा हुआ अमोघबाण इधर फेंका, जिससे समुद्र के स्थान मे मरुकान्तार हो गया जो अब राजस्थान का पश्चिमोत्तर भाग है। भूगर्भशास्त्रियो की भी मान्यता है कि जहाँ अब रेगिस्तान है वहा पहले समुद्र लहराता था, परन्तु भूकम्प आदि प्राकृतिक कारणो से उस भूमि के ऊँची निकल आने पर समुद्र का जल दक्षिण मे हटकर रेत का पुजमात्र रह गया। इसी को रामायण मे मरुकान्तार की सज्ञा दी गई है। इस कथन की पुष्टि अब भी यहाँ पाए जाने वाले सीप, शख, कौडी के परिवर्तित पाषाणरूप (Fossils) हैं।[7]

---

6 रामप्रसाद चन्दा, पुरातत्व विभाग का मेमॉयर, स० 31, 41, राधाकुमद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० 74, 75; जॉन मार्शल, मोहेनजोदडो, भाग 1, अध्याय 8, पृ० 110–12।

7. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग 22, श्लोक 32–33, ओझा, राजपूताने का इतिहास, भाग–1, पृ० 94।

महाभारत से पता चलता है कि राजस्थान का जागल देश कुरु पाण्डवो के राज्य के अन्तर्गत था और मत्स्यदेश उनके अधीन था या उनका मित्र राज्य था। ऐसी मान्यता है कि पाण्डव बारह वर्ष के वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञातवास मे भेष बदल कर और कृत्रिम नाम धारण कर मत्स्यदेश के राजा विराट के यहाँ रहे थे। जब महाभारत का घोर सग्राम लडा गया तो राजा विराट एक अक्षोहिणी सेना सहित युधिष्ठर के पक्ष मे लडा और अपने अनेक वीरो सहित वीरगति को प्राप्त हुआ। जिस प्रकार महाभारत काल मे जागल तथा मत्स्य देश थे उसी प्रकार शूरसेन देश चंबल के किनारे से यमुना तक प्रसारित था और वह यादवो के राज्य के अन्तर्गत था। महाभारत सग्राम मे कई यदु वशियो ने विरोधी पक्ष के साथ सहानुभूति रखी थी। इसी काल मे हमे साल्व जाति का वर्णन भी महाभारत मे मिलता है जिनके अधिकार क्षेत्र मे सालवपुत्र (अलदार) था। इनके पश्चिम मे सावंसेनी या साल्वसेनी थे जिनका अधिकार रेगिस्तानी भाग पर था। माध्यमिक (चित्तौड के निकट), जो आगे जाकर सास्कृतिक केन्द्र बन गया, शिवियो के अधिकार मे थी।[8]

प्राग्-बौद्ध-युग से वर्धनकाल का राजस्थान (7वीं सदी ई०पू० से 7वी ई०)

महाभारत युद्ध के बाद महात्मा बुद्ध के समय तक का राजस्थान का राजनैतिक स्वरूप इतना स्पष्ट नही है। परन्तु इस युग से गुप्ताओ तक विविध आर्य राजकुलो और उनकी शासन प्रणाली एव सास्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले साहित्य तथा अनुश्रुतियों के आधार पर इस सम्बन्ध मे हम बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें जान सकते हैं। इस युग की दो घटनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—एक तो जनपदो का उदय और दूसरा साम्राज्यवाद का विस्तार।

जनपदों का युग

भारत के अनेक प्रान्तो की तरह राजस्थान मे भी आर्य बस्तियो के उदय के साथ-साथ जनपदो के विस्तार का श्रीगणेश होता है। वैदिक युग के आर्य-राज्यो को, जिनका आधार जन होता था, जन-पद कहते थे। प्रारम्भ मे जब इनका आकार छोटी इकाई के रूप मे होता था तब प्राय सभी जन "सजात" समुदाय से बनते थे। ज्यो-ज्यो इनकी सीमाएँ बढती गई और वे शक्तिशाली होते गये इनमे अन्य वर्ग भी सम्मिलित हो गए और उनमे सीमा या अन्य विवादो को लेकर परस्पर सघर्ष भी शुरू हो गये। इन सघर्षो के कारण गुट बनने लगे। एक जन मे दूसरे जन सम्मिलित हो जाते थे। अथवा शक्तिशाली जनपद समीपवर्ती जनपदो पर अधिकार कर लेते थे। ऐसी परिस्थिति ने गण-राज्यो और महा जनपदो को जन्म दिया। इन महा

---

8 महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय 54, श्लोक 7; ओझा राजपूताने का इतिहास, भाग 1, पृ० 94, 95, 98, दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग-1, पृ० 49-50।

जनपदो अथवा गणराज्यो मे एक विशेष जन के प्रति भक्ति इतनी अपेक्षित नही थी जितनी उस प्रदेश के प्रति, क्योकि वे सभी उस वृहद् समूह की प्रजा थे। बौद्ध साहित्य मे जगह-जगह जिन सोलह महा जनपदो का उल्लेख आता है उसमे राजस्थान के भी विभिन्न भाग-कुरु, मत्स्य शूरसेन और अवन्ति महा जनपद के अन्तर्गत है।[9]

महाभारत के युद्ध के बाद कुरु और यादव जन-पद निर्बल हो गये। कुरु के पतन के सम्बन्ध मे छन्दोग्य-उपनिषद् मे कथा आती है कि टिड्डी दल के आक्रमण से कुरु देश की फसले नष्ट हो गई और भीख मागने पर भी उदर पोषण कठिन हो गया। गगा की बाढ भी इसके नष्ट होने का कारण था। इसी तरह इस महा सग्राम के बाद यादवो मे भी फूट पड गई और उनकी शक्ति निर्बल हो गई। इन दोनो शक्तिशाली राज्यो के पतन से मत्स्य राज्य परिवर्धित हो गया। मत्स्य की राजधानी वैराठ (जयपुर मे) बडी समृद्ध होती गई।

महात्मा बुद्ध के समय से अवन्ति राज्य का विस्तार हो रहा था। यह जन पद के साथ-साथ साम्राज्यवाद के प्रसार का एक बडा उदाहरण है। समूचा पूर्वी राजस्थान तथा मालवा प्रदेश इसके अन्तर्गत थे। ऐसा लगता है कि शूरसेन और मत्स्य भी किसी न किसी रूप मे अवन्ति के प्रभाव क्षेत्र मे थे। मध्य प्रदेश व बुन्देलखण्ड के भाग इस राज्य मे सम्मिलित थे। इस प्रकार अवन्ति राज्य मे राजस्थान का प्रतिनिधित्व था।

327 ई० पू० सिकन्दर के आक्रमण के कारण पजाब के कई जनो ने उसकी सेना का सामना किया। अपनी सुरक्षा और व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए ये कई कबीले राजस्थान की ओर बढे जिनमे मालव, शिवी, अर्जुनायन, योधेय आदि मुख्य थे। दक्षिण प्रयाण के दौरान मालवो ने बागरचाल, नगर आदि स्थानो पर अधिकार कर लिया जो जयपुर सभाग मे है। आगे चलकर टोक अजमेर और मेवाड पर भी उन्होने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। रेढ के उत्खनन से प्राप्त वस्तुओ से इनकी प्रभुता की अच्छी जानकारी मिलती है। ये राजस्थान मे 130 ई० पू० मे 400 ई० तक एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप मे बने रहे जो यहाँ मिलने वाले सिक्के तथा यूप-स्तभो से प्रमाणित है।[10]

महाभारत, पाणिनी व्याकरण, ब्रह्मसहिता, कुमारपाल चरित सग्रह तथा कुछ सिक्के और नगरी के शिलालेखो से विदित होता है कि चित्तौड के आसपास का भाग शिवि जनपद कहलाता था और मध्यमिका उसका प्रमुख केन्द्र था। दूसरी

9 त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 66-67।
10 इन्डियन हिस्टोरिकल क्वाटरली, भाग 1, पृ० 257, दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग 1, पृ० 51।

ई० पू० शताब्दी से चौथी शताब्दी ईसवी तक उसका सास्कृतिक क्षेत्र के रूप मे महत्त्व बना रहा। शुग कालीन राजस्थान की जानकारी के लिए इस जनपद का विशेष महत्त्व है।[11]

भरतपुर-अलवर क्षेत्र अर्जुनायनो और बीकानेर के सभाग योधेयों ने अपने अधिकार मे कर रखे थे। इनके सयुक्त और स्वतन्त्र प्रयासो ने शको व कुशानो से मोर्चा लेने के उल्लेख जैन कथाओ से प्रतिपादित होता है। इनके सिक्को से इनकी युद्धप्रियता और सेनाध्यक्षो की प्रमुखता पर प्रकाश पडता है।

वैसे तो राजस्थान मे शक, क्षत्रय और कुशानो का सीधा इतिहास तो प्राप्त नही है परन्तु सूरतगढ, हनुमानगढ, पुष्कर, रगमहल, पिसानगन, बासवाडा, नगरी मारवाड आदि मे पाई जाने वाली मुद्राओ से अनुमानित है कि राजस्थान के कई भागो मे उनका राजनैतिक प्रभाव स्थापित था जिसका यहाँ के गणराज्य विरोध करते रहते थे। लगभग 200 ईसवी के अन्त मे इनका प्रभाव निर्बल करने मे साल्व योधेयो तथा अन्य जनो की गुटबन्दी को श्रेय जाता है। इसीलिए मालवो के सिक्को पर उनकी विशेष प्रतिभा का अकन "मालवानाजय" या "जयमालव गणस्य" तथा अर्जुनायनो के सिक्को पर "अर्जुनायनाजय" लेख मिलता है। क्षत्रयो की रही-सही शक्ति की समाप्ति गुप्तवश के चन्द्रगुप्त द्वितीय ने रुद्रसिंह से सम्पूर्ण राज्य छीनकर की और राजस्थान से भी उसका अधिकार समाप्त हो गया।[12]

मौर्य और राजस्थान

राजस्थान के कुछ भाग मौर्यो के अधीन या प्रभाव क्षेत्र मे थे। अशोक का वैराठ का शिलालेख तथा उसके उत्तराधिकारी कुनाल के पुत्र सम्प्रति द्वारा बनवाये गए मन्दिर इस वश के प्रभाव की पुष्टि करते है। कुमारपाल प्रबन्ध तथा अन्य जैन ग्रन्थो से अनुमानित है कि चित्तौड का किला व एक चित्राग तालाब मौर्य राजा चित्राग का बनवाया हुआ है। चित्तौड से कुछ दूर मानसरोवर नामक तालाब पर राजा मान का, जो मौर्य वशी माना जाता है, एक वि० स० 770 का शिलालेख कर्नल टॉड को मिला जिसमे माहेश्वर, भीम, भोज और मान ये चार नाम क्रमश दिये हैं। कोटा के निकट कणसवा के शिवालय मे एक 795 वि० स० का शिलालेख है जिसमे मौर्य वशी राजा धवल का नाम है। इन प्रमाणो से मौर्यो के सामन्त या प्रशाखा के व्यक्तियो का राजस्थान मे अधिकार होना सिद्ध होता है।[13]

11, जे बी आर एस भाग 42, पृ० 34–8, एपिग्राफिया इडिका, ५० 35, जर्नल ऑफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, भाग 10, पृ० 180-1।

12 मरुभारती, अक 8, भाग 4, पृ० 7, डी सी सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 135, दशरथ शर्मा राजस्थान थ्रू दि एजेज पृ० 54–55, ओझा राजपूताने का इतिहास, भाग 1, पृ० 108–122।

13 कुमारपाल प्रबन्ध, पत्र 30121, ई ऐ, जि० 19, पृ० 55–57 टॉड राजस्थान जि० 2, पृ० 919-22, ओझा, राजपूताने का इतिहास, भाग 1, पृ० 107–108।

प्राचीन राजस्थान
मद्र
यौधेय
जाँगल
मत्स्य
प्रतिहार
पल्ली
सौवीर
अर्बुद
गुर्जरत्रा
दशपुर
अवन्ती
मेदपाट
मालवदेश

गुप्त और वर्धन वशो के समय का राजस्थान

कुशानो के पतन के उपरान्त प्रयाग और पाटलीपुत्र मे गुप्तों का आविर्भाव हुआ जिनमे समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त बडे प्रसिद्ध थे। राजस्थान मे आभीर, नाग, मालव, योधेय आदि गणराज्य अपने-अपने क्षेत्रो को अधिकार मे लिए हुए थे। गुप्तो का सीधा अधिकार तो राजस्थान मे नही दीख पडता, परन्तु एक प्रबल साम्राज्य के स्वामी होने से यहाँ के गणराज्यो ने उनकी अधीनता स्वीकार करली थी। कुछ गुप्त सवत् के शिलालेख तथा उनकी शैली के कला के प्रतीक इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। उस समय मौखरियो का भी प्रभाव कोटा मे था जैसा कृत सवत् 295 का यूप स्तभ लेख से प्रमाणित है। गुप्तो के दरबार मे यहाँ के राजाओं के प्रतिनिधि जाते थे। जैसा प्रयाग प्रशस्ति से भी स्पष्ट है।[14]

गुप्तवशी सम्राट् स्कदगुप्त ने हूणो के आक्रमण से अपने साम्राज्य की रक्षा तो की थी, परन्तु इनके आक्रमणो ने इनके साम्राज्य की नीव को जर्जरित कर दिया। हूण राज्य के तोरमाण ने बुधगुप्त के समय (ई० स० 499) से कुछ पीछे राजपूताना, गुजरात, काठियावाड आदि भागो पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया। उसके उत्तराधिकारी मिहिरकुल का भी राजस्थान के कई भागो पर अधिकार बना रहा। गुप्तो के पतन और हूणो द्वारा अराजकता पैदा करने की स्थिति से लाभ उठाकर मालवा के यशोवर्मन ने 532 ई० के आसपास मिहिरकुल को परास्त कर हूणो की शक्ति को निर्बल बना दिया। वे अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए यत्र तत्र कई राजाओ से लडते रहे परन्तु अन्त मे उनको यहाँ की लडाकू जातियो जैसे कुनबी कृपको के साथ विलय के लिए बाध्य होना पडा। यशोवर्मन ने राजस्थान मे अपने अधिकारी अभयदत्त, जिसका पद राजस्थानीय था, को व्यवस्था करने को नियुक्त किया। उसके प्रभाव क्षेत्र मे अरावली पर्वत श्रेणी से नर्बदा तक का भाग जिसमे मन्दसोर तथा मध्यमिका भी थे सम्मिलित थे। कुछ समय के लिए राजस्थान मे सुख और शाति स्थापित हो सकी।[15]

परन्तु यह शाति क्षणिक थी। यशोवर्मन की मृत्यु के बाद पुन अव्यवस्था का दौर आरम्भ हो गया। इधर तो राजस्थान मे यशोवर्मन के अधिकारी, जो राजस्थानीय कहलाते थे। अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहे थे तो उधर प्राचीन गणतन्त्र की बिखरी हुई जातियाँ, जो अलग-अलग समूह मे रहती थी, पुन अपने प्राबल्य के लिए सघर्षोन्मुख हो गयी। किसी केन्द्रीय शक्ति का न होना इन प्रवृत्तियो को बढावा देने मे सहायक हो गया। लगभग छठी शताब्दी से इन दोनों,

---

14 गोठ मागलोद का गुप्त सवत् 2९9 का लेख, ए. ई जि० 11, पृ० 303-304 प्रयाग प्रशस्ति पंक्ति 22, दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग 1, पृ० 60।

15 मन्दसौर का शिलालेख वि, सं 589, श्लोक 19।

प्रकार के दलो के सघर्ष व सहयोग के प्रमाण उपलब्ध होते है। एक ओर यहा के आदिवासियो ने अपने सगठनो द्वारा पजाब, गगा-यमुना दोआब तथा गुजरात के आने वाले अधिवासियो को ढकेलने के प्रयत्न किये तो दूसरी ओर इनके सतत् रूप से इधर बढने वाले समूहो ने इन्हे दबाना आरम्भ किया। कभी इनका सहयोग भी होता रहा। इस प्रकार छठी शताब्दी से लगभग 13वी शताब्दी तक नवागुन्तक दल ने, जिन्हे राजपूत की सज्ञा दी जाती है, पृथक् पृथक् सत्ता क्षेत्र मे राजस्थान को बांट दिया।[16]

इन प्रारम्भिक राजपूत कुलो मे, जिन्होने राजस्थान मे विभिन्न सत्ता केन्द्र स्थापित किये थे, मारवाड के प्रतिहार और राठौड, मेवाड के गुहिल, साभर और अजमेर के चौहान, आमेर के कछवाहा, जैसलमेर के भाटी, गुजरात के सोलकी, भीनमाल के चावडा, कोटा के नागवशीय और चौहान, बीकानेर के यौधेय और राठौड तथा गागरोन के डोडिया प्रमुख हैं। इन सभी वशो के शौर्य का एक इतिहास है जो अपनी जगह अद्वितीय है। इस काल की सास्कृतिक और जन-जागरण इस युग की महती देन है।

प्रतिहार

राजपूत वशो मे प्रतिहारो का अधिवासन भी बड़ा प्राचीन है। स्कन्दपुराण, यशस्तिलक चम्पू तथा कुवलयमाला मे प्रतिहारो को गुर्जर कह कर सम्बोधित किया गया है। नैणसी ने प्रतिहारो की 26 शाखाओ का वर्णन किया है जो राजस्थान के विभिन्न भागो मे मिलती हैं। इनके राज्य मे राजस्थान का अधिकाश भाग ही नही था वरन् गुजरात, काठियावाड, मध्य भारत एव सतलज से लगाकर बिहार तक के भाग उनके अधिकार मे थे। इनमे मण्डोर, जालौर, राजोगढ, कन्नौज, उज्जैन और भडोच के प्रतिहार बडे प्रसिद्ध हैं।[17]

मण्डोर के प्रतिहारो ने मण्डोर राजधानी को केन्द्र बनाकर उस नगर को राजप्रासाद, प्राकार आदि से सुसज्जित किया। इसी वश का हरिश्चन्द्र बडा प्रतापी शासक था जिसका समय छठी शताब्दी के आसपास माना जाता है। मण्डोर शाखा के प्रतिहारो का राज्य-विस्तार अनुमानत जोधपुर से 40 मील उत्तर-पश्चिम और 60 मील के लगभग उत्तर-पूर्व मे विस्तारित था। इसी शाखा के तात भारतीय

---

16 अपराजित का शिलालेख, वि. स. 718, ए. ई जि 1, पृ० 280; बीठू अभिलेख, वि. स 1330, जी एन शर्मा—सोशल लाइफ इन मेडिकल राजस्थान, पृ० 19।

17 विद्वशाल मजिका; ए. ई जि. 2, पृ 221–222, ज रो. ए सो, स. 1894, पृ 4–9; 1895, पृ. 516–18, इ हि क्वा, 13, पृ 157-66, ओ ए. सो ज, 1905, पृ. 411-39, ओझा राजपूताने का इतिहास, पृ 165, वैजनाथपुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ. 20-34, राजस्थान थ्रू दि एजेज, 108-111।

साक्षी अचलेश्वर के मदाकिनी कुण्ड पर बनी हुई धारावर्ष की मूर्ति और समान रेखा मे आर-पार छिद्रित तीन भैंसे हैं। धारावर्ष का काल विद्योन्नति तथा अन्य जनोपयोगी कार्यो के लिए प्रसिद्ध है। इसका छोटा भाई प्रह्लादन देव वीर और विद्वान था। इसकी वीरता और विद्वत्ता की प्रशसा कवि सोमेश्वर ने अपनी रचना "कीर्ति-कौमुदी' नामक पुस्तक मे की है। वह केवल वीर ही नही, वरन् अच्छा नाटककार भी था, जो उसके द्वारा रचे गये "पार्थ-पराक्रम-व्यायोग" नामक नाटक से स्पष्ट है। उसने अपने नाम मे प्रह्लादनपुर (पालनपुर) बसा कर जनहितोपयोगी कार्य मे रुचि ली थी। मालवा के भोज परमार ने चित्तौड मे त्रिभुवननारायण का मन्दिर बनवा कर अपनी कला के प्रति रुचि को व्यक्त किया। बागड के परमारो ने बासवाडे के पास अर्थूणा नगर बसा कर और अनेक मन्दिरो का निर्माण करा कर अपनी शिल्प व कला के प्रति निष्ठा का परिचय दिया। यहाँ से प्राप्त मूर्तियो, तोरणो और स्तम्भों के खण्ड उस काल की सास्कृतिक प्रतिभा की दुहाई दे रहे हैं।[20]

सोलंकी वंश

वैसे तो सोलकियो का प्रभुत्व गुजरात मे विशेष रूप से रहा, परन्तु इनका अधिकार राजस्थान मे सिरोही और जोधपुर राज्य के अधिकाश भाग पर बहुत समय तक रहा। चित्तौड और उसके आसपास के प्रदेश एव बागड पर भी इनका प्रभाव थोडे समय तक रहा। इस वश के राजा बडे दानी और विद्यानुरागी हुए। अतएव इनके सास्कृतिक प्रभाव से ये भाग लाभान्वित होते रहे। इनके दान-पत्र, शिलालेख तथा मन्दिर इस कथन के प्रमाण हैं। भीमदेव सोलकी के समय विमलशाह ने आबू पर देलवाडा गांव मे आदिनाथ का अपूर्व मन्दिर (1031 ई०) बनवाया जो राजस्थान और गुजरात शिल्प का अनुपम उदाहरण है। कुमार पाल के 12वी शताब्दी के राजस्थान मे मिलने वाले दान-पत्र उसकी उदारता के प्रमाण हैं। गुजरात के सोलकियो का राज्य अलाउद्दीन के गुजरात आक्रमण के साथ समाप्त होने से उनके रहे-सहे प्रभाव की भी इतिश्री राजस्थान मे हो गई।[21]

चावडा वंश

सस्कृत लेखो मे उक्त वश का नाम चाप, चापोत्क या चावोटक लिखा मिलता है। भीनमाल इनकी राजधानी थी। यहाँ का प्रसिद्ध शासक वर्मल्दात था, जैसा वसतगढ के 6'5 ई० के शिलालेख से विदित होता है। चापों के समय भीनमाल

---

20. तीर्थंकल्प, श्लो. 39–40, द्वयाश्रयकाव्य, सर्ग 16, श्लो. 33–34, कीर्तिकौमुदी, सर्ग, श्लो 20, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० 80, आबू प्रशस्ति; कामन्द्रा शिलालेख, किराडू लेख, पानाहेडा लेख आदि, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० 193–233, गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ० 72–78।
21 ओझा, राजपूताने का इतिहास भाग 1, पृ० 238-254।

एक सांस्कृतिक केन्द्र था जिसकी पुष्टि माघ एव ब्रह्मगुप्त की वहाँ विद्यमानता से स्पष्ट है। फ़तूहुल बलदान नामक फारसी तवारीख से पता चलता है कि भीनमाल पर सिंध के हाकिम जुनैद ने आक्रमण किया जिसका मुकाबला यहाँ की प्रजा और राजा ने किया। अन्त मे चावडो के हाथ से प्रतिहारो ने भीनमाल को छीन लिया और उनकी शक्ति का ह्रास हो गया।[22]

चाहमान वंश और शाकम्भरी के चौहान

चाहमान वंश राजस्थान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अग है। चाहमानो का प्रारम्भ मे कहाँ राज्य था और कहाँ से उन्होंने विकास कर अपनी शक्ति को बलवती बनाया, इस सम्बन्ध मे निश्चित मत स्थिर करना बड़ा कठिन है। परन्तु अधिक विश्वस्त मान्यता जो इनके मूल स्थान के सम्बन्ध मे है, वह यह है कि वे सपादलक्ष एव जागल देश के रहने वाले थे। उनकी राजधानी अहिछत्रपुर (नागौर) थी। सपादलक्ष के चाहमानो का आदि पुरुष वासुदेव था, जिसका समय 551 ई० के लगभग अनुमानित किया जाता है। वही साभर झील का प्रवर्तक था। पहले चौहान प्रतिहारो के सामन्त थे परन्तु गुवक, जिसने हर्षनाथ के मन्दिर का निर्माण कराया, स्वतन्त्र शासक के रूप मे उभरा। इसी वश के चन्दनराज की रानी रुद्राणी यौगिक क्रिया मे निपुण थी। वह प्रतिदिन पुष्कर मे एक हजार दीपक जलाकर महादेव की उपासना करती थी। 1113 ई० के लगभग अजयराज ने अजमेर नगर की सस्थापना की। उसके राज्यकाल मे धर्म सहिष्णुता और विद्याविलास की प्रगति से उस समय के सास्कृतिक महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार की उपलब्धियाँ अर्णोराज, विग्रहराज आदि की थी, जिन्होंने साहित्य और स्थापत्य की सेवा कर सपादलक्ष और अजमेर राज्य का स्तर ऊपर उठाया। विग्रहराज चतुर्थ की विद्वत्ता की प्रशसा करते हुए किलहोर्न लिखते हैं कि वह उन हिन्दू शासको मे से एक व्यक्ति था जो कालीदास और भवभूति की होड कर सकता था। उसका समय सपादलक्ष का स्वर्ण काल था।[23]

इसी वशक्रम मे पृथ्वीराज तृतीय ने राजस्थान और उत्तरी भारत की राजनीति मे अपनी विजयो से एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था। 1191 ई० के तराइन के प्रथम युद्ध मे गौरी को परास्त कर उसने भारतीय वीरता का समुचित परिचय दिया। परन्तु दूसरे युद्ध मे जब उसकी हार हो गई तो उसने आत्म-सम्मान को ध्यान में रखते हुए आश्रित शासक बनने की अपेक्षा मृत्यु को प्राथमिकता दी। पृथ्वीराज विजय के लेखक जयानक के अनुसार उसने जीवनपर्यन्त युद्धो के वाता-

---

22. ए. ई 9, पृ० 191-92, जि. 12, पृ० 193-4।
23. हर्षनाथ लेख, श्लो. 13-14; पृथ्वीराज विजय, श्लो. 31, 37, 55, 97, डा. दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० 27-65।

साक्षी अचलेश्वर के मदाकिनी कुण्ड पर बनी हुई धारावर्ष की मूर्ति और समान रेखा मे आर-पार छिद्रित तीन भैसे हैं। धारावर्ष का काल विद्योन्नति तथा अन्य जनोपयोगी कार्यो के लिए प्रसिद्ध है। इसका छोटा भाई प्रह्लादन देव वीर और विद्वान था। इसकी वीरता और विद्वत्ता की प्रशसा कवि सोमेश्वर ने अपनी रचना "कीर्ति-कौमुदी" नामक पुस्तक मे की है। वह केवल वीर ही नहीं, वरन् अच्छा नाटककार भी था, जो उसके द्वारा रचे गये "पार्थ-पराक्रम-व्यायोग" नामक नाटक से स्पष्ट है। उसने अपने नाम मे प्रह्लादनपुर (पालनपुर) बसा कर जनहितोपयोगी कार्य मे रुचि ली थी। मालवा के भोज परमार ने चित्तौड मे त्रिभुवननारायण का मन्दिर बनवा कर अपनी कला के प्रति रुचि को व्यक्त किया। वागड के परमारो ने वासवाडे के पास अर्थूणा नगर वसा कर और अनेक मन्दिरो का निर्माण करा कर अपनी शिल्प व कला के प्रति निष्ठा का परिचय दिया। यहाँ से प्राप्त मूर्तियों, तोरणो और स्तम्भों के खण्ड उस काल की सास्कृतिक प्रतिभा की दुहाई दे रहे हैं।[20]

सोलकी वश

वैसे तो सोलकियो का प्रभुत्व गुजरात मे विशेष रूप से रहा, परन्तु इनका अधिकार राजस्थान मे सिरोही और जोधपुर राज्य के अधिकांश भाग पर बहुत समय तक रहा। चित्तौड और उसके आसपास के प्रदेश एव वागड पर भी इनका प्रभाव थोडे समय तक रहा। इस वश के राजा वडे दानी और विद्यानुरागी हुए। अतएव इनके सास्कृतिक प्रभाव से ये भाग लाभान्वित होते रहे। इनके दान-पत्र, शिलालेख तथा मन्दिर इस कथन के प्रमाण हैं। भीमदेव सोलकी के समय विमलशाह ने आबू पर देलवाडा गाँव मे आदिनाथ का अपूर्व मन्दिर (1031 ई०) बनवाया जो राजस्थान और गुजरात शिल्प का अनुपम उदाहरण है। कुमार पाल के 12वी शताब्दी के राजस्थान मे मिलने वाले दान-पत्र उसकी उदारता के प्रमाण हैं। गुजरात के सोलकियो का राज्य अलाउद्दीन के गुजरात आक्रमण के साथ समाप्त होने से उनके रहे-सहे प्रभाव की भी इतिश्री राजस्थान में हो गई।[21]

चावडा वंश

संस्कृत लेखों मे उक्त वश का नाम चाप, चापोत्कट या चावोटक लिखा मिलता है। भीनमाल इनकी राजधानी थी। यहाँ का प्रसिद्ध शासक वर्मलदात था, जैसा वसतगढ के 6?5 ई० के शिलालेख से विदित होता है। चापो के समय भीनमाल

---

20 तीर्थकल्प, श्लो. 39–40, द्वयाश्रयकाव्य, सर्ग 16, श्लो 33–34, कीर्तिकौमुदी, सर्ग, श्लो 20, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० 80, आबू प्रशस्ति, कामन्द्रा शिलालेख, किराडू लेख, पाणाहेडा लेख आदि, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० 193–233, गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ० 72–78।

21 ओझा, राजपूताने का इतिहास भाग 1, पृ० 238-254।

एक सांस्कृतिक केन्द्र था जिसकी पुष्टि माघ एवं ब्रह्मगुप्त की वहाँ विद्यमानता से स्पष्ट है। फ़तूहुल बलदान नामक फारसी तवारीख से पता चलता है कि भीनमाल पर सिंध के हाकिम जुनैद ने आक्रमण किया जिसका मुकाबला यहाँ की प्रजा और राजा ने किया। अन्त मे चावडो के हाथ से प्रतिहारो ने भीनमाल को छीन लिया और उनकी शक्ति का ह्रास हो गया।[22]

चाहमान वंश और शाकम्भरी के चौहान

चाहमान वंश राजस्थान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। चाहमानो का प्रारम्भ मे कहाँ राज्य था और कहाँ से उन्होंने विकास कर अपनी शक्ति को बलवती बनाया, इस सम्बन्ध मे निश्चित मत स्थिर करना बड़ा कठिन है। परन्तु अधिक विश्वस्त मान्यता जो इनके मूल स्थान के सम्बन्ध मे है, वह यह है कि वे सपादलक्ष एव जागल देश के रहने वाले थे। उनकी राजधानी अहिछत्रपुर (नागौर) थी। सपादलक्ष के चाहमानो का आदि पुरुष वासुदेव था, जिसका समय 551 ई० के लगभग अनुमानित किया जाता है। वही साभर झील का प्रवर्तक था। पहले चौहान प्रतिहारो के सामन्त थे परन्तु गुवुक, जिसने हर्षनाथ के मन्दिर का निर्माण कराया, स्वतन्त्र शासक के रूप मे उभरा। इसी वश के चन्दनराज की रानी रुद्राणी यौगिक क्रिया मे निपुण थी। वह प्रतिदिन पुष्कर मे एक हजार दीपक जलाकर महादेव की उपासना करती थी। 1113 ई० के लगभग अजयराज ने अजमेर नगर की सस्थापना की। उसके राज्यकाल मे धर्म सहिष्णुता और विद्याविलास की प्रगति से उस समय के सांस्कृतिक महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार की उपलब्धियाँ अर्णोराज, विगहराज आदि की थी, जिन्होंने साहित्य और स्थापत्य की सेवा कर सपादलक्ष और अजमेर राज्य का स्तर ऊपर उठाया। विग्रहराज चतुर्थ की विद्वत्ता की प्रशसा करते हुए किलहोर्न लिखते हैं कि वह उन हिन्दू शासको में से एक व्यक्ति था जो कालीदास और भवभूति की होड कर सकता था। उसका समय सपादलक्ष का स्वर्ण काल था।[23]

इसी वंशक्रम मे पृथ्वीराज तृतीय ने राजस्थान और उत्तरी भारत की राजनीति में अपनी विजयो से एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था। 1191 ई० के तराइन के प्रथम युद्ध मे गौरी को परास्त कर उसने भारतीय वीरता का समुचित परिचय दिया। परन्तु दूसरे युद्ध मे जब उसकी हार हो गई तो उसने आत्म-सम्मान को ध्यान में रखते हुए आश्रित शासक बनने की अपेक्षा मृत्यु को प्राथमिकता दी। पृथ्वीराज विजय के लेखक जयानक के अनुसार उसने जीवनपर्यन्त युद्धो के वाता-

22. ए. ई 9, पृ० 191–92, जि. 12, पृ० 193-4।
23. हर्षनाथ लेख, श्लो. 13–14; पृथ्वीराज विजय, श्लो. 31, 37, 55, 97, डा दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० 27-65।

वरण में रहते हुए चौहान राज्य की प्रतिभा को साहित्य और सांस्कृतिक क्षेत्र मे उज्ज्वल कर दिया।[24]

द्वितीय तराइन के युद्ध से भारतीय राजनीति मे एक नया मोड़ आया। परन्तु इसका यह अर्थ नही था कि तराइन के बाद चौहानो की शक्ति समाप्त हो गई। लगभग एक शताब्दी तक चौहानो की शाखाएँ जो रणथम्भौर, जालौर, हाडौती नाडोल तथा चन्द्रवती और आबू मे शासन कर रही थी और राजपूत शक्ति की धुरी बनी हुई थी। इन्होने सुल्तानो की सत्ता का समय-समय पर मुकाबला कर अपने शौर्य और अदम्य साहस का परिचय दिया था।

रणथम्भौर के चौहान

रणथम्भौर के प्रतिभा सम्पन्न शासको में हम्मीर (1282–1301 ई०) का नाम सर्वोपरि है। उसने कोटियज्ञ के सम्पादन के द्वारा अपनी धर्मनिष्ठा का परिचय दिया। अपनी सत्तावादी अभिलाषा की पूर्ति के लिए जब अलाउद्दीन खिलजी ने दुर्ग पर आक्रमण कर दिया तो उसने अपने पैतृक राज्य की रक्षार्थ प्राणो की आहुति दे डाली। इस शाखा के नरेशो की भाँति उसने साहित्य और धर्म की अभिवृद्धि मे पूर्ण रुचि ली। उसमे असीम उदारता और विचारो की दृढता थी। उसने खिलजियो मे त्रस्त म गोल शरणार्थियो की रक्षा कर अपने सर्वनाश का तो आह्वान किया परन्तु साथ ही धर्म सहिष्णुता नीति और शरणागत एव कर्त्तव्यपरायणता के सांस्कृतिक पक्ष के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित की।[26]

जालौर के चौहान

जिस प्रकार रणथम्भौर के हम्मीर ने अपने पैतृक राज्य के लिए सर्वस्व बलिदान किया, उसी प्रकार जालौर के कान्हडदेव ने खिलजी सल्तनत से लोहा लेकर एक अमर यश को अर्जित किया। अलाउद्दीन खिलजी जालौर के राय की बढती हुई शक्ति को सहन न कर सका। वह चाहता था कि उनके दुर्ग को हस्तगत कर वह चौहानो की शक्ति को नष्ट करके और उसके अधिकार द्वारा गुजरात तथा मालवा विजय को स्थायित्व प्रदान करे। 1308 ई० मे किले को फतह करने के लिए उसने एक सेना भेजी। अन्त में बडे लम्बे सघर्ष के बाद 1311 मे किला शत्रुओ के हाथ

---

24 हम्मीर महाकाव्य, सर्ग 3, श्लो. 49–73, तबकात-ए-नासिरी भाग 1, पृ॰ 459–568, डा दशरथ शर्मा अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० 186–218, 299 डा जी एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास पृ० 154-175।

25 तारीख-ए-फिरोजशाही इ डा भाग 3 पृ 148, हम्मीर महाकाव्य सर्ग 10, श्लो 35-61, सर्ग 13, श्लो 71-86, 139, 196-225, डा दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान, पृ 102-115।

आया और कान्हडदेव भी एक सच्चे राजपूत की भाँति वीरोचित गति को प्राप्त हुआ। संस्कृति के पोषक के रूप मे वह आज भी बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है।[26]

हूणो के आक्रमण के समय जिस वैभव व शक्ति से प्रतिहार उभरे थे। धीरे-धीरे, उस स्थिति मे गिरावट आने लगी। इनके चौहानो, गुहिलो तथा सोलकियो से आये दिन चलने वाले झगड़ो ने इनकी आतरिक शक्ति को निर्बल बना दिया। जो छोटी-छोटी इकाइयाँ इनके सामन्तो के रूप मे थी, वे क्रमश उनकी विरोधी बन गई। इसी प्रकार इनके समकालीन सोलकी तथा परमार प्रारम्भ से ही राजस्थान मे इतने शक्तिशाली न थे। ज्यो ही उनकी केन्द्रीय शक्ति निर्बल होती गई, राजस्थान मे उनकी चूलें हिल गयीं। चौहान भी उत्तरोत्तर श्रीहीन होते गये, क्योकि पृथ्वीराज के बाद बचे-खुचे चौहान बिखरी हुई इकाइयो मे रह गये थे। फल यह हुआ कि जब पश्चिमी दर्रे से आने वाले एक के बाद दूसरे आक्रमणकारी दल ने इन राजपूत शक्तियो को नगण्य बना दिया तो अन्ततोगत्वा राज्य के नरेशो के रूप मे उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। अलबत्ता सुदूर राजस्थान के अचलो मे पनपने वाली राजपूत शक्तियाँ, जिनमे हाडौती के चौहान, मेवाड के गुहिल, मारवाड के राठौड़ तथा माड के भाटी बच रहे। इन्होने तुर्को मुगलो व मराठो की शक्ति का समय-समय पर मुकाबला किया। परन्तु सतत् युद्धो की परिस्थिति ने उनकी शक्ति को खोखला कर दिया और वे अन्त मे अग्रेजो की कूटनीति के शिकार बने। इन राज्य-वशो का सास्कृतिक इतिहास बडा रोचक है।

गुहिल वश

हूणराज मिहिरकुल के पीछे जिन राजपूत वशो ने अपने राज्य स्थापित किये थे उनमे गुहिलोत मुख्य है। चूंकि गुहिल बडा प्रतापी शासक था, इस वश के राजपूतो ने जहा-जहा भी वे गये उन्होने अपने को गुहिल वशीय ही कहा। नैणसी व कर्नल टॉड ने इनकी अनेक शाखाओ का वर्णन किया है जिनमे मेवाड, कल्याणपुर, वागड़, चाटसू आदि के गुहिलोत अधिक प्रसिद्ध हैं।[27]

मेवाड के प्रारम्भिक गुहिलो मे गुहा (566 ई०) तथा बापा (648 ई०) के नाम ख्याति प्राप्त है। बापा के समय का प्रचलित सिक्का तत्कालीन धार्मिक एव सास्कृतिक भावनाओ का द्योतक है। इसके उत्तराधिकारियो के समय मे बने देवालय और प्रशस्तियाँ उस युग की वास्तुकला तथा साहित्यिक उन्नति के पर्याप्त प्रमाण है।[28]

---

26. कान्हडदे प्रबन्ध 49-57; डा॰ दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ. 162-170; जी एन शर्मा, कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 5, पृ. 825।
27. भावनगर इन्स. पृ. 74-75।
28. क्लासिकल एज (विद्याभवन सिरीज), पृ 160; बोम्बे ए. सो ज.; जि 22, पृ 106-67; जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ 52-59, 197-205.

इसी प्रकार 14वीं शताब्दी की सबसे बडी गुहिलो की उपलब्धि आत्मोत्सर्ग एव बलिदान की विशुद्ध भावनाओ से आकी जा सकती है। जब अलाउद्दीन खिलजी ने 1303 ई० मे चित्तौड पर आक्रमण किया तो गोरा-बादल की वीरता और कूटनीति की सूझ ने रजपूती आन और शान की रक्षा की। आज भी चित्तौड के खण्डहरो मे गोरा-बादल के महल उनके साहस और शौर्य की कहानी के साक्षी हैं। आज गोरा-बादल और पद्मिनी नही हैं, परन्तु उनके आत्मबल और देश-सेवा के आदर्श जीवित हैं जो हमारी सस्कृति की अमूल्य धरोहर है।[29]

इसके अनन्तर मेवाड का वह युग आता है जब राजनीतिक विस्तार, बौद्धिक उन्नति और कलात्मक अभिसृष्टि का भार महाराणा कुभा (1433–1468 ई०) ने वहन किया। उसमे महाराणा हम्मीर की शक्ति और लाखा के कला प्रेम के गुणो का सन्तुलित समावेश था। वह युद्ध कला मे ही नही वरन् शक्ति की उपलब्धियों में भी सर्वोपरि था। उसके द्वारा निर्मित दुर्ग और साहित्य आज उसकी सैनिक निपुणता और विद्वत्ता की दुहाई दे रहे हैं। वास्तव मे कुभा अपने पीछे अपना ऐसा नाम छोड गया है कि आज भी इतिहास उसका सम्मान करता है और उसे भारतीय नरेशो मे महान् शासक के रूप मे मानता है।[30]

जिस सामरिक और वीरोचित परम्परा की प्रतिष्ठा का स्तर कुभा ने बनाया था उसको महाराणा सागा ने (1509–1528) समुचित रूप से निभाया। उसने बाबर के नेतृत्व मे आने वाले मुगल आक्रमण की चुनौती को स्वीकार किया। उसके नेतृत्व मे अनेकानेक राजस्थान के तथा आस-पास के राजा, राव, महाराजा सगठित हुए और खानवा के युद्ध (1527 ई०) मे अपने शौर्य का समुचित प्रदर्शन किया। वैसे इस युद्ध का परिणाम सागा के हित मे न रहा, परन्तु उसने अपने आत्मबल से इस बात की पुष्टि कर दी कि भौतिक लाभों की अपेक्षा स्वदेश रक्षा और मानव धर्म का पालन करने की क्षमता अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज भी उसके सामरिक आचरण भारतीय जनता के लिए आदर्श स्तम्भ बने हुए हैं।[31]

जिस चुनौती का पहला मुकाबला सांगा ने किया उसी चुनौती का सत्तावादी स्वरूप का सामना महाराणा प्रताप ने (1572–97 ई०) किया। जहां भारत के तथा राजस्थान के अधिकाश नरेशो ने अकबर की अधीनता स्वीकार करली थी, प्रताप ने वैभव के प्रलोभन को ठुकरा कर 25 वर्ष के लम्बे समय तक राजनीतिक मच पर अपने कर्त्तव्य परायणता के उत्तरदायित्व को बडे साहस से निभाया।

---

29 कुभलगढ प्रशस्ति, श्लो. 180% फरिश्ता, पृ 123, काम्ब्रीहन्शिय हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ 371.

30. कुभलगढ प्रशस्ति, श्लो. 149, 177, 197, 232 आदि, रणकपुर प्रशस्ति, भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ 114.

31 बाबरनामा, भाग 2, पृ 550-574, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ. 42–43.

उसने अपनी निष्ठा और दृढता से अपने सैनिकों को कर्त्तव्यारूढ, प्रजा को आशावादी और शत्रु को भयातुर रखा। हल्दीघाटी के मैदान और कुंभलगढ के घेरे से बच निकल कर एक महान् शक्ति का जीवन पर्यन्त मुकाबला करने मे उसे पूर्ण सफलता मिली थी। अतएव स्वतन्त्रता का महान स्तभ होने के नाते, सद्कार्यो का समर्थक होने और नैतिक आचरण का पुजारी होने के कारण आज भी प्रताप का नाम असख्य भारतीयो के लिए आशा का बादल है और ज्योति का स्तभ है।[32]

कुंभा, सागा व प्रताप के सिद्धान्तो को आदर्श मानकर महाराणा राजसिंह ने (1652–1680 ई०) युद्ध नीति और राज्य के हित के लिए सस्कृति के तत्त्वो के पोषण की नीति को प्राथमिकता दी। वह रण कुशल, साहसी, वीर तथा निर्भीक शासक था। उसे कला के प्रति रुचि और साहित्य के प्रति निष्ठा थी। जितना निर्माण कार्य को एव साहित्य को इसके समय मे प्रश्रय मिला, कुंभा को छोडकर, किसी अन्य शासक के समय मे न मिला। स्थापत्य और साहित्य मे एक रोचकता और लचीलापन आया वह मुगल राजपूत संस्कृति के समन्वय के फलस्वरूप था। औरगजेब जैसे शक्तिशाली मुगल शासक से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखना तथा आवश्यकता पडने पर शत्रुता बढा लेना उसकी समयोचित नीति का परिणाम है।[33]

मुगल सम्पर्क से राजस्थान को सांस्कृतिक आदान-प्रदान का बड़ा लाभ पहुँचा, परन्तु पिछले मुगलो के रहन-सहन तथा खान-पीन के दोषो का कुप्रभाव भी यहाँ के नरेशो पर हुआ। जिसके कारण वे निर्बल तथा गति शून्य बन गये। अधिकाश नरेश व्यक्तिगत शान और विलासिता के शिकार बन गये। प्रमादी और आलसी हो जाने से शासन व्यवस्था मे भी शिथिलता आ गई और सामन्तो तथा विद्रोहियो का दौर अधिक बढ गया। इस प्रकार डग-मगाती स्थिति का लाभ मराठो ने उठाना शुरू किया। आये दिन उनके जत्थे लूट-खसोट कर चले जाते थे जिससे जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता था। घरेलू झगडे तथा दरबार की दलबन्दी घर कर गई और पेशवाओ की कूटनीति राजकीय काम-काज मे हस्तक्षेप करने लगी। मेवाड की आर्थिक स्थिति इन झगडो के कारण बहुत अधिक कमजोर हो गई। राणा अपने निजी व्यय और सिन्धी और पठान सैनिको का वेतन देने मे असमर्थ थे। महादजी ने कर वसूली के लिए उदयपुर पर घेरा डाल रखा था जिससे छुटकारा पाने के लिए राणा को लगभग साढे तिरसठ लाख रु० देने का वायदा कर उससे समझौता करना पड़ा। जब इस रकम की पूरी अदायगी न हो पाई तो मदसोर, नीमच, जावद, डूगरपुर, प्रतापगढ आदि के सीमावर्ती भागो को मराठो को ठेके

32. बदायुनी, भाग 2, पृ. 233; टॉड, एनल्स पृ. 278; जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ. 119–121.
33. राजप्रशस्ति, सर्ग 8, श्लो. 20-37; जी.एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 342-350.

देना पडा ।[34] मेवाड की करुण कहानी यहाँ ही समाप्त नहीं होती । शक्तावतों और चूडावतो के झगडो ने पिंडारी अमीरखा को मेवाड की राजनीति में हाथ डालने का अवसर दिया । इधर महाराणा भीमसिंह की कन्या कृष्णाकुमारी को लेकर जयपुर और जोधपुर की फौजें मेवाड को रौंद ही रही थी । दौलतराव सिंधिया भी राज्य को नष्ट करने की धमकी दे रहा था । प्रजा पर अनेकानेक त्रास बढ रहे थे । अपने विवाह को लेकर विवाद को निपटाने के लिए अबोध राजकुमारी ने मेवाड और मेवाड के धणी के हित मे 21 जुलाई, 1810 ई० को विष के प्याले को पीकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी । इस नृशस घटना से आक्रमणो का भय तो समाप्त हो गया परन्तु मेवाड की आत्मघाती राजनीति के पहलू ने उस गौरवमय गुहिल परिवार के नाम पर सदैव के लिए कलक का टीका लगा दिया ।[35]

फिर भी सिंधिया और पिंडारियो की लूट-खसौट चलती रही । अग्रेज जो यहाँ सौदागर बनकर आये थे सत्ता के लोलुप थे । इस परिस्थिति मे मेवाड को वेलेजली और डलहौजी की नीति का परिचालन करने के लिए विवश होना पडा और अन्त मे 1818 की सन्धि[36] के अनुसार मेवाड की रही-सही प्रतिभा नष्ट हो गई । धीरे-धीरे समाज की सास्कृतिक परम्परा के साथ विदेशी सस्कृति का पुट भी जुडने लगा । जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो मेवाड का विलय हुआ । 5वी शताब्दी के राजवश की सत्ता राष्ट्रीय सत्ता का भाग और मेवाड भारत सरकार का एक अग बन गए ।

हाड़ौती के चौहान

राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी कोने वाले भाग का नाम हाडौती है । जहा पहले मीणाओ का अधिकार था । वैसे तो तुर्कों के आक्रमणो ने चौहानो की राजस्थान मे सत्ता समाप्त कर दी थी, परन्तु इसी वश की हाडा शाखा के देवसिंह ने स्थानीय मीणो को परास्त कर 1241 के लगभग बूदी राज्य की स्थापना की । उसके पुत्र और पौत्रो ने इसका विस्तार कोटा तक कर दिया । अकबर के समय मे कोटा बूदी पृथक् राज्य बन गये और उनके शासक मुगलो की सेवा मे रह कर मन्सबदारी के पद पर उत्तरोत्तर तरक्की करते रहे । ऐसे शासको मे माधोसिंह, मुकन्दसिंह, दुजनशाल मुख्य थे । इन नरेशो और इनके उत्तराधिकारियो ने मुगल सस्कृति के समन्वित तत्त्वों तथा स्थानीय सस्कृति के प्रतीको का समुचित सामजस्य कर अपने

---

34 ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 171

35 टॉड, एनाल्स, भाग 1. पृ 535–41; वीर विनोद, भाग 2, प्रकरण 15 ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ॰ 672–698.

36 ट्रीटीज एंगेजमेन्ट्स एन्ड सनद्स जि. 3, पृ 30–31

समय के समाज की बड़ी सेवाए की। मन्दिरो के निर्माण द्वारा तथा दरिद्रो को दान द्वारा सतुष्ट कर भारतीय सस्कृति के प्रति आस्थावान बने रहे।[37]

परन्तु जब मुगलो की स्थिति बिगडने लगी तो हाडौती पर मराठों का भय बढने लगा। आये दिन मराठा सरदार लूट-खसौट कर हाडौती के जन-जीवन और राजकोष को हानि पहुचाते थे जिसकी करुण कहानियाँ बहुत लम्बी हैं। इस उत्पीडन से छुटकारा पाने के लिए नवउदीयमान ब्रिटिश सत्ता का सहारा लेना आवश्यक हो गया। 1818 ई० की सन्धि से यहा का साधारण जीवन व्यवस्थित हुआ। कुछ एक दस्तावेजो के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि हाडौती मे धार्मिक और सास्कृतिक उन्नति मे व्यवधान तो अवश्य हुआ, फिर भी साहित्य एव कला की उन्नति की गति नितान्त अवरुद्ध नही हुई। वश-भास्कर की रचना तथा कई चित्रकला के नमूने जो सरस्वती भडार मे उपलब्ध हैं इस स्थिति का अनुमोदन करते हैं।[38]

राठौड़ वंश

जिस प्रकार केन्द्रीय तथा दक्षिणी अचल के राजस्थान मे चौहानो का राज्य था उसी प्रकार उत्तरी और पश्चिमी भागो मे राठौडो के राज्य स्थापित हुए। उनकी कई शाखाओ और प्रशाखाओं जैसे हस्तिकुण्डी, धनोप, वागड के राठौडो, में जोधपुर राज्य के राठौड अधिक विख्यात हैं और उनका काल एक लम्बे समय तक विस्तारित है। जोधपुर राज्य का मूल पुरुष सीहा था (1240–1275 ई०) जो मारवाड़ के एक छोटे भाग, पाली से उत्तर पश्चिम मे अपना राज्य स्थापित करने आया था। परन्तु एक लम्बे समय तक गुहिलो, परमारो, चौहानो आदि राजपूत वशो की तुलना मे अभी राठौडो की शक्ति प्रभावशील न होने पाई थी। इन्हे लगभग 200 वर्ष और अथक परिश्रम करना पडा जिमसे वहाँ उनकी स्थिति को मान्यता प्राप्त हो सकी। वह स्थिति चूडा, जोधा और मालदेव के सतत प्रयास के कारण हो पाई थी। जोधा के समय ही बीका द्वारा बीकानेर राज्य की भी नीव (1465 ई०) डाली गई और राठौडो का प्रभाव उत्तरी राजस्थान तक हुआ।[39]

राव मालदेव (1532–1572 ई०) अपने समय का एक वीर, प्रतापी शक्ति सम्पन्न शासक था। उसके समय मे मारवाड की सीमा हिण्डौन, दयाना, फतेहपुर,

37. नैणसी री ख्यात, भाग 1, पृ० 106, आलमगिरनामा, पृ 56-58, वश भास्कर, भाग 2, पृ. 1621-27; जि. 3, पृ. 2487, 2790 आदि; एम. एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 60, 142-47; सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, जि. 1, पृ. 103-110, भाग 2, पृ. 12-17, जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 416-429.
38. फालके—टिप्पणी, 194, फालके, लेखाक, 179, 180; कागजात, 1834-42; वश भास्कर, भाग 4, पृ. 3655; बस्ता नं 57, 58, फाइल, न. 1818; डा. मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 413-414.
39. इण्डियन एन्टीक्वेरी, जि. 40, पृ. 301; जोधपुर राज्य की ख्यात, जि. 1, पृ. 40-68.

सीकरी और मेवाड की सीमा तक प्रसारित हो चुकी थी। उसने धार्मिक एव जनोपयोगी कार्यों मे रुचि लेकर लोक-प्रियता अर्जित की थी। इसी के पुत्र चन्द्रसेन ने (1562–1583 ई०) जो एक स्वतन्त्र प्रकृति का वीर था, अपना अधिकाश जीवन पहाडो मे बिताया, परन्तु अकबर की अधीनता स्वीकार नही की। वश गौरव और स्वाभिमान, जो सस्कृति के मूल तत्त्व है, हम चन्द्रसेन के व्यक्तित्व मे पाते हैं।[40]

वैसे तो राठौडो को मुगल अधीनता स्वीकार कर लेनी पडी थी, परन्तु महाराजा जसवन्तसिह ने (1638–1678) मुगलो की सेवा मे रहते हुए भी कई बार औरगजेब की सत्ता का विरोध किया था। इस विरोध का सच्चा रूप हम दुर्गादास के क्रान्तिकारी सघर्ष मे पाते है जिस पर औरगजेब भी काबू न पा सका। मआसिर-उल-उमरा के लेखक ने जसवन्तसिह को हिन्दू नरेशो मे अग्रणी कह कर प्रशसा की है। मुगल दरबार मे रहते हुए भी उसने अपनी धार्मिक प्रवृत्ति और राज्य मर्यादा और सास्कृतिक परम्परा को आच नही आने दी। वह साहित्य का प्रेमी और विद्वानो का प्रश्रय दाता था।[41]

महाराजा अभयसिह को जब गुजरात की सूबेदारी मिली तब से मराठो से सम्बन्ध चौथ को लेकर बिगडते रहे। आगे जाकर 1756 मे जब विजयसिह और रामसिह के बीच सन्धि कराने मे मराठो ने मदद की तो उन्हें 51 लाख रुपये तथा अजमेर का इलाका देना पडा। इसी तरह जब महादजी सिन्धिया ने 1765 मे मारवाड पर चढाई की तो उसे तीन लाख रुपये देकर लौटाना पडा। महाराजा विजयसिह भी मराठो से नाराज था और चाहता था कि मराठो का मारवाड से प्रभुत्व समाप्त हो। इसी सम्बन्ध मे महाराजा ने लार्ड कार्नवालिस से बातचीत की। परन्तु महाराजा मानसिह को भी जयपुर के साथ लडी जाने वाली 1807 की लडाई मे अमारखा पिडारी और सिधिया को बडी धनराशि देकर अपने पक्ष मे करना पडा। यहाँ तक कि जोधपुर के सामन्तो और वरिष्ठ अधिकारियो के तनाव से लाभ उठाकर 1815 ई० मे धन लोलुप अमीरखा मायस दवनाथ और इन्द्रराज की हत्या कर साढे नौ लाख रुपये फौज खर्च के लेकर कूच कर गया।[42]

इस परिस्थिति से तग आकर अततागत्वा मानसिह ने अग्रेजो के साथ सधि कर ली, फलत जोधपुर राज्य की स्वतन्त्रता यही से समाप्त सी हो गई। वैसे तो

---

40 जोधपुर राज्य की ख्यात, जि 1, पृ 81-121, जी एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ 309-329.

41. जोधपर राज्य की ख्यात, भाग 1, पृ 240-244, ओझा, जोधपर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ 460-62.

42 दयामदास ख्यात, जि 2, पृ 12, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि 3, पृ 40, 70, 74, सरकार, फाल आफ दि मुगल एम्पायर्स, जि 2, पृ. 188, टॉड राजस्थान, जि. 2, पृ. 829

कई अर्थ में महाराजा ने अपनी निर्भीकता और स्वातन्त्र्य प्रेम का परिचय दिया था। परन्तु उत्तरोत्तर ब्रिटिश राज्य का शिकजा 1857 के बाद तो इतना मजबूत होने नगा कि यहाँ के नरेशो की रही-सही प्राचीन परम्परा की आभा लुप्त प्राय हो चली। ब्रिटिश युग के इस राज्य के नरेश भारतीय सस्कृति के पोषक अवश्य रहे, परन्तु विदेशी वातावरण के मोहजाल से उनके रहन-सहन मे पाश्चात्य जीवन के तत्त्व घर करते गये।

बीकानेर के नरेशो मे कल्याणमल प्रथम व्यक्ति था जिसने अकवर की अधीनता स्वीकार कर ली थी और तव से बीकानेर के नरेश मुगल सेवा में बने रहे। उसका पुत्र महाराजा रार्मासह (1574–1612 ई०) भी अपने वीरोचित काय के लिए सम्राट अकवर और जहागीर का कृपा पात्र था। वीरोचित गुणो के साथ उसमे साहित्य और सास्कृतिक गतिविधियों से वडा अनुराग था। उसकी भाँति उसका पुत्र अनूपसिह बड़ा कूटनीतिज्ञ तथा विद्यानुरागी था। मुगल सेवा मे रहते हुए उसने अनेक मूतियो को नष्ट होने स वचाया और उन्हे वीकानेर लाकर देवालयो मे स्थापित किया।[43]

वीकानेर मे वैसे मराठो का प्रावल्य इतना नही बढ सका क्योंकि वह मराठो के रास्ते से तथा पहुँच से परे था। कुछ छुट-पुट घटनाओ के अलावा महत्त्वपूर्ण घटना मराठो के सम्बन्ध मे न होने पर भी राज्य की परिस्थिति इतनी नाजुक हो चली थी कि उसे भी अग्रेजो से सन्धि करने के लिए विवश होना पडा। यहाँ तक कि वश गौरव के धणी महाराजा गगासिह को भी ब्रिटिश भारत के इशारे पर नाचना पडा। अन्त मे वीकानेर राज्य ने भी विलीनीकरण के अवसर पर अपनी सत्ता को भारत सरकार के हवाले कर दिया।

इसी प्रकार राठौडो का राज्य पीछे से किशनगढ मे भी स्थापित हुआ। उत्तर मुगलकालीन युग मे नागरीदास की प्रतिमा से यह राज्य चित्रकला तथा कृष्ण भक्ति के सदर्भ मे खूब उभरा। अपनी सास्कृतिक देन के सम्बन्ध मे राजस्थान को इस राज्य की वडी देन है। अग्रेजो के प्रभाव क्षेत्र मे आने ने यह परम्परा कुछ शिथिल पड गई।

कछवाह वंश

अन्य राजपूत वशो की भाँति कछवाह भी राजस्थान के इतिहास के मच पर, वारहवी शताब्दी से महत्त्वपूर्ण स्थान वनाये हुए है। इनके प्रारम्भिक अधिवासन युग मे इन्हे मीणो और वडगूजरो से टक्कर लेनी पड़ी, जिसके फलस्वरूप ढूढाड़

43 दयालदास ख्यात, जि. 2, पृ 25, 26, 32 आदि जी. एन शर्मा, राजस्थान, पृ. 398-409.

परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही उत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन में एक नया मोड आया। उत्तर-पश्चिम से आने वाली बर्बर तुर्की जाति अपने विध्वसकारी अभियानो से युग-युगान्तर के सांस्कृतिक जीवन को समाप्त करने पर उतारू हो गई। इस जाति का नेतृत्व महमूद गजनवी ने किया। इन आक्रमणों का राजस्थान की सीमा के कुछ भागो तथा महमूद के सोमनाथ आक्रमण के समय मार्ग पर पडने वाले स्थानो पर पडा। आगे भी उसके उत्तराधिकारी शाकम्भरी, नाडौल, नागौर आदि स्थानो को हानि पहुँचाते रहे। सबसे बडी हानि राजस्थान को गोरी आक्रमण से और पृथ्वीराज की हार से उठानी पडी। बाद मे भी तुर्की सुल्तानो ने जिनमे अलाउद्दीन खलजी प्रमुख थे, इस परम्परा को बनाये रखा और सतत रूप से राजस्थान को हानि का भागी बनना पडा। वैसे तो एक लम्बे समय तक अपनी स्वतन्त्रता के लिए लडते रहना शौर्य का परिचायक है, परन्तु साथ ही साथ इस बात की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि राजस्थानी नरेशो ने समय-समय पर एक होकर इस शक्ति का मुकाबला नही किया। वे अपने-अपने वश की प्रभुता बढाने की होड मे लगे रहे और उनके पारस्परिक वैमनस्य का भी अन्त नही कर सके।

इन पराभवो के विपरीत राजस्थान बौद्धिक उन्नति मे नही पिछडा। चौहान व गुहिल विद्वानो के आश्रयदाता थे जिससे जनता में शिक्षा एव साहित्यिक प्रगति बिना अवरोध के होती रही। इसी तरह निरन्तर सघर्ष के वातावरण मे वस्तु शिल्प पनपता रहा। दुर्गों के तथा मन्दिरो के निर्माण और तक्षण कला का स्तर इस युग मे यथावत बना रहा। इस समूचे काल की सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक चेतना ने अपने स्पर्श से कलात्मक योजनाओ को जीवित रखा। चित्तौड और बाडौली के मन्दिर इस कथन के प्रमाण हैं।

इसी प्रकार राजस्थान के इतिहास में मुगलो के साथ यहा के नरेशो का सम्बन्ध कई सीढियो से गुजरता रहा। पहला वह काल है जबकि यहाँ के नरेशो ने मुगलो का विरोध किया जिनमे सांगा, चन्द्रसेन, प्रताप एव मालदेव प्रमुख थे। दूसरे काल में अकबर की सत्तावादी नीति को मैत्री सम्बन्ध का जामा पहिनाया गया और वैवाहिक सम्बन्ध से अनेक राजस्थानी नरेश तीन पीढी तक मुगल सत्ता के पोषक बने रहे। तीसरा काल औरगजेब की प्रतिक्रियावादी नीति से आरम्भ होता है। जब यहाँ के नरेश अपना सहयोग का हाथ खींचकर मुगल शक्ति से विमुख हो गये। इस सम्पर्क का बहुत बडा लाभ समन्वय मे दीख पडता है। राजस्थानी वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन के अन्तर्गत दरबारी समाज मे मुगली प्रभाव बढ़ता गया। यहाँ बहु-विवाह तथा दास प्रथा की सस्थाएँ मुगलो के सम्पक मे अधिक मजबूत बन गई। त्यौहारो और आमोद-प्रमोद की सस्थाएँ भी मुगलो के सम्पर्क से अधिक बल-युक्त बन गई। त्यौहारों और आमोद-प्रमोद की विविधता जो मुगल सम्पर्क से

राजस्थान में आई उसने दोनो जातियो मे समन्वय की भावना को पुष्ट किया। तुर्कों तथा मुगलो के आक्रमणो द्वारा पैदा होने वाली नई परिस्थितियो ने धार्मिक जागरण को जन्म दिया। युग धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस समय मे जो नवीन पंथ बने उनमे सादगी रूढिवाद का खण्डन, दिखावो का अभाव, अन्ध-विश्वास के प्रति घृणा आदि मुख्य थे। इन पथो के माध्यम से समाज मे एक आध्यात्मिक स्तर की स्थापना हुई और सास्कृतिक उद्बोधन का मार्ग सबके लिए सरल और सुलभ हो गया। साहित्य के उत्थान की दृष्टि से मुगल सम्पर्क ने ख्यात साहित्य तथा राजस्थानी काव्य परम्परा को बढावा दिया और साथ ही साथ सस्कृत भाषा का स्तर सन्तोषजनक बना रहा। इस समय के स्थापत्य और कला मे एक नवीनता और ओज दीख पडता है, जिसका विस्तार से वर्णन यथा स्थान किया जायगा। इन्ही मे राजस्थान की जीवित परम्पराएँ परिलक्षित होती हैं। चाहे वे दुर्ग हो या मन्दिर उनमे दर्शाए गए शिल्प बाहुल्य मुगल-राजपूत-सवेगो की अभि-व्यक्ति के अच्छे उदाहरण हैं। यदि कला की आत्मा भारतीय परम्परा की है तो उसका शृगार मुगली।

इधर से जब मुगल राज्य की नीवें हिलने लगी तो राजस्थानी नरेश अपने को सगठित करने के बदले आपसी झगडो मे उलझने लगे। उनमे अधिक निरकुशता बढने लगी। उनके सामन्त भी राज्य की भूमि को दबाने और उनके विरुद्ध सिर उठाने के प्रयास करने लगे। इन पारस्परिक झगडो मे अपना-अपना बल बढाने के लिए उभय पक्ष वाले होल्कर, सिंधिया और अन्य मराठे सरदारो को धन देकर सहायतार्थ बुलाने लगे। ये लोग भी अवसर का लाभ उठाकर देश को लूटने और धनाढ्य लोगो को कैद कर बहुत बड़ी धनराशि लेने लगे। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह की मृत्यु के पीछे उसके दूसरे पुत्र माधोसिंह को जयपुर का राज्य दिलाने के लिए उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) ने मल्हारराव की मदद ली। उस समय उसने मेवाड से फौज खर्च लेकर कुछ इलाको को भी दबा लिया। इस प्रकार राजस्थान मे होने वाले आंतरिक बखेडो में हस्तक्षेप कर धन बटोरना मरहठो की नीति सी बन गई। उनका साथी अमीरखां पिंडारी भी राजस्थान में लूट खसोट करने और प्रजा को सताने मे पीछे न रहा। मराठो ने राजस्थान में आधिपत्य के लिए जगह-जगह अपने अधिकारियो को बिठा रखा था जो राजा तथा प्रजा को उत्पीडन देने से नही हिचकते थे। इससे देश की आर्थिक स्थिति बिगडती जा रही थी।

परन्तु फिर भी जनता मे आत्म-विश्वास था। स्थान-स्थान पर बने मठो और देवालयो तथा राजदरबारो मे पडित, लेखक, भाट आदि थे जो सतत जनता और नरेशो का ध्यान आध्यात्मिक ज्ञान तथा शौर्य के गुणो की ओर अपने लेखन तथा साहित्य सृजन द्वारा आकर्षित कर रहे थे। ये गुण सांस्कृतिक गतिविधि के अग

थे। इस मराठा आतंक के युग में भी आध्यात्मिक शक्ति, सत्य, संयम आदि के मूल्यों पर बल दिया जाता था। ऐसे कार्यों मे जयसिंह जैसे नरेशो का भी सहयोग प्राप्त था।

परन्तु व्यावहारिक पक्ष को देखें तो लगता है कि लूट-पाट के क्षणों से उत्पन्न आरु और भय ने तथा दारिद्रय के भीषण स्वरूप ने राजस्थान के राजाओ और प्रजा की मनोवृत्ति उदीयमान अंग्रेजी शक्ति की ओर आमुख करदी। इधर सिंधिया और होल्कर अंग्रेजो के साथ लडाइयो मे परास्त हो गये तो इनके हाथ से राजस्थान की सत्ता समाप्त हो गई और यहाँ के राज्यो को अंग्रेज सरकार की रक्षा में जाना पडा। इस विदेशी सत्ता ने मराठो की तरह तो देश को न लूटा पर अपनी कूटनीति तथा आर्थिक नीति से देश को भूखा और नगा कर दिया। इस स्थिति का ज्ञान कुछ बौद्धिक वर्ग को था या देश प्रेमियो को था। उन्होने जनता मे लेखो व भाषणों द्वारा स्वदेश प्रेम को जाग्रत किया। प्राचीन संस्कृति के मूल्यो को राजाराम मोहनराय, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द और देश सेवी तिलक और महात्मा गांधी ने आत्म अनुभव से तथा त्याग से पुन स्थापित किया। रामकृष्ण की सबसे बडी देन इस युग को थी कि उन्होने भक्ति और साधना का सच्चा स्वरूप लोगो के सामने रखा। जब अंग्रेजो की विध्वंसकारी प्रच्छन्न नीति भारतीय समाज को गर्त की ओर घसीट रही थी इसी युग के मनीषियो ने राम व कृष्ण की पूजा के समर्थन के साथ वेदान्त मे अडिग विश्वास व्यक्त किया। उन्होने जहाँ प्राचीन संस्कृति के माध्यम से प्रतिमा पूजन और विश्वास को समर्थन दिया वहाँ भावना और निरंजन और निराकार के महत्त्व पर भी बल दिया। इसी तरह वर्तमान युग के ऋषि अरविंद ने भी आत्मानुशासन, समाज सेवा और योग का वैज्ञानिक विश्लेषण भारतीय आध्यात्मिक चेतना को स्फूर्ति प्रदान की।

इस वर्तमान युग के जागरण का प्रभाव यहाँ की जनता और नरेशो पर पडा। यहाँ दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि विचारको के अनुयायियो ने उनके साहित्य का जोरो से प्रचार आरम्भ किया। अजमेर स्वामी दयानन्द का देवालय बन गया। बीकानेर, कोटा, जयपुर, जोधपुर उदयपुर आदि प्रमुख नगरो मे दयानन्द के प्रशंसको और अनुयायियो की संख्या बढ गई। डॉ० ओझा जैसे इतिहासकार ने तो अपने अध्ययन और लेखन मे राजस्थान की दबी हुई पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री को उभारा जिससे प्राचीन इतिहास के गौरव की महिमा के प्रकाश का अनुभव हजारों लोग करने लगे। इतिहास और पुरातत्त्व के अतिरिक्त काव्य, नाटक आख्यान आदि क्षेत्र मे माखनलाल चतुर्वेदी ने पूर्वी राजस्थान मे नव जागृति पैदा की। उदयपुर राजवंश के महाराज चतुरसिंह ने वेदान्त को आधार बनाकर मातृभाषा में कविताओ को रचकर भारतीय संस्कृति के मूल मन्त्रो को झोपडियो तक पहुँचाया।

सगीत, नृत्य और लोक गीतो का पुनरुद्धार उदयपुर के कलामण्डल द्वारा इस प्रकार किया गया कि जनता के जीवन मे इनका मुख्य स्थान बन गया।

हमारे देश मे देश प्रेम की जो लहर उठी थी। राजस्थान भी इससे वचित नही रहा। श्यामजी कृष्ण वर्मा, जमनालाल बजाज, जयनारायण व्यास, मणिकलाल वर्मा, आदि कमठ कार्यकर्त्ताओ ने अपने त्याग और सेवा मे नव जागरण की मशाल को प्रज्वलित किया जिससे सामन्तवादी अधकार दूर हुआ और राजस्थान को अपनी स्वतन्त्रता की अवधारणा को प्राप्त करने मे बडी सहायता मिली जो एक अमूल्य सास्कृतिक उपलब्धि है।

□

अध्याय 4

सामाजिक संस्थाएँ और संस्कृति

राजस्थान की संस्कृति के विविध पहलुओं के अध्ययन के पूर्व यह अपेक्षित है कि हम राजस्थान के उस समाज के विकास का भी पर्यावलोकन करें जिसके अन्तर्गत मानव ने सांस्कृतिक उन्नति की विभिन्न मंजिलों को पार किया था। जब राजस्थान का मानव प्रागैतिहासिक युग में गुजर रहा था, उस युग के आदिम समाज की परिकल्पना करना बड़ा कठिन है। जैसा कि हमने पहले कहा, यहाँ का मानव निरा वर्बर और गिरिगह्वरों का निवासी था। पाषाण के उपकरणों के प्रयोग में वह जंगली पशुओं का शिकार कर उदरपोषण करता था। वह अपनी शिकार की तलाश में एक भाग से दूसरे भाग में विचरण करता था। समूह में रहकर या संगठित होकर काम करने की प्रवृत्ति उसमें जागृत नहीं हुई थी। इस काल का समय नृतत्वशास्त्रियों के अनुसार छः लाख वर्ष पूर्व अनुमानित है।

उसके अनन्तर आदि मानव आगे बढ़ा जिसमें उसे छः लाख वर्ष से पाँच हजार वर्ष की अवधि लग गई। इस लम्बे काल में, किसी बिन्दु से, मानव बजाय कन्दराओं के सरस्वती, दृषद्वती, बेड़च, बनास, गम्भीरी, आहड़, बागन आदि नदियों की घाटियों में रहने लगा। यहाँ रहकर धीरे-धीरे वह मकान बनाने, कृषि व पशु-पालन करने, भाण्डों के निर्माण करने तथा चित्रों द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की कलाओं को जानने लगा। इस क्रमिक विकास के युग में उसे संगठित होकर रहने और श्रम-विभाजन द्वारा कार्य सम्पादन करने की भी आवश्यकता हुई। बस यहीं से समाज संगठन की परिकल्पना का उदय तर्कसंगत लगता है। कालीबंगा, गिलूंड एवं आहड़ के विशेष प्रकार के तथा साधारण प्रकार के भवन और खनन से प्राप्त उपकरण किसी न किसी तरह के समाज संगठन एवं श्रम-विभाजन की योजना को सिद्ध करते हैं। इस स्थिति में उत्तरोत्तर मानव गाँवों में रहने, गाँवों को सुरक्षित रखने, समूह में रहने, अनुशासन का परिपालन करने आदि से परिचित होता है। कुछ ऐसे भी कार्य थे, जैसे कृषि या पशुपालन, जिनमें दायित्व और संगठन की भावना निहित थी, जिसने जनसमूह के संगठन की ओर उसे खींचा। यह समाज और सामाजिक संस्थाओं के प्रारम्भ की सीढ़ी थी।

वर्ण-व्यवस्था

इस समाज के प्रारूप के सदस्य अनेक स्थानीय कबीले थे जिनमे कृषक, शिल्पी, प्रशासकीय तथा धार्मिक वर्ग प्रमुख थे। ईसा के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व मध्य एशिया से आई हुई आर्य जाति ने सरस्वती और दृपद्वती नदियो के आसपास आकर सघर्ष एव समन्वय की प्रक्रिया द्वारा बसना शुरू किया। कालान्तर में उसने कृषि भूमि और चरागाह की खोज में पूर्वी, पश्चिमी एव दक्षिणी राजस्थान की ओर बढना शुरू किया। स्थानीय कबीलो और आगन्तुक वर्गों मे मेल तथा पृथकता की परिस्थितियाँ भी आती रही। बढ़ते हुए समाज मे गुण और कर्म का विभाजन घर करता गया। कबीलो और नवागन्तुक वर्गों की समन्वय-वृत्ति से व्यक्ति विशेष के गुण और रुचि के अनुरूप समाज का पुन वर्गीकरण हुआ जिसे हम वर्ण-व्यवस्था कहते हैं। इसमे विचारक ब्राह्मण, योद्धा, क्षत्रिय, कृषक एव व्यापारी वैश्य तथा घरेलू सहायक शूद्र कहलाये। वर्णों का यह विभाजन पारस्परिक सम्बन्ध, खान-पीन, विवाह आदि मे बाधक नही था और यह कर्म प्रधान था। इसमें व्यवसाय परिवर्तन सम्भव था। इस विभाजन से प्रत्येक व्यक्ति का समाज मे स्थान था एव उसका उत्तरदायित्व निश्चित था। नेता तथा राजाओं के धर्म मे वर्ण-व्यवस्था को सुचारु रूप मे चलाना सम्मिलित है। यह सामाजिक स्तरो का चातुवर्ण्य विभाजन वैदिक काल के अन्तिम चरण से आज तक किसी न किसी रूप मे राजस्थान के समाज का अनिवार्य अग है। अलबत्ता वर्ग-विभाजन केवल मात्र आज के युग में सास्कृतिक एव आदर्श स्थिति को ही परिलक्षित करता है।

जाति-व्यवस्था

धीरे-धीरे पूर्व मध्यकालीन युग के प्रारम्भ होने के पहले मे ही वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक जातियाँ तथा उप-जातियाँ पेशे व स्थान विशेष के नाम से पनप गईं जो समाज का व्यावहारिक रूप था। इसका प्रारम्भिक लचीलापन जटिलता मे परिणित हो गया। अब जन्म से वर्ण और जाति परिलक्षित होने लगी। परस्पर खाना-पीना या विवाह की सीमाएँ स्वजाति तक निर्धारित कर दी गईं और जाति-बन्धन धर्म का अग बन गया। भौगोलिक पृथकता या दूरी के कारण एक ही वर्ग या जाति के होते हुए उनमे भेद समझा जाने लगा।

ये पृथकता एकता के लिए वैसे तो घातक सिद्ध हुई, परन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि वर्ण एव जातीय साम्राज्य की छत्र-छाया ने सदियो तक हमारी संस्कृति को अछूता रखा। विदेशी आक्रमणो के धक्के भी राजस्थान की वर्ण-व्यवस्था की भित्ति को न ढा सके। इसी वर्ण-व्यवस्था के तत्वावधान मे लोक-धर्म, जन-विश्वास, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, आदर्श, भाषाएँ, बोलियाँ, मत-मतान्तर तथा सांस्कृतिक मूल्य अक्षुण्ण बने रहे। ये सभी तत्त्व इस प्रदेश की अन्तर्गत भावनाओ को

सिंचित करने तथा प्राणवान बनाने में सक्षम रहे। यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था का सांस्कृतिक पहलू तथा जातिगत जीवन एक-दूसरे पर आश्रित बनकर अद्यावधि राजस्थान में जीवित हैं। सतत युद्ध की स्थिति में गुजरते रहने पर भी वर्ण-व्यवस्था और जाति अनुशासन ने यहाँ के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन नहीं आने दिया। एक जाति में रहने में व्यवसायों में कुशलता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। राजस्थान के दस्तकारों तथा वैश्यों का व्यवसाय-कौशल जातिगत गुणों की देन है जो देश में ख्याति प्राप्त है। अपने वर्ण या जाति के दायरे में रहते हुए उसका सदस्य अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक तथा अपने देश की प्रतिष्ठा के लिए निष्ठावान रहता है जो इन संस्थाओं का नैतिक और सांस्कृतिक पक्ष है।[1]

आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार जीवनयापन और कार्यपरता के लिए समाज का विभाजन वर्ण और जाति के रूप में हुआ उसी तरह व्यक्तिगत जीवन को सुयोजित और क्रमबद्ध करने के लिए आश्रम व्यवस्था की भी अवधारणा की गई। मनुष्य किस प्रकार अपने सांसारिक जीवन तथा पारलौकिक जीवन को योजनाबद्ध बितावे, उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास अवस्था का निरूपण किया गया। प्रथम आश्रम में अध्ययन, दूसरे में अपने तथा कुटुम्ब के लिए श्रम और तीसरे चौथे में पारलौकिक चिन्तन तथा विरक्त और समाज सेवा के माध्यम से जीवन यात्रा को पूर्ण किया जाता है।

राजस्थान में भारतीय परम्परा के अनुसार इन स्तरों से जीवन क्रम के उल्लेख मिलते हैं। मेवाड़ के बापारावल ने इसी के अनुसार अन्तिम दिनों को सन्यस्त अवस्था में गुजारा था। चित्तौड़, गलता, मंडोर आदि स्थानों में पायी जाने वाली समाधियाँ इस अवस्था को इंगित करती हैं। कई राजकुमारों तथा समृद्ध परिवार के बालकों की शिक्षा और दीक्षा गुरुकुलों में होती थी जो अनेक शिलालेखों एवं अभिलेखों से प्रमाणित है। धीरे-धीरे समय की गति से इस व्यवस्था में शिथिलता आने लगी और आज के युग में इसका अस्तित्व समाप्त प्राय है।

इस व्यवस्था में निष्ठायुक्त क्रिया और कर्त्तव्यपालन की प्रेरणा मुख्य है। त्याग और संयमित जीवन का परिपालन आश्रम के स्तरों में मूर्धन्य रहा है। इस व्यवस्था का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक सेवा में निहित है। इस व्यवस्था का सम्बन्ध मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक उन्नति से घनिष्ठ रहा है।

---

1 जसबुर्गी, भाग, पृ 17, 20 204, कान्हडदे प्रबन्ध, 4 पृ 19-20, जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान पृ 107-108

2 शृंगिऋषि लेख, वि स 1485 (1428 ई) दक्षिणामूर्ति लेख, वि स 1770, कल्पसूत्र, पत्र 30, बीकानेर जैन लेख संग्रह, पृ 56, जी एन शर्मा, सोशल लाइफ, पृ 268-269

राजस्थान मे जो त्याग, वलिदान के उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे मिलते है, उसका मुख्य कारण यही है कि यहाँ के निवासी कर्त्तव्य और समाज के प्रति निष्ठावान रहे जो आश्रम व्यवस्था के मूल मन्त्र थे ।

संस्कार

इन्ही आश्रमो के अन्तर्गत विभिन्न सस्कारो का समावेश है जिससे व्यक्तिगत जीवन धर्मनिष्ठ, सुसस्कृत एव परिष्कृत वन सके । शास्त्रो मे जिन 16 सस्कारा का उल्लेख मिलता है, उनका अनुपालन राजस्थान मे न्यूनाधिक रूप मे विशेषत. सभी वर्णों और जातियो मे पाया जाता है । इसका सवसे वडा महत्त्व यह रहा है कि सस्कारो के परिपालन द्वारा व्यक्ति सुसस्कृत एव अनुशासित वन सके । सस्कारो का आरम्भ जन्म से मृत्यु पर्यन्त अविरल इसलिए नियोजित किया गया है कि मनुष्य अपने दायित्व के प्रति निरन्तर जागरूक रहे । इनकी गतिविधि के साथ यज्ञ, दान और देवगण इस प्रकार सयोजित किये गये है कि समाज मे आस्था और धर्मपरायणता का उद्वोधन होता रहे ।

राजस्थानी साहित्य[3] मे सीमन्तोनयन, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि सस्कारो का उल्लेख प्रचुर मात्रा मे मिलता है । जव वच्चा माता के उदर मे होता है, सीमन्तोनयन सस्कार हवन द्वारा सम्पादित किया जाता है । गुरुकुल गमन-सस्कार उपनयन से किये जाने का विधान मिलता है । विवाह सस्कार मे गणेश पूजन, मातृका पूजन, हवन, सप्तपदि आदि प्रक्रियाओ का किया जाना आवश्यक है । इस अवसर पर अनेक रस्म-रिवाजो का प्रचलन देखा गया है जो राजस्थान की विशेषताएं है । जैसे टीका, मिलणी, पीठी, वाजोट-विठावन, फेरा, सीख आदि रस्मे अपने ढग की अनूठी है । जाति-जाति मे इनको विविधता से मनाया जाता है । जैसे राजपूतो मे टीके की रस्म व्राह्मण व भाटो के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है । मिलणी सभी जातियो मे वर और वधु पक्ष से होती है जिसमे अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपहार दिये जाते है । पीठी तथा वाजोट की रस्म मे स्त्रिया की प्रधानता रहती है जिसमे वर वधु को उवटन लगाया जाता है । समृद्ध परिवारो मे दहेज वडे खर्चीले होते रहे है । इसी तरह अन्त्येष्टि की प्रक्रिया मे शास्त्रीय पद्धति राजस्थान मे खूव निभाई जाती रही है । वर और वधु के स्वागत सम्वन्धी लोकगीत वडे मार्मिक और सास्कृतिक होते है । इन दोनो की दीर्घायु की कामना के साथ उन्हे शिक्षा भी दी जाती है जो प्राचीनकालीन सभ्यता के अनुरूप है । आधुनिक सभ्यता के परिप्रेक्ष्य मे आज राजस्थान मे सस्कारो का निर्वाह मन्द और गतिहीन अवश्य हो गया है, परन्तु अन्य प्रान्तो की अपेक्षा फिर भी यहाँ इसका महत्त्व कुछ हद तक विद्यमान है ।

---

3 उपनयनपद्धति, 1703 ई , बीजा मोरडरीयात, पृ. 27-28, हवालावही, 1854, हकीकत वही, वि. स 1833; दान सग्रह पत्र 283, वाकीदास ख्यात, पत्र 36।

सती प्रथा

जहाँ हम मृत कृत्य का जिक्र करते हैं वहाँ सती प्रथा का उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि राजस्थान के रस्मो मे इसका प्रमुख स्थान है। वैसे तो यह रस्म अमानवीय है, परन्तु यहाँ के स्त्री समाज मे उसका काफी प्रचलन था। पुराणो तथा धर्म-निबन्धो मे इस कुत्सित प्रथा का उल्लेख आता है जहाँ मृत पति के साथ उसकी पत्नी स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से जीवित जल जाती है। इस गलत एव भ्रान्त भावना युक्त प्रक्रिया को इसीलिए "सहगमन" कहते हैं। शिलालेखो तथा काव्य ग्रन्थो मे अपने पति मे पूर्ण निष्ठा व भक्ति रखने वाली पत्नी के लिए भी सती शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पति के साथ जलने वाली महिला के कृत्य को "सत्यव्रत" बतलाया है।[4]

उत्तर प्राचीनकालीन व मध्यकालीन अभिलेखो व साहित्य ग्रन्थो में सती के कतिपय उल्लेख मिलते हैं। हूणो के विरुद्ध युद्ध मे मरने वाले सेनापति गोपराज की पत्नी 510 ई० मे सती हुई थी। घटियाला अभिलेख (810 ई०) से प्रमाणित है कि राजपूत सामत राणुक की पत्नी सपलदेवी ने सहगमन किया। राजस्थान के सुप्रसिद्ध राजाओ, जैसे प्रताप, मालदेव, बीका, जसवन्तसिंह, मुकन्दसिंह, भीमसिंह, जयसिंह आदि के मरने पर कई रानियाँ, उप-पत्नियाँ, खवासने और दासियाँ सती हुई थी। राजाओ के विशिष्ट कर्मचारियो मे भी यह प्रथा चल पड़ी थी। महाराणा प्रताप के आश्रित ताराचन्द की चार स्त्रियाँ 1591 मे उसके साथ सती हुई। 1680 के मेड़ता के युद्ध के बाद और चित्तौड़ के तीन शाको के अवसर पर साधारण परिवार की हजारो महिलाओ ने सत्यव्रत का पालन किया था जो स्थानीय सती-स्मारक स्तम्भो मे प्रमाणित है।[5]

प्रारम्भ मे जब तक "सहगमन" का धार्मिक महत्त्व था, विकल्प के रूप में इस प्रथा का प्रचलन रहा। परन्तु जब युद्ध की सम्भावनाये बढ़ने लगी, त्यो ही पतियो के मरने पर युद्धोत्तर यातनाओ से बचने के लिए महिलाओ के लिए यही एकमात्र विकल्प बचा था कि वे अपने मृत पति के साथ सती हो जाय। आक्रमणो के अवसरो पर बन्दी बनाये जाने, जलील होने या धर्म परिवर्तन की सम्भावना के भय ने भी इस भयावह परिस्थिति का अनुकरण अनेक स्त्रियाँ करती थी। धीरे-धीरे स्वार्थों तथा प्रतिष्ठा सम्बन्धी तत्त्वो ने भी इस जघन्य प्रथा को बढ़ावा दिया।[6]

राज-परिवार की महिलाये घोड़े या पालकी मे बैठ कर सिर पर पगड़ी

---

4 धुनेध अभिलेख, वि स 1431, चीरवालेख वि 1330, रा. इ भाग 927, पृ 285-92

5 राजद्वार पागजात, वि सं 1715-1880, सती स्तम्भ मेड़ता चित्तौड़, रणथम्भोर आदि वि स 1500-1800

6 जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मध्यित्र राजस्थान, पृ 126-127

धारण कर और हाथ में खजर लेकर महलो के मुख्य द्वारो तथा नगर के प्रमुख द्वारो तथा नगर के प्रमुख मार्गों से अपने पतियो की सवारी के साथ जाती थीं। मार्ग मे अपने आभूषणों को उतार कर बांटती भी जाती थी। अजितोदय मे वर्णित है कि जब जसवन्तसिंह की मृत्यु की सूचना जोधपुर पहुँची तो उनकी पत्नियों ने स्नान कर आभूषण और फूलो से अपने को सजाया और पालकी मे बैठ कर गाजे-बाजे व भजन मण्डलियो की अगुवाई मे मण्डोर के राजकीय श्मशान की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँच कर अपने पति की पगडियो को गोद मे लेकर चिता मे प्रविष्ट कर वे भस्म हो गई।[7]

एक ओर रूढ़िवादी तत्त्वो ने इस प्रथा का समर्थन किया है तो दूसरी ओर कुछ शास्त्रकारो, भाष्यकारो और जैन लेखकों ने इस कृत्य को पाप और आत्महत्या की संज्ञा दी है। भाग्यवश राजा राममोहनराय तथा बैंटिक के स्तुत्य प्रयास से इस प्रथा का देश में और राजस्थान मे अन्त हो गया। अब भावावेश मे ही सती होने के यदा-कदा समाचार मिलते हैं।[8]

जौहर

सती की भाँति एक और प्रथा थी जिसे जौहर कहते हैं। इस प्रथा के अनुसार सामूहिक रूप से स्त्रियाँ उस समय अपने को अग्नि मे भस्म कर देती थी। जब शत्रुओं के आक्रमण के समय उनके पतियो के युद्ध मे पुन लौटने की कोई आशा नही रहती थी और न उनका दुर्ग दुश्मनो के हाथ से बचना सम्भव था। ऐसे अवसरो पर स्त्रियाँ, बच्चे व बूढे अपने आपको तथा दुर्ग की सम्पूर्ण सम्पत्ति को अग्नि मे डाल कर भस्म हो जाते थे। ऐसा करने का अभिप्राय धर्म एव आत्मसम्मान की रक्षा था जिससे शत्रुओ के द्वारा बदी बनाये जाने की अवस्था मे उन्हें अनैतिक एव अधर्म आचरण न करना पडे। ऐसे कार्य से वे देश एव स्वजनो के प्रति भक्ति अनुप्राणित करते थे और युद्ध मे लडने वाले वीर मातृभूमि की रक्षा के लिए शौर्य और बलिदान की भावना से निश्चिन्त शत्रुओ पर टूट पड़ते थे।[9]

समसामयिक लेखको ने जौहर के सम्बन्ध मे अच्छा विवरण दिया है। तारीखे अलाई का लेखक लिखता है कि जब अलाउद्दीन खिलजी ने 1301 ई मे रणथम्भोर पर आक्रमण किया और किले को बचाने का कोई मार्ग न बचा तो इधर रणथम्भोर का राय अपने वीर साथियो के साथ किले के फाटक को खोल शत्रु-दल पर टूट पडा और वहाँ की वीरागनायें इसके पूर्व ही अग्नि मे कूद कर स्वाहा हो गई। जालोर के आक्रमण के समय वहाँ के जौहर का पद्मनाभ ने भी रोमाचकारी वर्णन किया है, यह बतलाते हुए कि रमणियो की साहसी आहुति ने योद्धाओ

---

7 महाराणा अमरसिंह की छत्री, उदयपुर, अजितोदय, सर्ग 4, पृ. 21-24.
8 मेधातिथि मनु 8, 156-7 स्मृति चन्द्रिका व्यवहार खड, पृ. 598.
9 जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ 129-130

को निश्चिन्त कर दिया और वे बडी दिलेरी से शत्रुदल पर टूट पडे। 1503 ई, 1535 ई तथा 1568 ई के चित्तौड के तीनो शाको के अवसर पर पद्मिनी, कर्मेती तथा पत्ता व कल्ला की पत्निया के जौहर जगत् प्रसिद्ध हैं। अकबर के समय का जौहर तो इतना भीषण था कि चित्तौड दुर्ग का प्रत्येक घर व हवेली जौहर स्थल वन गया। परिस्थितिवश ये प्रथाएँ चल पडी, किन्तु सती प्रथा या जौहर की प्रथा को मानवीय कसौटी पर खरा नही प्रमाणित किया जा सकता।[10]

लोकोत्सव

सामाजिक जीवन और उससे सम्वन्धित सस्थाओ मे लोकोत्सवो का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। स्थानीय सस्कृति की अभिव्यक्ति लोकोत्सवो मे स्पष्ट देखी जा सकती है, क्योकि उनके साथ प्राचीन परम्पराएँ तथा विचारधाराएँ जुडी रहती हैं। ये विचारधाराएँ और परम्पराएँ धार्मिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक होती है। जब-जब लोकोत्सवो का आयोजन होता है तो देश या प्रान्त के सास्कृतिक पहलू के एक स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है जिसमे प्रत्येक तबके का व्यक्ति सम्मिलित ढग से बडे उत्साह से भाग लेता है। इन उत्सवो, ऋतुओ एव विशेष अवसरो को ऐसा सयोजित किया जाता है कि जन-भावना मे नैसर्गिकता दीख पडती है। राजस्थान मे प्राकृतिक वातावरण मे विभिन्नता होने से लोकोत्सवो का भी एक विचित्र स्वरूप वन गया है। अलग-अलग मौसम मे अलग-अलग स्थानो मे वेश-भूषा, नाच-गान या प्रदर्शन अपनी विशेषताओ को लेकर इस तरह रचे जाते हैं कि लोकोत्सवो मे नये जीवन का सचार हो जाता है। स्त्रियाँ महावरो और माडनो या व्रतो द्वारा इन उत्सवो मे एक नई उमग भर देती हैं। इन अवसरो मे गाये जाने वाले लोकगीतो अथवा कहे जाने वाली लोकवार्ताओ मे धार्मिक निष्ठा तथा ऐतिहासिक तथ्य छिपे पडे है जो राजस्थानी सस्कृति के द्योतक हैं। अब हम कुछ लोकोत्सवो का वर्णन करते हैं जो अपनी स्थानीय विशेषताओ को व्यक्त करते है।

गणगौर

राजस्थान के सभी त्योहारो मे, जो सामाजिक और धार्मिक हैं, गणगौर का उत्सव वडे महत्त्व का है। राजस्थानी सधवा स्त्रिया एव कुमारिया इसको असीम श्रद्धा और निष्ठा से मनाती हैं। इस कामना के साथ कि उनके पति दीर्घायु हो, सधवाओ का सुहाग चिरकालीन रहे और कुमारिकाओं को अच्छे वर की प्राप्ति हो। यह त्योहार एक व्रत का भी अग माना जाता है। स्त्रियाँ 15 दिन तक व्रती रहकर शिव-पार्वती का पूजन करती हैं। व्रत होलिका-दहन से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला

---

10) [illegible], भाग 3, पृ 3, पृ 75, कान्हडदे प्रबन्ध भाग 1, पृ 210-212, [illegible], भाग 5, पृ 173-174, अकबरनामा, भाग 2, पृ 404, नैणसी, 199, गो॰ ना॰ शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ 76-77

मेहन्दी माडणा

गणगौर पूजन

दशहरा, कोटा

दीपावली पर्व पूजन

एकम और कहीं-कहीं तृतीया तक समाप्त होता है। इस अवसर पर होली के राख के पिण्ड भी बनाये जाते हैं और यव के अंकुरों के साथ इनका पूजन होता है। कुमारियाँ बाग-बगीचों से फूलों को कलश में सजाकर गीत गाती हुई अपने घर ले जाती हैं। इस अवसर पर चूड़ा और चूंदड़ी की अक्षयता की कामना की जाती है और उसी के उपलक्ष्य में विविध नृत्यों का आयोजन और गीतों का गायन किया जाता है।

गणगौर का त्यौहार शिव-पार्वती के रूप में ईसरजी और ईसरीजी के पूजन की प्रतिमाओं के द्वारा मनाया जाता है। ऐसी मान्यता है कि इस उत्सव का आरम्भ पार्वती के गौने या अपने पिता के घर पुनः लौटने और उसकी सखियों द्वारा स्वागत गान को लेकर हुआ था। इसी स्मृति में आज भी गणगौर की काष्ठ की प्रतिमाओं को सजा कर मिट्टी की प्रतिमाओं के साथ स्त्रियाँ किसी जलाशय पर जाती हैं और नृत्य और लोकगीतों की ध्वनि में मिट्टी की प्रतिमाओं को विसर्जन कर काष्ठ प्रतिमाओं को पुनः लाकर स्थानापन्न करती हैं। हकीकत वहियों से प्रमाणित है कि इस उत्सव को जोधपुर, जयपुर, उदयपुर, कोटा आदि राज्यों में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था जिसमें स्वयं राज्यों के राजा तथा कर्मचारी सवारी के साथ सम्मिलित होते थे। कोटा में तो अनेक जातियों की स्त्रियाँ, जिनमें कूंजड़िया, लरारन, भड़भूंजा आदि भी सम्मिलित होती थी और राजप्रासाद के आंगन में आकर नृत्य करती थी। उदयपुर में मनाये जाने वाले उत्सव में गणगौर की सवारी का कर्नल टॉड ने बड़ा रोचक वर्णन किया है, जहाँ अट्टालिकाओं में बैठकर सभी जातियों की स्त्रियाँ, बच्चे और पुरुष रंग-रंगीले आभूषणों से सुसज्जित हो गणगौर की सवारी को देखते थे। यह सवारी तोप के धमाके से और नगाड़े की आवाज से राजप्रासाद से आरम्भ होकर पिछोला तालाब के गणगौर घाट तक बड़ी धूम-धाम से पहुँचती थी और नौका-विहार तथा आतिशबाजी के प्रदर्शन के बाद समाप्त होती थी।[11]

यह त्यौहार आदिवासियों में भी बड़े उत्साह से मनाया जाता है, क्योंकि आर्य देव शिव और आर्यदेवी पार्वती को द्रविड़ों ने भी अपना लिया था। इनके लोकगीतों में इन देव और देवी को जनसाधारण की तरह लोक जीवन बिताते चित्रित किया गया है, जो लोक व्यवहार और देव जीवन में एकत्व की भावना प्रगट करते हैं। आर्य और द्रविड़ संस्कृति के समन्वय का यह त्यौहार एक अच्छा उदाहरण है।

---

11. दस्तूर कौमवार, 1757 ई., हकीकतवही, वि. सं. 183-33, भंडार नं. 1, बस्ता नं. 62, वि. सं. 1838, फाइल नं. 3, टॉड राजस्थान, भाग 1, पृ. 10-455 (पाउल, लंदन संस्करण)।

इसी के अन्तर्गत अन्नकूट का महोत्सव और गोवर्धन-पूजन की व्यवस्था मे भारतीय समृद्धि तथा गोपालन एव अन्न उत्पन्न करने के खाद (गोवर) को प्रधानता दी गई है। राजस्थान मे नाथद्वारा, काकरोली और कोटा मे अन्नकूट पुष्टि मार्गीय विधि से मनाया जाता है। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी से लेकर कार्तिक शुक्ला द्वितीया तक दीपावली के माध्यम से विविध उत्सवो का सामजस्य अपने आप मे अनूठा है।[15]

अन्य उत्सव

ऋतु तथा धर्म के परिपेक्ष्य मे भारतीय जीवन मे अन्य कई उत्सव है जिनमे अक्षय तृतीया, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, गणेश चतुर्थी, शरद पूर्णिमा, बसत पचमी, नाग पचमी आदि प्रमुख ह। इन सभी उत्सवो मे धर्मनिष्ठा और लोक जीवन की विविधता को इस प्रकार समावेशित किया गया है कि भारतीय सस्कृति का निराकार स्वरूप साकार सा दिखाई देता है। सभी लाभप्रद प्रक्रियाओ को धार्मिक वृत्तियो के साथ जोडकर जीवन की उपयोगिता को सार्थक बना दिया गया है। राजस्थान मे जहाँ निष्ठा और सरस जीवन का अधिक महत्त्व है, ये सभी त्यौहार यहाँ सजीव से बने हुए है और ऐसा लगता है कि सास्कृतिक दृष्टि मे इस युग मे अब भी परम्परा की मान्यता विद्यमान है।

इन पर्वो के अतिरिक्त जैन सम्प्रदाय मे सम्बन्धित भी अनेक उत्सव है जिन्हे राजस्थान मे बडी श्रद्धा के साथ मनाया जाता है। जैनो का सबसे पवित्र और महत्त्वपूर्ण उत्सव पर्यू षण है जो भाद्रपद मे मनाया जाता है। श्रावकगण इस अवसर पर मन्दिर जाते है, पूजन, अर्चन, स्तवन, कीर्तन, व्रत, उपवास आदि प्रक्रियाओ द्वारा आत्म-शुद्धि, सयम एव नियम का पालन करते है। इस उत्सव का अन्तिम दिन सवत्सरी कहलाता है। इसके दूसरे दिन, अर्थात् आश्विन कृष्णा एकम को क्षमापणी पर्व मनाया जाता है। इस दिन सभी श्रावक एक जगह इकट्ठे होकर एक दूसरे से क्षमा याचना करते है। दूर रहने वालो को पत्र द्वारा दोपो को भूल जाने की प्रार्थना की जाती है जिससे प्रतिवर्ष पारस्परिक द्वेषो का अन्त होता रहे और सौहार्द्र का वातावरण बने। इस पर्व मे नैतिक आचरण और धार्मिक चिन्तन की प्रधानता है जो भारतीय सस्कृति का मूल मत्र है।[16]

अष्टाह्निका महोत्सव को प्रति चौथे माह आषाढ, कार्तिक एव फाल्गुन शुक्ल पक्ष मे अष्टमी से पूर्णमासी तक व्रत, उपवास, कीर्तन आदि द्वारा जैन मनाते है। इस अवसर पर 52 जिन चैत्यालयो की अर्चना भी होती है। इसी प्रकार सोलह

---

15 दस्तूर कौमवार, भाग 25, वि स 1774, 1784, सडा न 1, 3, बस्ता न 3, वि स 1847, हकीकत बही, वि सं 1822, जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ. 171-172

16 जैनाचार, पत्र 20-28, जयसमर, नाडुल बीकानेर व उदयपुर जैन भण्डार मे क्षमापण पत्रो की प्रतिलिपियां, [illegible]।

कारण का उत्सव भाद्रपद कृष्णा से प्रारम्भ होकर आश्विन कृष्णा तक तथा दश-लक्षण भाद्रपद शुक्ला पचमी से चतुर्दशी तक एव रत्नत्रय भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी से पूर्णिमा तक मनाये जाते हैं। इन अवसरो पर क्रमश सोलह भावना, दशलक्षण तथा रत्नत्रय के सिद्धान्तो पर मनन, श्रवण एवं अध्ययन होता है। विशिष्ट चिन्तको के द्वारा इन गूढ तत्वो का साधारण व्यक्तियो को भी ज्ञान होता है और उनमे लोक-कल्याण की भावना जागृत होती है। वीर जयन्ती को चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को महावीर के जन्म और दीपमालिका के प्रात काल को महावीर स्वामी के निर्वाण की स्मृति मे मनाया जाता है। महावीर भारतीय सस्कृति को नया मोड देने वाले युग पुरुष थे।[17]

राजस्थान मे मुसलमानो की सख्या सतोपजनक है और यहाँ का वातावरण इतना सौहार्द्रपूर्ण है कि जब से ये लोग यहाँ आकर बस गये तब से उन्हें अपने धार्मिक एव सास्कृतिक त्यौहारो के मनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रही है। सबसे बडी विशेषता इस सम्बन्ध मे यह है कि इनके कई त्यौहारो मे हिन्दू, जैन व ईसाई समाज का सहयोग रहता है। यहाँ तक कि राज्य की ओर से उनको त्यौहार मनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता रहा है। मन्दिरो की भाँति मस्जिदो को अनुदान समर्पण और पण्डितो की भाँति काजियो को पदो तथा भेटा से सम्मानित किया जाता रहा है। इन सभी अवसरो मे राजस्थान का अधिकाश जनसमूह भाई-चारे का व्यवहार प्रदर्शित करता रहा है और इसमे जातिवाद का दोप नही देखा गया है। ऐसा लगता है कि ये त्यौहार भारतीय सस्कृति के अग से हो गये है।

मुसलमानो के महान् पर्वो मे ईदुलजुहा, जिसे बकरीद भी कहते है, जिल्कार की दसवीं तारीख को अबाहम द्वारा अपने प्रिय पुत्र इस्माइल की कुर्बानी की स्मृति मे मनाया जाता है। इस अवसर पर जब चादर हटाई गई तो बजाय अपने पुत्र के भेड कटी मिली। इसी घटना को लेकर अब उसी के प्रतीक के रूप मे बकरे, भेड आदि की कुरबानी की जाती है और उसके मास को वितरित किया जाता है तथा पारस्परिक प्रेम को बढ़ाया जाता है। मुहर्रम भी एक शोक मनाने का मुसलमानो का त्यौहार है जबकि वे दस दिन तक उपवास रखते हैं और अन्तिम दिन मुहम्मद साहिब के नाती हुसेन इमाम के बलिदान के उपलक्ष्य मे ताजिये निकालते हैं और उन्हे किसी जलाशय मे दफना कर लौटते हैं तथा गरीबो को खैरात बाँटकर उपवास तोडते हैं। शबेरात का त्यौहार बडी खुशी का होता है, क्योंकि ऐसा विश्वास है कि उस दिन सभी मानव के कर्मो की जाच होती है और उनके कर्मो के अनुसार उनके

---

17. आबूलेख, वि. स. 1287, शत्रुन्जयलेख, वि. न. 1587; भावनगर शिलालेख, भाग 10, पृ 29; धुलेव रेकार्ड्स, वि स 1759-1761, ए पि. ई. भाग 11, पृ. 51; पीके गोडे, ए बी ओ आर. आई. भाग 26, पृ. 226; मार्गरेट-स्टेवनसन, जैन फेस्टिवल्स एण्ड फास्ट, पृ 8, 75-79, डा अल्टेकर, पृ. 291; जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 174-176

भाग्य का निर्धारण किया जाता है। मुहम्मद साहिब के पवित्र जन्म एव मरण की स्मृति मे बारावफात का त्यौंहार मुस्लिम समाज बडी भक्ति से मनाता है। रमजान के व्रत की समाप्ति का दिन इदुल फितर कहलाता है जिस दिन सर्वत्र आपसी मिलन और नई पोशाक मे मुस्लिम समाज दिखाई देता है।[18]

ईसाई पर्वो मे पहली जनवरी, ईस्टर, गुडफ्राइ-डे, क्रिसमस-डे आदि हैं जिन्हे लोग गिरजाघरो एव ईसाइयो के निवास स्थान मे बडे उल्लास से मनाते हैं। किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न हो, मित्रता और परिचय के नाते वह अपने सभी ईसाई मित्रो से इन त्यौंहारो पर मिलता है, साथ बैठता है और खाता है। भेदभाव को भूलकर मिलना-जुलना ही तो सस्कृति का उज्ज्वल पक्ष है।

सांस्कृतिक मेले

मेलो से अभिप्राय यह है कि एक विशेष स्थान पर जनसमूह का मिलना और उत्सवो का मनाना। जिन उत्सवो का ऊपर वर्णन किया, उनके साथ कुछ मेले भी जुडे हुए है और कुछ मेले ऐसे है जिनके साथ धार्मिक भावनाएँ या यात्राएँ सम्मिलित है। राजस्थान के गाँवो मे और शहरो मे अपनी आबादी के अनुपात से मेलो का आयोजन होता है। बडे और स्थानीय मेलो मे गाँव के गाँव शहर के शहर या कस्बे के कस्बे एक स्थान पर विशेष अवसर को मनाने के लिए उमड पडते हैं। ऐसे अवसरो मे आदिवासियो के विवाह सम्बन्ध या वर-वधु का चयन भी होता है। कभी-कभी प्राचीन परम्परा के अनुसार वर-वधु की परीक्षा बल प्रयोग मे भी होती है और जो वर का दल अपने बल से वधु को एक सीमा के बाहर ले जाता है तो उस पर उस दल के वर का अधिकार माना जाता है। जब कभी मेले के अवसर पर किसी बार पराजित वर का दाव लग जाता है तो उसी वधु को दूसरे दल का वर अपनी पत्नी के रूप मे ले जाता है। केसरियाजी के मेले[19] पर ऐसी घटनाएँ आज भी देखी जाती हैं। दस्तकारो या कृषको के जातिगत झगडे भी मेलो के आयोजनो के समय निपटाये जाते है। साधारणत मेले पर नृत्य-गान, तमाशा, प्रदर्शन आदि कार्यो द्वारा उल्लास, प्रेम, मित्रता आदि को बढावा मिलता है। मेलो का सास्कृतिक पक्ष कला प्रदर्शन तथा सद्भावनाओ की अभिवृद्धि है। तीज, ताजिया, गणगौर आदि के मेले इसी सज्ञा मे आते हैं।

मेलो का महत्त्व देवो और देवियो की आराधना को लेकर भी है, क्योकि मानव-वृत्ति को शक्ति देवार्चन मे मिलती है। मनोकामनाओ की सिद्धि के लिए

---

18 गर्गसंहिता, बासंग 18वीं सदी, बस्तार न 1, बस्ता न 2, 62, 72 आदि, कोटा रेकार्ड्स, कुक इस्लाम, पृ 210-220, आटट लाइन ऑफ इस्लामिक कल्चर, पृ 704-715; टेम्पू, फेस्ट और फेस्टिवल्स, पृ 200-210

19 बस्ता रेकार्ड्स नि सं 17-18-19-20 सनाम्थियां; फुटकर पत्र, 18-20वी सदी।

पुष्कर, अजमेर

मनुष्य देवालयो मे जाते है और सामूहिक रूप से वहाँ एकत्रित होते हैं। भैरूजी, हनुमानजी, शिव-पार्वती, विष्णु आदि के देवालयो पर विशेष मौको पर मेले लगते है और दूर-दूर से लोग इकट्ठे होकर अपनी श्रद्धा का इजहार करते हैं। जयपुर इलाके मे बालाजी का मेला, अन्नकूट पर नाथद्वारा का मेला, हिण्डौन के पास महावीरजी का मेला और आबू के जिला नागौर मे पीरजी का कुमारी गाँव का मेला, गोर मगलोद मे दधिमति माता का मेला, उदयपुर के पास चारभुजा का मेला, करौली मे केलादेवी का मेला, एकलिंगजी मे शिवरात्रि का मेला, केसरियाजी का धुलेव का मेला, अलवर के पास भर्तृहरि का मेला, अजमेर मे पुष्करजी का मेला, आदि धर्म प्रधान मेले हैं जिनमे भजन-भाव, नृत्य, भक्ति आदि से जनता विभोर होती है और स्नान व अर्चना से अपने को कृतार्थ समझती है। धार्मिक दृष्टि से ऐसे मेले संस्कृति के मुख्य भाग हैं। एक पीढी मे दूसरी पीढी तक ये परिपाटी प्रवाहित होती रहती है जो सास्कृतिक उद्बोधन के लिए परमावश्यक है। इन मेलो को विशेष महीनो और तिथियो के साथ जोडकर प्रकृति के साथ भी उन्हे समुचित रूप मे सयोजित किया गया है। ऐसे अवसरो का आर्थिक दृष्टि से भी वडा उपयोग है।[20]

इन मेलो के अतिरिक्त राजस्थान में कुछ ऐसे भी मेले है जिनको किसी सत, महात्मा, त्यागी या वलिदानी की स्मृति मे लगाये जाते हैं। ऐसे लोक नायको के चरित्र और जीवन-लीला की याद अनायास आ जाती है जव हम उस अवसर पर पार्थिव रूप से वहाँ उपस्थित होते हैं। उनके चरित्रो का स्मरण और उनकी गाथाओ का श्रवण जन-समूह मे एक नई प्रेरणा देता है। राजस्थान ऐसे लोक-नायको के नाम से भरा पडा है जिनमे पावूजी, रामदेवजी, गोगाजी, तेजाजी, करणीजी आदि प्रमुख हैं। इन महान् आत्माओ ने अपने सम्पूर्ण जीवन को जन-कल्याण के लिए अर्पित कर अमरत्व प्राप्त किया। उदाहरणार्थ परवतसर मे तेजाजी का मेला भादवा सुदी 10 को भरता है, जिस अवसर पर तेजाजी के पवाडे वडी श्रद्धा से गाये जाते है। रामदेवजी और रुणिचा गाँवो मे रामदेवजी के मेले भादवे और माघ महीनो मे भरते हैं। ये वडे पहुँचे हुए सत थे जिनके व्यावले गाये जाते हैं और जिनकी तान मे भक्तजन झूमने लगते है। अन्य स्थानो मे भी इनकी स्मृति मे मेले लगते हैं, लोग इनकी मूर्ति को पहिनते हैं और कपडे पर-वने घोड़े के प्रतीको को लेकर नृत्य करते है। पावूजी, जिन्होने अपने वचन निभाने और गायो की रक्षा में प्राण गंवाये थे, अपने ढग के अच्छे कर्मठ वीर थे। इनकी स्मृति में वने पवाडे स्थान-स्थान पर रात-रात भर गाये जाते है। फलौदी के पास कोलूगढ़ मे भोपे इकट्ठे होते हैं और वहाँ वडा मेला लगता है। भादवा सुदी 9, 10, 11 को तीन दिन तक रामदेवजी की स्मृति मे मेला लगता है, जहाँ लाखो यात्री एकत्रित होते

20 देवस्थान फाइल, 18वीं सदी।

हैं। ददरेवा का गोगाजी का मेला बड़ा ख्याति प्राप्त है। चैत्र शुक्ला 1 से 9 तक देशनोक में करणी माता का मेला लगता है, जिसने अपने पराक्रम के लिए बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। चारणों में आज भी इनकी बड़ी मान्यता है। अजमेर में ख्वाजा साहिब चिश्ती की याद में रजब अव्वल में 6 तक उर्स का मेला लगता है जिसमें देश विदेश से लाखों यात्री आते हैं। मध्य एशिया से आकर इन्होंने अजमेर में निवास किया और 12वीं शताब्दी में सूफी सम्प्रदाय का प्रसार किया। जिस स्थान पर इन्हें दफनाया गया था वह उनकी दरगाह के नाम से प्रख्यात है जो भक्तों द्वारा बड़ी श्रद्धा से अर्चित होती है। ये सूफी संत त्याग और धर्म निरपेक्षता की प्रतिमूर्ति थे।[21]

धार्मिक स्नान की महिमा के अन्तर्गत पुष्कर और गलता के मेले हैं जिनका वर्णन पुराणों में मिलता है। ऐसी मान्यता है कि जब तक पुष्कर के कुण्ड में स्नान न कर लिया जाय तो चारों धामों की यात्रा सम्पूर्ण नहीं मानी जाती। पुष्कर में ब्रह्मा की बड़ी प्राचीन मूर्ति है और गलता तीर्थ स्थल गालव ऋषि का आश्रम होने के नाते प्रसिद्धि प्राप्त है। इन स्थानों में यात्री स्नान कर कृत-कृत्य होते हैं और वे अपने को पुण्य लाभ के भागी समझते हैं।[22]

परिवार और नारी

पारिवारिक जीवन स्वयं एक संस्था है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दैनिक कार्य संस्कार, उत्सव, व्रत, यज्ञ, विवाह, मिलना-जुलना, शोक, हर्ष आदि घटनाएँ परिवार के सदस्यों द्वारा सम्पादित होती हैं और उन्हें सामाजिक एवं शास्त्रीय विधि विधान के माध्यम से पूरा किया जाता है। ये परिवार एक पीढ़ी की परम्परा न होकर अन-गिनित पीढ़ियों के सोपान हैं। इन सदियों पुराने परिवारों में माँ, बाप, भाई, भगिनी, पुत्र, पुत्रियों, दादा व दादियों के क्रम में व्यक्तियों के रूप में बदलते रहते हैं, परन्तु कुटुम्ब प्रणाली की संस्था अपने आप में निरन्तर है। इसी तरह परिवार से समाज और समाज से राज्य और राज्य से राष्ट्र आदि घटकों का निर्माण होता है तथा उनका सम्बन्ध एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित है और अविभाज्य है। पारिवारिक सम्बन्ध में सगोत्रता और रक्त सम्बन्ध इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं कि उनमें प्रेम, ऐक्य, सहयोग आदि की भावना नैसर्गिक होती है।

परिवार की व्यापकता और भावनात्मक स्थिति की सम्भावना का सूत्र विवाह है और विवाह का आधार नारी है। पुरुष और नारी के संयोग से पारिवारिक परिधियाँ विस्तारित होती रही हैं। प्राचीन काल से राजस्थान में पारिवारिक जीवन के प्रतीक मिलते हैं, जो कालीबंगा, आहड़, बागोर, बागड़ आदि स्थानों के

---

21. नैणसी ख्यात, पत्र 28, जी एन. शर्मा सोशल लाइफ, पृ. 207
22. मधुप मिश्र भारत, भाग 3, पृ 177, पुष्कर, पृ. 124–254

कार्तिक पूर्णिमा स्नान, पुष्कर

है। ददरेवा का गोगाजी का मेला बड़ा ख्याति प्राप्त है। चैत्र शुक्ला 1 से 9 तक देशनोक मे करणी माता का मेला लगता है, जिसने अपने पराक्रम के लिए बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। चारणो मे आज भी इनकी बड़ी मान्यता है। अजमेर मे ख्वाजा साहिब चिश्ती की याद मे रजब अव्वल मे 6 तक उर्स का मेला लगता है जिसमे देश विदेश से लाखो यात्री आते है। मध्य एशिया से आकर इन्होने अजमेर मे निवास किया और 12वी शताब्दी मे सूफी सम्प्रदाय का प्रसार किया। जिस स्थान पर इन्हें दफनाया गया था वह उनकी दरगाह के नाम से प्रख्यात है जो भक्तो द्वारा बड़ी श्रद्धा से अर्चित होती है। ये सूफी संत त्याग और धर्म निरपेक्षता की प्रतिमूर्ति थे।[21]

धार्मिक स्नान की महिमा के अन्तर्गत पुष्कर और गलता के मेले है जिनका वर्णन पुराणो मे मिलता है। ऐसी मान्यता है कि जब तक पुष्कर के कुण्ड मे स्नान न कर लिया जाय तो चारो धामो की यात्रा सम्पूर्ण नही मानी जाती। पुष्कर मे ब्रह्मा की बड़ी प्राचीन मूर्ति है और गलता तीर्थ स्थल गालव ऋषि का आश्रम होने के नाते प्रसिद्धि प्राप्त है। इन स्थानो मे यात्री स्नान कर कृत-कृत्य होते हैं और वे अपने को पुण्य लाभ के भागी समझते हैं।[22]

परिवार और नारी

पारिवारिक जीवन स्वयं एक संस्था है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दैनिक कार्य संस्कार, उत्सव, व्रत, यज्ञ, विवाह, मिलना-जुलना, शोक, हर्ष आदि घटनाएँ परिवार के सदस्यो द्वारा सम्पादित होती हैं और उन्हे सामाजिक एवं शास्त्रीय विधि विधान के माध्यम से पूरा किया जाता है। ये परिवार एक पीढी की परम्परा न होकर अन-गिनित पीढियो के सोपान है। इन सदियो पुराने परिवारो मे माँ, बाप, भाई, भगिनी, पुत्र, पुत्रियो, दादा व दादियो के क्रम से व्यक्तियो के रूप मे बदलते रहते हैं, परन्तु कुटुम्ब प्रणाली की संस्था अपने आप मे निरन्तर है। इसी तरह परिवार से समाज और समाज से राज्य और राज्य से राष्ट्र आदि घटको का निर्माण होता है तथा उनका सम्बन्ध एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित है और अविभाज्य है। पारिवारिक सम्बन्ध मे सगोत्रता और रक्त सम्बन्ध इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए है कि उनमें प्रेम, ऐक्य, सहयोग आदि की भावना नैसर्गिक होती है।

परिवार की व्यापकता और भावनात्मक स्थिति की सम्भावना का सूत्र विवाह है और विवाह का आधार नारी है। पुरुष और नारी के संयोग से पारिवारिक परिधियाँ विस्तारित होती रही है। प्राचीन काल मे राजस्थान मे पारिवारिक जीवन के प्रतीक मिलते है, जो कालीबंगा, आहड, बागोर, बागड आदि स्थानो के

---

21 नैणसी ख्यात, पत्र 28; जी एन शर्मा सोशल लाइफ, पृ. 207
22 [illegible] भाग 3, पृ 177, [illegible], पृ. 124-254

कार्तिक पूर्णिमा स्नान, पुष्कर

उत्खनन से स्पष्ट है। पूर्व मध्यकालीन स्थापत्य के उत्कीर्णों के नमूनो मे अनेक
पारिवारिक जीवन के दृश्य सुरक्षित है। शिलालेखो मे भी कौटम्बिक जीवन या
स्थानीय साहित्य मे कुटुम्ब प्रणाली के उल्लेखो की कमी नही है। आज भी सामा-
जिक जीवन का आधार परिवार है जो सर्व विदित है।

इस प्रकार के पारिवारिक जीवन के सदर्भ मे वारीकी से यदि हम देखें तो
हम पायेंगे कि कौटुम्बिक जीवन की सृजनात्मक प्रवृत्ति को जीवित रखने का श्रेय
नारी को है। स्नेह, प्रेम, वात्सल्य-भाव, आकर्षण गुरुत्व, सेवा, लालन-पालन, धर्म
सवहन आदि गुणो का समावेश स्त्री स्वभाव मे निहित है, अत धार्मिक एव
सामाजिक व्यवस्था मे स्त्रियो का स्थान सर्वदा महत्त्वपूर्ण रहा है। लोक-सस्कृति,
जिमको जीवन्त सस्कृति कहना चाहिए, स्त्रियो द्वारा ही सचालित एव परिवर्धित
होती है। इन विभिन्न उत्सवा, सस्कारो, मेलो आदि के रचनात्मक स्वरूप को सजाने
का काम नारियो ने ही किया है। कोई भी उत्सव या त्यौहार गायन-नृत्य के विना
सम्पादित नहीं होता। राजस्थान मे विशेष रूप से लोक-गीतो की शब्दावली मे नारी
ा महत्ता के साथ प्रकृति एव उत्सव की घटनाओ को ऐसा सजोया गया है कि
जिससे नारी की केन्द्रीयता स्पष्ट हो जाती है। इतना ही नही, अभिजातवर्ग के
सास्कृतिक कार्यक्रम साधारण से साधारण स्तर के स्त्री-समाज विना सम्पादित नहीं
हो सकते। यहाँ ऊँच-नीच के भाव का पूर्ण अभाव यह सिद्ध करता है कि नारी की
उपस्थिति सभी पर्व और उत्सवो की धुरी है और उसे विच्छिन्न नही किया जा
सकता। एक दमामी के या नायिक के परिवार से समृद्ध परिवार का महोत्सव
आरम्भ होता है और उसका समापन भी उसी परिवार की देखरेख मे होता है जो
राजस्थान की महती विशेषता है।

परिवार का सवहन, सचालन व निर्देशन स्त्रियाँ करती हैं। वहु-विवाह प्रथा
के दोष मे भी प्रथम पत्नी को "वडी" और दूसरी को "लोडी" याने छोटी माना
जाता है। धार्मिक कार्यो मे "वडी" की प्रधानता स्वीकृत है। घर के आचार-विचार
और नियमो का परिवहन नारी करती है। तिलक, आरती, ग्रन्थि-बन्धन आदि
मगलमयी जीवन भूमिका की नायिका आज भी राजस्थान मे स्त्रियाँ ही हैं। समाज
को सास्कृतिक विभूति प्रदान करने मे नारी का ही स्थान अग्रणी है, अन्यथा कई
परम्पराएँ अलिखित होने से विस्मृत हो जाती। उनके कई कठस्थ गीत व कथाएँ
अधिकाश शास्त्रसगत आचारो और विधानो को अधिष्ठित किये हुए हैं।

राजस्थान मे नारी की विशेषता का परीक्षण उस समय हुआ था जब
चित्तौड, रणथम्भौर, जालौर आदि की दीवारें टुकडे-टुकडे हो रही थी और सम्पूर्ण
पारिवारिक और राष्ट्रीय जीवन तहस-नहस हो रहा था। यहाँ तक कि नैतिकता
का आधार खिसकने की अवस्था पर पहुँचने को था। कर्मावती, पद्मिनी और उनकी
लाखो सहयोगी महिलाओ ने जौहर व्रत के द्वारा अपने प्राणो की बाजी लगा देश

की नैतिकता को तथा पारिवारिक गौरव की मर्यादा को नष्ट होने से बचाया। कई बार राजस्थानी महिलाओं ने अपने आपको अग्नि के हवाले कर या मृत्यु के मुख में दे साहसी वीरों को नि शंक हो, शत्रुदल पर टूट पड़ने की प्रेरणा दी। राजस्थान में ऐसे अवसरों की कमी नहीं है जब मांग, सिन्दूर, चूड़ी, नूपुर और बिन्दी के शृंगार प्रसाधनों के साथ अनेक रमणियों ने हँसते-हँसते बलि देकर अपने सौन्दर्य को वास्तविक एवं मंगलमय रूप दिया।

जहां मातृ और धातृ सेवा का प्रश्न है आज भी पन्ना धाय का नाम जीवित है जिसने अपने प्यारे बच्चे की हत्या के गम को गवारा कर राज्य के भावी स्वामी उदयसिंह की रक्षा की। इसी प्रकार महाराणा राजसिंह की माता ने अपने रणवास की असंख्य स्त्रियों द्वारा श्रीनाथजी की मूर्ति को मेवाड़ में सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया। इसीलिए कई प्राचीन चित्रों[23] में राजसिंह और उनकी माता का चित्रण एक परम भक्त की तरह मिलता है। मीरा का नाम एक भक्ति परायण नारी के रूप में कौन नहीं जानता जो हमारी संस्कृति का सौन्दर्य और राजस्थान की स्त्री समाज का भूषण है।[24]

अतएव सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत आने वाले विषय, जिनमें संस्कार, पर्व, त्यौहार तथा परिवार की जो समीक्षा की गई है, केवल धर्म और आस्था से ही अनुबन्धित नहीं है, वरन् इसकी परिधि में राजस्थान की सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या निहित है। कोई भी पर्व या उत्सव क्यों न हो, उसको धार्मिक अनुष्ठान के साथ ऐसा पिरोया गया है कि उसमें ऋतु के गुण और सामाजिक तत्त्व एक रस हो गये हैं। ये विभिन्न संस्थाएँ राजस्थान की संस्कृति की अखण्डता, विशुद्धता तथा अविच्छिन्नता को स्थिर रखते हुए लोगों को आनन्दमय चेतना और स्फूर्तिमान जीवन प्रदान करती हैं। त्यौहार पारिवारिक जीवन की आधारशिलाएँ हैं जो जन-जीवन की कड़ियों को मजबूत बनाये रहती हैं और एकता तथा संगठन की भावनाओं को बल प्रदान करती हैं। जीवन में मधुरता संचार करने में उत्सवों का बड़ा योग रहा है। ऐसे अवसरों पर पूजन के लिए जुटाई जाने वाली सामग्री अमृत का, मधुर ध्वनि में गाये जाने वाले गीत मंत्र का तथा वाद्यों पर नाचने वाले नृत्य प्रेरणा का काम करते हैं। स्त्री पुरुषों के उल्लास का यदि चित्र हम देखना चाहें तो इन विभिन्न संस्थाओं में मिल सकता है जब नारी की प्रधानता में जीवन का समूचा नाटक इन संस्थाओं के माध्यम से खेला जाता। कृषि प्रधान राजस्थान के परिश्रान्त मानव समूह का मुखरित रूप और शौर्य का वास्तविक चेहरा इन संस्थाओं की आत्मा में प्रतिबिम्बित होता है, जबकि अन्यत्र इनकी अब छाया मात्र अवशेष रह गई है।

---

23 [illegible] जी की छवि [illegible], [illegible] भण्डार, नाथद्वारा।
24 [illegible], पृ 230-235

राजस्थानी रहन-सहन, मनोरंजन और संस्कृति

किसी भी देश या क्षेत्र के निवासियों का रहन-सहन का तत्क्षेत्रीय जलवायु तथा परम्परा से प्रभावित होता है। इसके साथ-साथ विभिन्न वर्गों मे भी रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा मे वैविध्य रहता है। व्यवसाय एव काम-काज की व्यस्तता, से भी वसन, भोजन आदि मे असमानता आती है। अभिजात्यवर्ग अपनी वेश-भूषा तथा खान-पान के सम्बन्ध मे अधिक सतर्क रहता है, जबकि जन-साधारण इन पर अधिक ध्यान नही देता। उच्च वर्ग मे अच्छा पहिनावा और चटक-भटक के आभूषण प्रतिष्ठा सूचक होते है और जैसा अवसर हो उसके अनुरूप उनमे परिवर्तन तथा परिवर्धन अपेक्षित रहता है। समाज का साधारण व्यक्ति विशेषत अपनी वेश-भूषा तथा खान-पान मे एकरूपता रखता है। ऐसे थोडे ही अवसर आते हैं जब हम उसके रहन-सहन मे न्यूनाधिक अतर देखते हैं। इस प्रकार जीवन क्रम मे एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे परम्परा बन जाती है जो हमारी सस्कृति का एक सुखद पक्ष है।

भोजन

राजस्थान मे आदिकाल मे भोजन प्राकृतिक वस्तुओ पर आधारित था। जब लोग आग का प्रयोग नही जानते थे तो वे प्रतिदिन अपने अनुभवो के आधार पर कन्द, मूल, फल, मास तथा अन्य वन मे उपजने वाली वस्तुएँ, जो शरीर के लिए अनुकूल पडती थी, खाते थे। आज से पाच हजार वर्ष पूर्व भोज्य पदार्थों मे यव, गेहूँ, चावल, मास, दूध आदि प्रचलित हुए जिन्हें आमिष और निरामिष भोजन करने वाले प्रयोग मे लाते थे। पशुओ के मास का प्रयोग भी खूब होता था जो प्राचीन खण्डहरो से प्राप्त हड्डियो के अवशेषो से स्पष्ट है। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया आहारिक एव मासादि पदार्थों के बनाने की विधियो मे विविधता आती गई। उत्पादन मे भी अनेक प्रयोग किये गये जिनमे धान्य, दालें, पेय पदार्थ आदि मे वृद्धि होती रही। कालीबगा, आहड, गिलूड, बैराठ, रंगमहल, साभर आदि स्थलो की खुदाई से प्राप्त भाण्डो की किस्मो के अनेक स्वरूप भोजन के पदार्थों तथा उनकी विशेष विधिया पर प्रकाश डालते हैं।[1]

---

1 हिस्टोरिकल इन्स्क्रिप्शन ऑफ गुजरात भाग 2, न 170; बृहद् कथाकोष, 78, 71.

कुछ शिलालेखों तथा साहित्य के ग्रन्थों से प्रमाणित होता है कि भोजन के सम्बन्ध में लगभग 10वीं शताब्दी तक राजस्थान का निवासी सादा तथा मर्यादित था। साधारण वर्ग तथा उच्च वर्ग के खाद्य तथा पेय पदार्थों के स्तर में बहुत बड़ा अंतर नहीं था। रोटी, दाल, राब, तेल, दही, दूध, घी, लापसी, मट्ठा, घाट, गुड़, घूघरी, खीचड़ी आदि सभी की भोज्य सामग्री थी। मांसाहार भी प्रचलित था, परन्तु ज्यों-ज्यों अन्नोत्पादन में वृद्धि होती गई मांस का प्रचलन घटता गया। उच्च वर्ग तथा वन में रहने वालों के अलावा कृषि जीवी तथा नगर निवासियों में मांस-भोजन का उतना प्रचलन नहीं था। ब्राह्मणों और जैनों में मांस का प्रयोग निषिद्ध था। इन्हें भोजन की शुद्धता और निर्मलता पर अधिक ध्यान देना होता था। उत्सवों तथा पर्वों पर अनेक मिष्ठानों का प्रयोग होना हेमचन्द्र ने लिखा है जिनमें मोदक, पूये, हलुआ, खीर, तिलकुट, आदि मुख्य हैं। पूड़ी, पापड़, दहीवड़े का जिक्र मानसोल्लास में मिलता है जिससे खाद्य-पदार्थों में रस और रुचि का संवर्धन होता था। इन लेखकों ने व्यंजनों के भी अनेक प्रकार बताये हैं जिन्हें तेल, घी और नमक एवं अनेक मसालों से मिश्रित कर स्वादिष्ट बनाया जाता था। उच्च वर्ग तथा मध्यम श्रेणी के लोगों में इनका अधिक उपयोग होता था।[2]

मध्ययुग में भी खान-पान की वही प्राचीन परम्परा राजस्थान में प्रचलित थी और विशेष रूप से साधारण स्तर के लोगों में राब, रोटी, दाल, छाछ आदि का ही प्रचलन था। परन्तु उच्च स्तर के समाज में, जैसा कि अमरसार और राजविनोद के लेखकों ने लिखा है, गेहूँ, चना और दालों से अनेक खाद्य वस्तुएँ बनती थीं, जिनमें हलुवा, फैनी, घेवर, खाजा एवं लड्डू प्रमुख थे। मोदक के भी अनेक प्रकार थे जो दूध, मावा आदि से बनाते थे और उनके नाम भी उनके अनुकूल होते थे। जैसे दही से बनने वाले दधि-मोदक, केसर के प्रयोग से बनने वाले केसर-मोदक, बीजों से बनने वाले बीज मोदक आदि। सूरज प्रकाश के लेखक ने अचारों का उल्लेख किया है। जो फलों व सब्जियों को कई तरह बनाये जाते थे। चावल को भी दाल, दूध, दही, घी व शक्कर के साथ खाया जाता था। इस प्रकार गेहूँ, दाल व चावल से कई प्रकार के मिष्ठान्न बनते थे जो विवाहोत्सव पर प्रचलित थे। पद्मिनी चौपाई में उल्लेख मिलता है कि राजस्थान में भोजन के अंत में मट्ठे का प्रयोग प्रायः होता था जो आज भी प्रचलित है।[3]

मध्ययुग में राजपूत समाज अग्रणी था। आखेट उनका मनोरंजन का साधन

---

2 देशीनाममाला 8 8, कथाकोषप्रकरण 7-91, ग ए 9 57, मानसोल्लास 3, 15 78-79, प्रबन्ध कोश पृ 68, 78-82

3 अमरसार पत्र, 345-351, सूरजप्रकाश पत्र 54, ख्यात बही (1770 ग ग्री), पद्मिनी चौपाई पत्र 20-21

बन गया था । आखेट से प्राप्त पशु का मास एक शौर्य द्योतक घटना मानी जाती थी जिसे बडे चाव से खाया जाता था । आखेट वर्णन तथा अभय विलास जैसे काव्य ग्रन्थो मे सूअर, शेर, खरगोश और हिरनो के शिकार का बडा रोचक वर्णन मिलता है तथा ऐसे अवसरो मे मास को अनेक प्रकार से तैयार कर दावतो के आयोजनो का उल्लेख इन लेखको ने किया है, जिनमे कबाब, पुलाव, कोरमा आदि प्रमुख हैं । प्याज, अदरक, नींबू, लहसुन आदि प्रयुक्त मसाले मासाहारियो के चाव की चीज होती थी जिन्हे साधारण से साधारण स्तर के मासभोजी भी काम मे लाते थे । अकबरी जलेबी, खुरासानी खिचडी, बाबर बडी, पकोड़ी और मूगोड़ी का प्रचलन मुगली प्रभाव से राजस्थान मे खूब पनपा जिनका प्रयोग मासाहारी और शाकाहारी बडे चाव से करते थे । भोजन के सम्बन्ध मे समन्वय की प्रक्रिया राजस्थान मे खूब देखी जाती है ।[4]

राजस्थानी समाज मे भोजन की विधि मे अत्यन्त पवित्रता, शुद्धता और सयम का बडा महत्त्व रहा है । भोजन के पूर्व स्नान करना अथवा हाथ मुह व पैर धोना आवश्यक था । ब्राह्मण तो भोजन के पूर्व स्नान कर चौके मे भोजन करते थे । अपने हाथ से पकाया हुआ भोजन विशेष शुद्ध माना जाता था । समृद्ध परिवारो मे चाँदी और सोने से मढे चौकटे भोजन परोसने के लिए रखे जाते थे जिन पर चाँदी की थाली व कटोरे होते थे । साधारण लोग पत्तल, दोने व पीतल व कासे के थालो का प्रयोग करते थे । मिट्टी व काठ के बर्तनो का प्रयोग भोजन मे एक बार ही माना गया है, परन्तु ग्रामीण भोजन बनाने मे मिट्टी के बर्तनो का प्रयोग आज भी खूब करते है जो यहाँ की प्राचीन परम्परा है ।[5]

भोजन के उपरान्त, मनूची लिखता है कि, राजस्थान मे समृद्ध लोग पान चबाते है जिनमे खैर, चूना, सुपारी के अतिरिक्त सुगधित द्रव्य भी मिलाते हैं । उसके अनुसार पान को उपहार रूप मे देना सम्मान सूचक है ।' देशीनाममाला मे उल्लिखित है कि ताबूल तैयार करना और उनको वितरण करना बहुधा दासिया करती थी । राजा महाराजाओ तथा रानियो के दरबारो मे होली, दीपावली तथा अन्य अवसरो पर पान के बीडे वितरित होते थे और इनके द्वारा आगतुको को सम्मानित किया जाता था । प्राचीन परम्परा से जुडा पान आज भी इतना व्यापक है कि इसका प्रयोग साधारण से साधारण व्यक्ति भी करता है ।[+]

---

4 ० ाहड एस्कॅवेशन, पृ 220, समरेच्छिका, वृहद् कथाकोप, पृ. 319; गुणरूपक, पत्र 12, रसोई लीला, पत्र 73, गुणभाषा, पत्र 12, अभयविलास, पत्र 306, आखेट वर्णन, पत्र 378, आइनेअकबरी, भाग 1, पृ 59–69; जी. एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ 162–164

5 गोराबादल चोपई, पद्य, 29, हकीकत बही, 1774 ई., अजितोदय, सर्ग 191, देशीनाममाला, 4–42, मनूची, स्टोरिया-डू-मोगोर, भाग 1, पृ. 63

परिधान

भोजन की भाँति परिधान जीवन क्रम का एक अंग है। विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों की वेश-भूषा तत्क्षेत्रीय जलवायु और उपलब्ध पदार्थों से सम्बन्धित होती है। वह संस्कृति की भी द्योतक है, क्योंकि उसमें एकरूपता और मौलिकता के ऐसे तत्त्व विद्यमान रहते हैं कि विदेशी सम्पर्क या आदान-प्रदान की प्रक्रिया की संभावना बने रहने पर भी उसके मूल तत्त्व नष्ट नहीं होते। यहाँ तक कि उसके प्रारूप इतने सुदृढ़ बन जाते हैं कि बाह्य प्रभावों को उसमें समावेशित हो जाना पडता है। राजस्थान की वेश-भूषा का सांस्कृतिक पक्ष इतना प्रबल है कि सदियों के गुजर जाने पर और विदेशी प्रभाव होते रहने पर भी यहाँ वेश-भूषा अपनी विशेषताओं को स्थिर रखने में सफल रही है।

पुरुष परिधान

कालीबंगा और आहड सभ्यता के युग से ही राजस्थान में सूती वस्त्रों का प्रयोग मिलता है। रुई कातने के चक्र और तकली, जो उत्खनन से प्राप्त हुए हैं, इस बात के प्रमाण हैं कि उस युग के लोग रुई के वस्त्रों का प्रयोग करते थे। बैराठ व रंगमहल में भी इसके प्रमाण मिलते हैं जिससे स्पष्ट है कि साधारण लोग अधो-वस्त्र (धोती) तथा ऊपरीय वस्त्र, जो कंधे के ऊपर से होकर दाहिने हाथ के नीचे में जाता था, प्रयुक्त करते थे। यहाँ के खिलौनों को देखने से अनुमानित होता है छोटे बच्चे प्रायः नग्न रहते थे। जंगली जातियाँ बहुत कम वस्त्रों का प्रयोग करती थीं। वे ठंड से बचने के लिए पशुओं के चर्म का प्रयोग करते थे। इसी का उपयोग साधुओं के लिए भी होता था। इन वस्त्रों के उपयोग की यह सारी परिपाटी आज भी राजस्थान में प्रत्येक गाँव में देखी जा सकती है जहाँ बहुधा धोती व ऊपर ओढने के "पछेवडे" के सिवाय अन्य वस्त्रों का प्रयोग कम किया जाता है। सर्दी में अंगरखी का पहनना भी प्राचीन परम्परा के अनुकूल है जिसमें कपडे के बटन व आगे से बंद करने की "कसें" होती हैं जो बंधन का सीधा सादा ढंग है।[6]

इस युग से जब हम आगे बढते हैं तो मंदिरों की वेष्टिकाएं, जो गुप्तोत्तर-काल से लेकर 15वीं सदी तक की हैं, पुरुषों की वेश-भूषा पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। गुप्तोत्तर काल की कल्याणपुर की मूर्तियाँ तथा चित्तौड के कीर्तिस्तंभ की मूर्तियाँ वेश-भूषा में अनेक परिवर्तन की कहानी प्रस्तुत करती हैं। पुरुषों में छपे हुए तथा काम वाले वस्त्रों को पहिनने का चाव था। सिर पर गोलाकार मोटी पगडी पल्लो को लटका कर पहिनी जाती थी। धोती घुटने तक और अंगरखी जांघों तक होती थी। मूर्तियों में ऊनी वस्त्रों की मोटाई में एवं बारीक कपडों को तथा रेशमी वस्त्रों की बारीकी से बतलाया गया है। विभिन्न व्यवसाय करने वालों के

---

6 [illegible] पृ 40, [illegible] पृ 157

पहिनावो मे भेद भी था, जैसे शिकारी केवल धोती पहने हुए है तो किसान व श्रमिक केवल लगोटी के ढग की ऊँची बाधवाली धोती मे। ब्राह्मण नीचे लटकती धोती और चादर काम मे लाते थे। व्यापारियो मे धोती, लबा अगरखा, पगड़ी पहनने का रिवाज था। सैनिक जाघिया या छोटी धोती, छोटी पगडी और कमरबन्द का प्रयोग करते थे। मल्ल केवल कच्छा पहिनते थे तो सन्यासी उत्तरीय और कौपीन।[7]

इस काल की देवताओ की मूर्तियो से समृद्ध परिवार एव राजा महाराजाओं के पहनावे का पता चलता है। देलवाडे के मन्दिर अथवा सास बहू के मन्दिर एव कीर्तिस्तभ की देवताओ की मूर्तियो मे कामदार धोती और दोनो किनारो से झूलता हुआ बारीक दुपट्टे का अकन है जो राज परिवार के परिधान के ढग का द्योतक है। युद्ध मे जाने वाले उच्च वर्ग के लोग शरीर को लबी अगरखी से सुशोभित करते थे और सिर पर चमकीली मोटी और मुकुट वाली पगडी पहनते थे। राजस्थान मे चित्रित कई कल्पसूत्र साधारण व्यक्ति से लेकर राजा महाराजाओ के परिधान पर अच्छा प्रकाश डालते है। इनमे राजाओ के मुकुट और पल्ले वाली पगडियाँ, दुपट्टे, कसीदा की गई धोतिया और मोटे अगरखे बडे रोचक दीख पडते है।[8]

इन परिधानो मे विविधता और परिवर्तन का मोड मुगलो के सम्पर्क से आया, विशेष रूप से उच्च वर्ग मे। कुछ साहित्य ग्रन्थो, परवानो तथा चित्रित ग्रन्थो से इस स्थिति का अच्छा परिज्ञान होता है। पगडियो मे कई शैलियो की पगडिया देखने को मिलती है जिनमे अटपटी, अमरशाही, उदेशाही, खजरशाही, शिवशाही, विजयशाही और शाहजहानी मुख्य है। विविध पेशे के लोगो मे पगडी के पेच और आकार मे परिवर्तन आया जो प्रत्येक व्यक्ति की जाति का बोधक था। सुनहार आटे वाली पगडी पहिनते थे तो बनजारे मोटी पट्टेदार पगडी काम मे लाते थे। ऋतु के अनुकूल रगीन पगडियाँ पहिनने का रिवाज था। मोठडे की पगडी विवाहोत्सव पर पहनी जाती थी तो लहरिया श्रावण मे चाव से काम मे लाया जाता था। दशहरे के अवसर पर मदील बाधी जाती थी। फूल-पत्ति की छपाई वाली पगड़ी होली पर काम मे लाते थे। पगडी को चमकीली बनाने के लिए तुर्रे, सरपेच, बालाबन्दो, धुगधुगी, गोसपेच, पछेवडी, लटकन, फतेपेच आदि का प्रयोग होता था। ये पगडियाँ प्राय तजेब, डोरिया और मलमल की होती थी। चीरा और फेंटा भी उच्च वर्ग के लोग बाधते थे। वस्त्रो मे पगडी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अपनी गौरव की रक्षा के लिए आज भी राजस्थान मे यह कहावत प्रचलित है कि "पगड़ी

7 आर्ट गेलेरी उदयपुर म्यूजियम की मूर्तिया, मेरा लेख चित्तौड, कालिज मेगजीन, 1950, एकलिंग महात्म्य, श्लोक 22, पत्र 20.

8 मेरा लेख—सोसाइटी इन वेस्टर्न इण्डिया, कल्पसूत्र, जर्नल ऑफ इण्डियन म्यूजियम, भाग 12, पृ. 69–71.

की लाज रखना"। इसी तरह पगडी को उतार के फेंक देना यहाँ अपमान का सूचक माना जाता है। इसीलिए आज भी प्राचीन संस्कृति के पोषक लोग सिर में घर से बाहर नहीं निकलते। पगडी को ढंग से बांधकर बाहर निकलना शिष्टता के अन्तर्गत आता है। राजस्थान में इसका प्रयोग न केवल धूपताप से सिर की रक्षा के लिए है, वरन् व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और धार्मिक भावना को व्यक्त करने के लिए भी है। राजस्थानी नरेशों और मुगल शासकों के बीच होने वाले आदान-प्रदान में पगडी का मुख्य स्थान था। आज भी राजस्थान में पगडी द्वारा विवाहादि उत्सवों में सम्मान देने की प्रथा है।[9]

पगडी की भाँति "अंगरखी" जो साधारण लोग भी पहिनते थे, भी समयानुकूल परिवर्तित हुई और उसको विविध नामों से पुकारा जाने लगा। यह परिवर्तन भी मुगलों के दरबार में आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप था। यहाँ के अनेक राजा, महाराजा, राजकुमार, सैनिक अधिकारी और साहूकार मुगल दरबार और राज्य में जाते थे या इनकी छावनियों में रहते थे वे मुगल परिधानों का प्रयोग करने लगे। इस अभिजात वर्ग की वेश-भूषा को कुछ अंशों में साधारण स्तर के व्यक्तियों ने भी अपना लिया, क्योंकि वह प्रतिष्ठा सूचक मानी जाने लगी। "अंगरखी" को विविध ढंग से तथा आकार से बनाया जाने लगा जिन्हें तनसुख, दुतई, गावा, गदर, मिरजाई, डोढी, कानो, डगला आदि कहते थे। सर्दी के मौसम में इनमें रुई भी डाली जाती थी। इनको चटकिला बनाने के लिए इन पर गोटा-किनारी व कसीदे तथा छपाई का भी प्रयोग होता था। अनेक प्रकार के रंगीन कपडों से इन्हें बनाया जाता था। ये कुछ घुटने तक और कुछ घुटने के नीचे तक घेरदार होते थे। कुछ वस्त्र चुस्त और कुछ ढीले सीये जाते थे। इन वस्त्रों पर गोट लगाकर अलंकृत करने की भी प्रथा थी। जाली के वस्त्र गर्मियों में पहने जाते थे। मलमल की पोशाक शरीर की झलक दिखाने में आकर्षक लगती थी जिसे सम्पन्न व्यक्ति पहनते थे। वक्ष-स्थल के कुछ भाग को खुला रखा जाता था जो शिष्टाचार के विरुद्ध नहीं समझा जाता था। रंग-बिरंगे फूंदनों से इन परिधानों को बांधना अच्छा समझा जाता था। रूमाल भी रंग-बिरंगे तथा कसीदे या छपाई वाले होते थे जिन्हें गले में बांधा जाता था। कटिबन्ध भी अनेक प्रकार की लंबाई चौडाई के होते थे जो लगभग 2 फुट से लेकर 10 हाथ लंबे व एक फुट चौडे होते थे। इनमें कटार, बर्छी, तथा कभी-कभी खाद्य सामग्री अथवा रुपये पैसे रख लिये जाते थे। कंधों पर शरद ऋतु में खेस, शाल, पामर्टी डाल दिये जाते थे। इन पर भी कलाबतु एवं

9　बीका का स्मारक स्तंभ, 1504 ई, गुणमाला चरित्र, पत्र 68, सेलगाथ., पत्र 99, अवतार गीता, मोहनलाल डूंगरपुर, हर्षीदन बही, 18 वीं, शिवाटपुर, 1809 ई, पचतंत्र चित्रित, पत्र 22, 47, भागवतपुराण, पत्र 7-8, पालमदाल थाना का रंग, बूंदी चर्याचित्र, प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बुलेटिन 1954, प 31, जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडियल राजस्थान, पृ 144-147

कसीदे का काम रहता था। अभिजात्यवर्ग लंबी अंगरखी पर पाजामा पहिनते थे और साधारण मुसलमान भी इसको दैनिक प्रयोग में लाते थे।[10]

स्त्री परिधान

कालीबंगा या आहड़ आदि स्थानों की प्रागैतिहासिक युग की वेश-भूषा जिसका उपयोग स्त्रियाँ करती थीं बड़ी साधारण थी। यहाँ की खुदाई से प्राप्त मिट्टी के खिलौने, "जतर" पर बनी मूर्तियों से प्रमाणित होता है कि उस काल में स्त्रियाँ केवल अधोभाग को ढकने के लिए छोटी साड़ी का प्रयोग करती थीं। इसी को कमर में मेखला से बांध लिया जाता था। आर्यों के राजस्थान प्रवेश ने इस प्रकार के पहिनाव में कुछ परिवर्तन किया तो शुंग कालीन तथा गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल की मूर्तियों में स्पष्ट है। इनमें स्त्रियां साड़ी को करधनी से बांधती हैं और ऊपर तक सिर को ढकती हैं। स्तनों को कपड़े से ढक कर उसे पीठ से बांध लिया करती थीं। कई यक्षी मूर्तियां स्त्री वेश-भूषा को स्पष्ट करती हैं जिनमें ओढनी से सिर ढका मिलता है और साड़ी घुटने तक चली जाती है। आगे चलकर स्त्री परिधान में साड़ी को नीचे तक लटका कर ऊपर कंधों या सिर तक ले जाया जाता था और स्तनों को छोटी कंचुकी में ढका जाता था। प्रारम्भिक मध्यकाल में स्त्रियाँ प्रायः लहंगे का प्रयोग करने लगीं जो राजस्थान में "घाघरा" के नाम से प्रसिद्ध है। स्त्रियों के वेश-भूषा में अलंकरण, छपाई और कसीदे का काम भी पूर्व मध्यकाल में प्रचलित हो गया था। इसका स्वरूप आज भी हम राजस्थान की घुमक्कड़ जाति की स्त्रियों में और आदिवासियों की महिलाओं में देखते हैं। यही ढंग हमें मथुरा से मिली मूर्तियों में देखने को मिलता है जिनमें स्त्रियों के परिधान में साड़ी, ओढनी, लहंगा तथा कंचुकी या चोली सम्मिलित हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से ये काल बड़े महत्त्व का है। साड़ी पहिनने तथा सिर को ओढनी से ढकने तथा कपड़ों की सजावट के मूल में स्थानीय तत्त्व हैं और बाह्य से कुछ विदेशी प्रभाव भी हैं। इन परिधानों के सांस्कृतिक नाम कुवलयमाला, धर्मबिन्दु, उपमितिभाव, प्रपंचक तथा कथाकोष में भी मिलते हैं।[11]

मध्यकालीन स्त्री वेश-भूषा के अध्ययन के लिए विजय-स्तम्भ, कुंभश्याम

---

10 कानूने हुमायुनी, पत्र 70–77, आईन अकबरी, भाग 1, पृ. 94-96, अचलदास खीची री वार्ता, पत्र 52, राजरूपक पत्र, अमरविलास पत्र 31, रामचरित्र, चित्रित, पृ 85; कुमार स्वामी, राजपूत पेंटिंग प्लेट 12, हकीकत बही 1771 ई., हवालाबही 1776, मनूची, स्टोरिया डू मोगोर 11, पृ. 341.

11. रेडियो कारबन एण्ड इण्डियन आर्कियोलाजी पृ. 128, सकालिया-एस्केवेशन एट आहड़, पृ. 220-225, कुवलयमाला, पृ. 113, रेढ की खुदाई, पृ. 39-40, स्त्रीमूर्ति—झालावाड़ म्यूजियम मार्ग, पृ 113 कल्याणपुर संग्रह, उदयपुर म्यूजियम, मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ. 125, आबानेरी मार्ग, पृ 29–30

मन्दिर, जगदीश मन्दिर तथा अनेक समकालीन साहित्य और इतिहास के ग्रन्थ अच्छे साधन हैं। स्त्रियों के परिधानों में डिजाइन व भड़कीलापन अधिक था। विजयस्तंभ की स्त्री-मूर्तियों को देखने से लगता है कि कंचुकी वैकल्पिक थी। कुछ मूर्तियां बिना कंचुकी के हैं और कुछ में वक्षस्थल- ढकने के लिए एक लम्बे वस्त्र का प्रयोग हुआ है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है कंचुकी तथा कांचली का स्वरूप बदल जाता है और वह लंबी आस्तीनों वाली उदर के नीचे तक बढ़ जाती है जिसे कुर्ती कहते हैं। इनमें तंजेब, कसीदा, गोटा-किनारी, मगजी, गोट आदि का काम रहता है। कुछ चमकीले वस्त्र की और कुछ छपाई व रंगाई की कंचुकियां होती हैं। आज भी मारवाड़ में ऐसी लंबी कुर्तियों का खूब प्रचलन है। कल्पसूत्र के चित्रों में स्त्रियों को अधोवस्त्र और ओढ़नी से ढका बतलाया गया है। ओढ़नियों के पल्लू कई डिजाइन में बनते थे जिनको दोनों ओर कंधे से लटकाया जाता था। कुछ सती स्तंभों में उत्कीर्ण मूर्तियां एक लम्बी साड़ी में देखी जाती हैं जो नीचे से ऊपर तक शरीर को ढकती है। ऐसी साड़ियां घूंघट निकालने में सुविधाजनक रहती हैं। आज भी राजस्थान में घूंघट का रिवाज प्रचलित है। अधोवस्त्र प्रारम्भ में कमर से लपेटा जाता था जो परिवर्धित होकर घाघरा तथा घेरदार कलियों का घाघरा बन गया। उसका छोटा रूप लहंगा कहलाता है। इन तीनों प्रकार के परिधानों पर सुनहरी व रुपहरी छपाई होती थी जिसे गोटा-किनारी तथा सलमे के काम से आकर्षक बनाया जाता था। राजस्थान में आज भी कपड़ों पर इस प्रकार का काम बड़ी कारीगरी से होता है। साड़ियों के विविध नाम प्रचलित थे जिन्हें चोल, निचोल, पट, दुकूल, अंसुक, वसन, चीर-पटोरी, चोल्लो, आड़नी, चूंदड़ी, धोरावाली, साड़ी आदि कहते हैं।[12]

कुछ चित्रित ग्रन्थों तथा मूर्तियों से साधारण स्तर की स्त्रियों की वेश-भूषा का पता चलता है। विजयस्तंभ में शबरी केवल छोटी घघरी में उत्कीर्ण है, अन्य वस्त्रों का प्रयोग नहीं है। ऐसा ही रागिनी चित्र में भीलनी का भी अंकन है। आर्ष-रामायण में शूर्पणखा को भद्दी व मोटी साड़ी और छोटे घाघरे में चित्रित किया गया है। कादम्बरी में पत्र वाहक स्त्री के केवल घाघरा और कंचुकी है। खजानची कलेक्शन में दासी को घाघरा, छोटी साड़ी व छोटी कंचुकी में तथा विधवा को भूरी साड़ी और काला लहंगा एवं [illegible] चोली में चित्रित किया गया है। भक्तमाल में मीरा को पीली धोती में चित्रित किया गया है। राजपूतों के हरम में कुछ दासियां लम्बा कुर्ता व शलवार व पजामे का भी प्रयोग करती थीं जो मुगलों का अनुकरण था।[13]

---

12 कल्पसूत्र, 1179 ई. पत्र 18, 36, 64, पंचतन्त्र चित्रित, पत्र 27-33, मानलीला चित्रित, पत्र 11-13, रागिनी चित्र, जयपुर पोथीखाना दस्तूर कौमवार, 1799, पत्र 80-97, [illegible] 5-6, [illegible] 1, [illegible] 4, 1734, पत्र 42-44

13 विजयस्तंभ, [illegible] मन्दिर, [illegible], [illegible], [illegible], चित्तौड़ [illegible] [illegible], कादम्बरी (चित्रित), पत्र 49-65, [illegible], पत्र 9

स्त्रियों के परिधानो के लिए कई प्रकार के कपडे प्रचलित थे जिन्हे जामादानी, किमखाब, टसर, छीट, मलमल, मखमल, पारचा, मसरु, चिक, इलायची, महमूदीचिक, मीर-ए-बादला, नौरगशाही बहादुरशाही, फरुकशाही छीट, बाफ्ता, मोमजामा, गगाजली आदि नाम से जाना जाता था। उच्चवर्गीय स्त्रिया अपने चयन मे इन कपडो को वरीयता देती थी परन्तु साधारण वर्ग की स्त्रिया लठ्ठे व छीट के वस्त्रो से ही सतोष कर लेती थी। ऋतु और अवसरानुकूल रग-बिरगे व चटकीले परिधानो का चाव स्त्रियो मे अवश्य था जो अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार बढिया और घटिया किस्म के कपडे बनवाते थे। चूदडी और लहरिया राजस्थान की प्रमुख साड़ी रही है जिसका प्रयोग हर स्तर की स्त्रियाँ आज भी करती हैं—गोया उच्चवर्ग मे आधुनिक कपडे अधिक प्रिय हो गये है।[14]

केश विन्यास

जैसे अजन्ता, एलोरा एव खजुराहो के चित्रो और मूर्तियो मे केश विन्यास के कई प्रकार मिलते है उसी प्रकार राजस्थान के रगमहल देलवाडा, नागदा, जगत, चित्तौड एव जगदीश मदिर की नारी मूर्तियो से तथा चित्रित ग्रन्थो मे विविध केशविन्यास के अनेक रूप निरूपित किये जा सकते है। केशो को जूडे व वेणियो द्वारा प्रसाधित किया जाता था। इनमे पुष्प, पत्तिया एवं मोतियो की लड़ो से सुसज्जित करना शोभनीय माना जाता था। केशो की अग्रभाग की पट्टियो को कडा रखने के लिए गोद और "घासा" नामक लेप का प्रयोग होता था, जिससे उनमे एक चमक दिखाई देती थी। अभिजातवर्ग की स्त्रियो के केश विन्यास का काम सेविकाए करती थी। अन्त पुर मे ऐसी स्त्रियो को विशेष रूप मे रखा जाता था जो राज परिवार की स्त्रियो के केश विन्यास का ध्यान रखती थी। केशो को लम्बा बढाना अच्छा समझा जाता था और उनमे कई प्रकार के सुगन्धित तेल डालकर सुरभित किया जाता था। जहा प्रसाधन की विशेष प्रकार की सामग्री साधारण वर्ग की स्त्रियो के लिए उपलब्ध नही थी वहा सादी वेणी बनाना विवाहित स्त्रियो के लिए अनिवार्य था, क्योकि इसमे धार्मिक भावना निहित थी। राजस्थान में खुले केशो से बाहर निकलना स्त्रियो के लिए अशोभनीय माना जाता रहा है। नागदा की पार्वती की मूर्ति, कुभश्याम मदिर की नर्तकाओ का दल तथा विजयस्तभ की अनेक देवी व स्त्रियो की मूर्तिया के मनोरम प्रदर्शन बेजोड है। ऐसा प्रतीत होता है कि घटो के परिश्रम से ही इस प्रकार की केश रचना हो पाती होगी। केश विन्यास की विविधता का मूलाधार[15] तत्कालीन नागरिको की सुरुचि और कला-विलास का परिणाम था।

14. आइने अकबरी, भाग 1, 93-101, गियाहजूर, 1736-36, बाकीदास ख्यात, पत्र 96 व 304; हकीकत वही, न 3, 1778
15. कविप्रिया (चित्रित) पत्र 8 व 90, आर्षरामायण (चित्रित) पत्र 7, खजान्ची कलेक्शन म स्नात विमोर नारी, ओसिया, नागदा, राजसमद्र, आदि स्थानो की भी नारियों की मूर्तियो मे केश विन्यास के अनेक प्रकार दिखाई देते है।

स्त्री आभूषण

भारत की भाँति राजस्थान में भी प्राचीनकाल का मानव-सौन्दर्य प्रेमी रहा है। शरीर को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए विशेष रूप से स्त्रिया अनेक प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करती थी। कालीबगा तथा आहड सभ्यता के युग की स्त्रियाँ मृण्मय तथा चमकीले पत्थरों की मणिया के आभूषण पहनती थी। कुछ शुग कालीन मिट्टी के खिलौनो तथा फलका से पता चलता है कि स्त्रिया हाथो मे चूडिया व कडे, पैरो मे खडवे और गले मे लटकन वाले हार पहिनती थी। स्त्रिया सोने, चाँदी, मोती और रत्न के आभूषण मे रुचि रखती थी। साधारण स्तर की स्त्रिया कासे, पीतल, तावा, कौडी, सीप अथवा मूगे के गहनो से ही सन्तोष कर लेती थी। हाथी दात मे बने गहनो का भी उपयोग होता था। हमारे युग मे भी आदिवासी व घुमक्कड जाति की स्त्रिया इस प्रकार के आभूषण पहनती है। पाव मे तो पीतल की पिंजणिया एडी से लगाकर घुटने के नीचे तक आदिवासी क्षेत्र मे देखी जाती है। समरादित्यकथा, कुवलयमाला आदि साहित्यिक ग्रन्थो मे सिर पर बाधे जाने वाले आभूषण को चूडारत्न और गले और छाती पर लटकने वाले आभूषणो को दूसूरुल्लक, पत्रलता, मणीश्ना, कठिका, आमुक्तावली आदि कहा गया है। पयूमश्रीचरयू मे वर्णित है कि पद्मश्री को जब विवाह के लिए सजाया गया था तो पावो मे नूपुर, कानो मे कुडल और सिर पर मुकुट से सजाया गया था। प्रसिद्ध सरस्वती की मूर्ति जो दिल्ली म्यूजियम मे तथा बीकानेर मे है ऊपर वर्णित आभूषणो से अलकृत है। इनके अतिरिक्त वह दो व चार लडी के हार जिन्हे राजस्थान मे हासला कहते है तथा बाजूबद, कर्णकुडल, कर्धनी (कदोरा) अगूलियका, मेखला, केयूर आदि विविध आभूषणो से सुशोभित है। इन आभूषणो का अकन राजस्थान की पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकला मे खूब देखने को मिलता है।[16]

मध्यकाल से 20वी सदी तक आकर अलकारो के विविध रूप विकसित हो गये। समकालीन साहित्य, मूर्ति और चित्रकला मे स्त्रियो के आभूषणो का सुन्दर चित्रण हुआ है। ओसिया, नागदा, देलवाडा, कुभलगढ आदि स्थानो की मूर्तियो मे कुडल, हार, बाजूबध, ककण, नूपुर, मुद्रिका के अनेक रूप तथा आकार निर्धारित है। यदि इनका विश्लेषण किया जाय तो एक-एक आभूषणो की पचीसो डिजाइन मिलेंगी। आर्षरामायण, सूरजप्रकाश, कल्पसूत्र आदि चित्रित ग्रन्थो मे भी इनके विविध रूपो का प्रतिपादन हुआ है। ज्यो-ज्यो समय आगे बढता है इन आभूषणो के रूप और नाम भी स्थानीय विशेषता ले लेते है। सिर मे बाधे जाने वाले जेवर

---

16 रेड की खुदाई, पृ 27–40, धर्म बिन्दु, पृ 185, हम्मीर महाकाव्य, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ 265, मानसार अध्याय 50, राजस्थान थ्रू एजेज, पृ 37, 462-465; अलबरूनी इण्डिया, पृ 181, इलियट डाउसन, 1, पृ 11

का बोर, शीशफूल, रखडी और टिकडा नाम पुरालेखो मे अकित है। उन्ही मे गले तथा छाती के जेवरो मे तुलसी, वजट्टी, हालरो, हासली, तिमणिया, पोत, चन्दहार कठमाला, हाकर, चपकली, हसहार, सरी, कठी, भालरो के तोल और मूल्यो का लेखा है। ये आभूषण सोने, चाँदी, मोती के बनते थे और अनेक रत्नजटित होते थे। कानो के आभूषणो मे कर्णफूल, पीपलपत्रा, फूलभूमका तथा अगोट्या, भेला, लटकन आदि होते थे। हाथो मे कड़ा, ककण, नोगरी, चाट, गजरा, चूडी तथा उगलियो मे बीटी, दामणा, हथपान, छडा, बीछिया तथा पैरो मे कडा, लगर, पायल, पाजेब, नूपुर, घुघरु, भांभर, नेवरी आदि पहने जाते थे। नाक को नथ, बारी, काटा, चूनी, चोप आदि से सुसज्जित किया जाता था। कमर मे कदोरा और कर्धनी का प्रयोग होता था। जूडे मे बहुमूल्य रत्न या चाँदी-सोने की घूघरिया लटकाई जाती थी।[17]

इन सभी आभूषणो को साधारण स्तर की स्त्रिया भी पहनती थी, केवल अतर था तो धातु का। इनकी विविधता शिल्प की उन्नति तथा दरबारी प्रभाव का परिणाम था। मुगल-सम्पर्क मे आभूषणो मे विलक्षणता का प्रवेश स्वाभाविक था। अलकारो का बाहुल्य उस समय की कला की उत्कृष्ट स्थिति एव उस समय के समाज की सौन्दर्य रुचि पर प्रकाश डालता है और आर्थिक वैभव का परिज्ञान इनके द्वारा होता है। आज भी राजस्थान के ग्रामीण अचलो मे आभूषणो के प्रति प्रेम है। जिसके कारण इनके शिल्पी सर्वत्र फैले हुए है। इसी वर्ग के शिल्पी रत्नो के जडने तथा बारीकी का काम करने मे नगरो में पाये जाते हैं। एक प्रकार से राजस्थान की भौतिक सस्कृति को आभूषणो के निर्माण-क्रम और वैविध्य द्वारा आँका जा सकता है।

आमोद-प्रमोद

जिस प्रकार भारतीय समाज मे प्राचीन काल से आमोद-प्रमोद का विशिष्ट स्थान रहा है उसी प्रकार से राजस्थान मे भी प्रत्येक युग मे इसका महत्त्व देखा गया है। कालीबगा, आहड, रगमहल आदि के उत्खनन से पता चलता है मिट्टी के खिलौने, जैसे चकरी, गाडी, गुडिया, गोलिया आदि बच्चो के खेलने के साधन थे और इसीलिए इनको प्रचुर मात्रा मे बनाया जाता था। इस युग मे आखेट वैसे उदरपोषण से सम्बन्धित था, परन्तु कौतुकवश भी शिकार का आयोजन अवश्य मनोरजन का साधन रहा होगा। रेड की खुदाई तथा रगमहल के उत्खनन मे हाथी, घोडे, पक्षी, काठी वाले ऊँट, पहिये और गाडियो के खिलौने इस बात के प्रमाण है कि वे बच्चो

17 एकलिंग महात्म्य, पृ. 21; सूरजप्रकाश, पत्र 32, आर्षरामायण, पत्र 2-8; अभयविलास, पत्र 58; गजविलास, सर्ग 1, पत्र 28, पद्मिनी चौपाई, पत्र 186; नखसिख, पत्र 20-21; बाकीदास ख्यात 11, पत्र 296, दस्तूर कौमवार, 1717 ई भण्डार न. 4 बस्ता न. 26, 1770 ई, हवालावही, 1754 ई; जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ. 154-156.

के मनोरंजन के साधन थे। आगे चलकर मनोरंजन के सम्बन्ध मे उपमितिभाव प्रपंचकथा, रत्नावली आदि ग्रन्थो मे कई उत्सवो का उल्लेख है जो नाचना, गाना, झूलना आदि मनोरंजनो के अन्तर्गत आते है। विविध आयोजनो मे गीत-संगीत को प्रधानता दी जाती थी जिनमे स्त्री पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। मृगया के लिए भी इस युग मे कई लोग सम्मिलित होते थे।[18]

मध्यकाल तक आकर समाज मे अनेक प्रकार की मनोविनोद सम्बन्धी क्रीडाओ का प्रचलन हो गया। उत्कीर्ण कला के तथा चित्रकला के आदर्शो से पता चलता है कि मल्लयुद्ध, मुक्केबाजी, घुडदौड आदि बडे लोक-प्रिय व्यायाम थे जिनको स्त्री-पुरुष बडी सख्या मे एकत्रित होकर देखते थे। द्वन्द्व-युद्ध और धनुष-बाण चलाना सार्वजनिक रूप से मनोरंजन के रूप मे देखा जाता था। कई खिलाडियो को राजकीय रूप मे सेवा मे रखा जाता था और जब उनकी कुश्ती या प्रदर्शन समाप्त हो जाता था तो उन्हे पारितोषिक द्वारा सम्मानित करने की प्रथा थी। महाराणा अमरसिंह और राजसिंह को ऐसे आयोजनो मे बडी रुचि थी। हाथियो की लडाई तथा सूअर, चीता और शेरो की लडाई मे राजा महाराजा बडी रुचि लेते थे और उसको देखने के लिए नागरिको की भीड उमड पडती थी। दशहरे पर भैसा को वेधने की दौड लोगो को बडी रोचक लगती थी। नारद, वात्सायन, बाण और दंडी ने जिन पशु युद्धो तथा पक्षियो की लडाइया का उल्लेख किया है उनका राजस्थानी दरबार मे मध्ययुग मे खूब प्रचलन था। कई युद्ध-प्रिय व्यक्ति शेर की शिकार उसके सामने आकर करते थे। बाघसिंह का स्मारक इसका प्रमाण है। अन्यथा वन्य पशुओ की शिकार राजकीय क्रीडा थी जिसको राज परिवार के व्यक्ति ही कर सकते थे। शिकारियो का डेरा कई दिनो लगा रहता था जब शेर घेरे से निकल जाता था। शिकार सम्पादन हो जाने पर बडी दावतें होती थी और बडा उल्लास मनाया जाता था। इन राज्यो मे शिकार की सम्पूर्ण व्यवस्था दरोगा-ए-शिकार या अमीरे शिकार देखता था। कभी-कभी इसमे रानिया भी भाग लेती थी और उनके मचान पर समुचित पर्दे का प्रबन्ध रहता था।[19]

मुगलो के सम्पर्क मे कई क्रीडाओ का स्थानीय क्रीडाओ मे समावेश हुआ। उनमे कुछ स्थानीय रूप मे बनी रही और कुछ एक मौलिक रूप मे मुगल दरबार मे उद्धृत की गई। उनमे से पट्टेबाजी कबूतरबाजी, मुर्गबाजी, बटेरबाजी, तीतर-

---

18 रंगमहल उत्खनन, पृ 160, उपमितिभवप्रपंच कथा, पृ. 181, 390-397, रत्नावली पृ. 38

19 नारद स्मृति 17, पृ 212, वात्स्यायन का कामसूत्र, पृ 19-20, बाण का हर्ष चरित पृ 159, वही, पृ 149-150 (लाइफ इन गुप्ता एज मे उद्धृत, 159-161), कल्पसूत्र, पृ 181, रागमाला [illegible], [illegible] दफ्तर, पत्र 195, रामरत्नाकर, सर्ग 9, पत्र 50-81; [illegible], पत्र 30; [illegible] 11, पृ 128; [illegible] 1771 ई

वाजी, मेढायुद्ध आदि मे निम्नवर्ग का समाज ज्यादा रुचि लेता था और उसी वर्ग के लोग इन पशु-पक्षियो को पालते थे व प्रशिक्षण देते थे। ये पशु और पक्षी कभी-कभी ऐसे लडते थे कि वे खून से लथपथ हो जाते थे। मेढे भी परस्पर सर के टकराव से ऐसे लडते थे कि उनके भिडने से बडा शब्द होता था और कभी-कभी उनकी खोपडिया फट जाया करती थी। इनको देखने के लिए सभी वर्ग और आयु के लोग इकट्ठा हो जाया करते थे। तैरना और झूलना भी सार्वजनिक मनोरजन थे जिनमे भाग लेकर या देखकर वालक, वृद्ध, पुरुप और स्त्रिया आनन्द का अनुभव करते थे। मतगो को दो सिरो से तेल मे भिगोकर और जलाकर करतव दिखाये जाते थे जिसका आयोजन रात्रि को होता था। लठ्ठवाजी, पट्टेवाजी, तलवारवाजी भी उत्तेजनक खेल होते थे जिनमे शहरी युवक भाग लेते थे और दर्शक वडे उल्लास मे देखकर उनका हौसला वढाते थे। चोगन का खेल राजपूत सरदारो मे अधिक प्रचलित था।[20]

पतगवाजी भी मध्यकाल मे अति लोक-प्रिय मनोरजन का साधन रहा है। दिल्ली मे सम्भवत मुगल वादशाहो के समय मे इसका आरम्भ हुआ। शाह आलम प्रथम से इसको लोकप्रियता प्राप्त हुई और पीछे लखनऊ के नवावो ने तथा वहा के निवासियो ने इसमे वडी रुचि ली। राजस्थान मे पहले प्राय "आकाश दीपको" को उडाने की प्रथा थी जो मनोरजन का धार्मिक एव सामाजिक पक्ष था। मुगल सम्पर्क से पतग के उडाने मे कई परिवर्तन आये और जयपुर इस शौक का गढ वन गया। अन्त पुर में भी इसे उडाया जाता था जिसमे केवल महिलाएँ भाग लेती थी। जयपुर मे आज भी वालक से लेकर वूढे पतग उडाते है। राजस्थान के अन्य क्षेत्रो मे भी इसका महत्त्व है। पतग उडाने की धार्मिक परम्परा यह है कि जयपुर मे इसे सक्रान्ति के पर्व पर और उदयपुर मे निर्जला एकादशी पर उडाया जाता है। नव-विवाहित पति-पत्नी पतग का पूजन कर उडाते है और घर की प्रथम पतग पूजनोपरान्त घर का मुखिया उडाता है। यह प्रथा जयपुर मे व्यापक रूप मे देखी गई है।[21]

व्यवसाई लोग भी नगर से नगर और गाव से गाव घूमकर प्रजागण का मनोरजन करते हैं इनमे सपेरे, मदारी, जादूगर, नट, भांड आदि मुख्य है। ये कही चौक या चौराहो और गलियो मे अपना तमाशा दिखाते है और इनके इर्द-गिर्द आस-पास के वच्चे व स्त्रिया जमा हो जाते है और इनके खेल को वडी रुचि से

---

20 वाकीदास की ख्यात पत्र 292, सियाहहजूर 1723, 1771 ई; राजविनोद, पत्र 56, 61, 64; पत्र न. 2266, 1771 ए डी, पर्शियन कोरसपोन्डेन्स, भाग 6, बीकानेर अभिलेखागार।

21 ढोला मारुरी वात (चित्रित), पत्र 63, वीकानेर चित्रकक्ष, न 11, मिश्रा, उत्तरी भारत मे मुस्लिम समाज, पृ 75-77

देखते हैं। कौटिल्य ने तथा बाण ने ऐसे ही मनोरजनो का वर्णन किया है जो राजस्थान मे आज भी प्रचलित हैं। उनके रूप और सज्जा मे अवश्य भेद है।[22]

जोधपुर के भागवत पुराण के चित्रो मे कृष्ण के माध्यम से कई लौकिक खेलो का चित्रण मिलता है। एक चित्र मे कृष्ण और उनके साथी इधर-उधर छिपते हैं और एक ग्वाला उन्हे ढूढता है। दूसरे चित्र मे एक ग्वाला आँखें मुदवाता है और दूसरे छिपते हैं और फिर वह उन्हें ढूढता है। इसी तरह एक चित्र मे एक ग्वाला घोडा बनता है, और उस पर दूसरा बैठकर गेंद का ठप्पा लगाता है और दूसरे गेंद को झेलते हैं। इसी तरह एक मे कई लडके वृक्ष की डाल पर बैठते हैं और वृक्ष की डाली को फेक कर दूसरे को ढूढ़ने के लिए नीचे छोडते हैं। ये खेल लौकिक भाषा मे क्रमश लुका-छिपी, आँख-मिचौनी, घोडा-दडी और डाल कुदावणी कहलाते हैं। मारदडी भी बडा रोचक खेल है जिसे बालक और स्त्रिया खेलती हैं। लट्टू, चकरी और गोली फेंकने के खेल बालको मे प्रचलित थे।[23]

घर मे या एक स्थान पर बैठकर खेले जाने वाले खेलो मे शतरज अभिजात वर्ग मे अधिक लोकप्रिय था। पहले इसे यूरोप मे धर्मयोद्धा द्वारा और बाद मे मुस्लिम देशो मे खेला जाने लगा। छावनियो मे सिपाही इसे बडे चाव से खेलते थे जब इनको विश्राम मे या शत्रु की नाक मे एक मुकाम पर कई दिनो पडा रहना पडता था। इसमे ऊँट, घोडे, हाथी व प्यादे तथा बादशाह व वजीर के मोहरो के माध्यम से विविध खडो पर दो व्यक्तियो से "चाल" चलकर खेला जाता है। यह खेल शाही अभिरुचि से सम्बन्धित होने से तथा विपक्षी को कूटनैतिक चालो से पराजित करने की भावना से खेलने के कारण विचारको एव राजनीति मे रुचि लेने वाले खेलने लगे। राजस्थान मे इसे वजीर, मुसाहिब, सैन्य सचालक विशेष रूप से खेलते थे।[24]

चौपड, चौसर, आदि भी कपडे के बने बिसात पर खेला जाता रहा है जिसे पति-पत्नी या कोई चार या दो व्यक्ति खेलते हैं। इसमे पासो से या कौडियो को फेंक कर गोटियो को पीटा जाता है और इसी से हारजीत का निर्णय होता है। ताश, गजीफा, चरभर, नार-छारी और ज्ञान-चौपड भी लोकप्रिय खेल हैं जिन्हे विश्राम मे खेला जाता है। खिलाडी बारी-बारी से अपना पत्ता चलते हैं और ताश या गजीफे मे तुरुप से निर्णय होता है। चरभर, नार-छारी और ज्ञान-चौपड

22 डोगामार्गी थान, पत्र 15, मानीमहल, नाथद्वारा भित्तिचित्र, तख्तमहल, जोधपुर भित्तिचित्र।

23 नागदा दलनगर (चित्रित), पुस्तक प्रकाश जोधपुर, पत्र 92, 94, 167

24 राजप्रकाश, पत्र 24-25, बीकानेर मजमा; रामचरित्र (चित्रित), पत्र 82, दस्तूर कोमवार, न 25, वेडान, पटर्न हट आफ इंडिया, पृ 208, मिश्रा, उत्तरी भारत मे मुस्लिम समाज, पृ 94-95
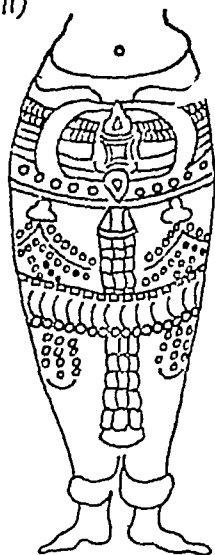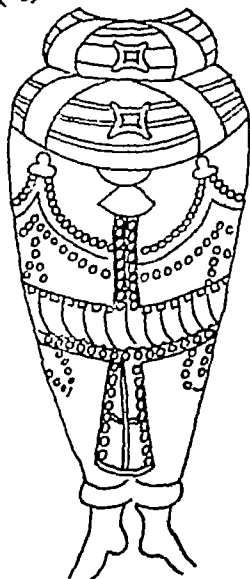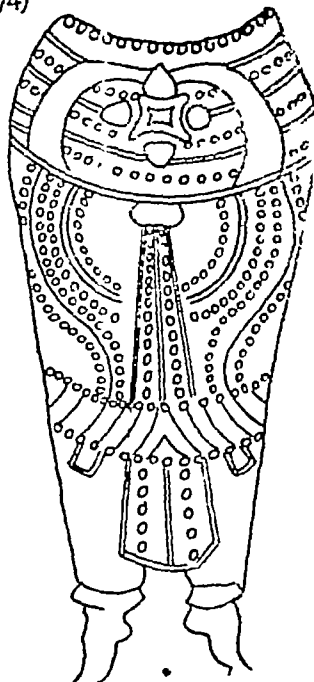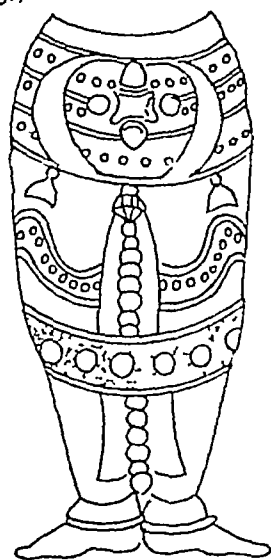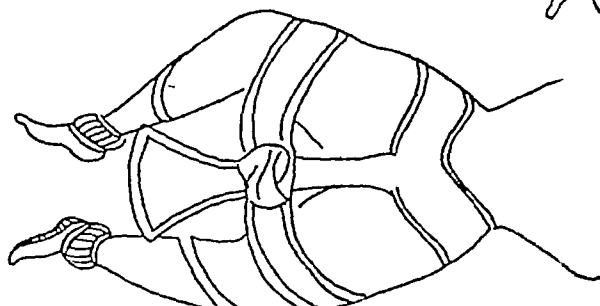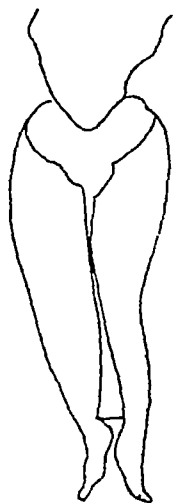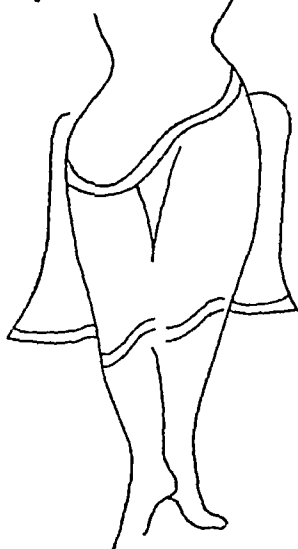
राजस्थान के पूर्व मध्यकालीन स्त्रियों के अधोवस्त्र
(चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ की उत्कीर्ण कला)

देख
रा

मेर
हैं।
श्री
ग्वा
दूस
श्रौर
लोगि
कहत
लद्द

वर्ग
मुसि
जब
पडत
माल
मेल
परा
वाले
मेलने

पनि-प
फेंक व
नाग,
निशा
या गज

22
23
24
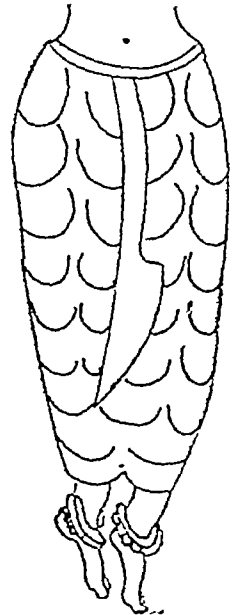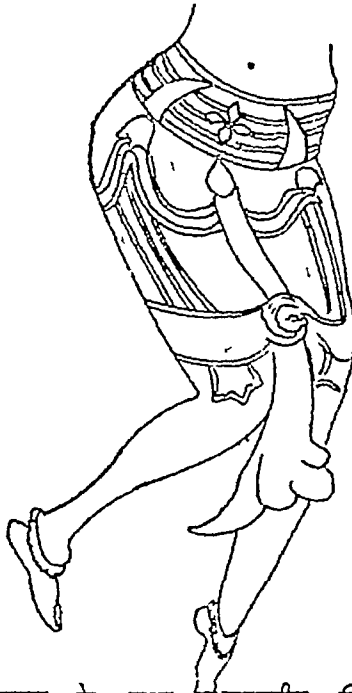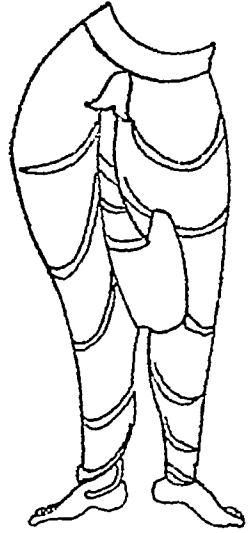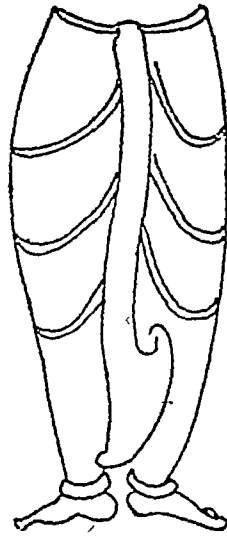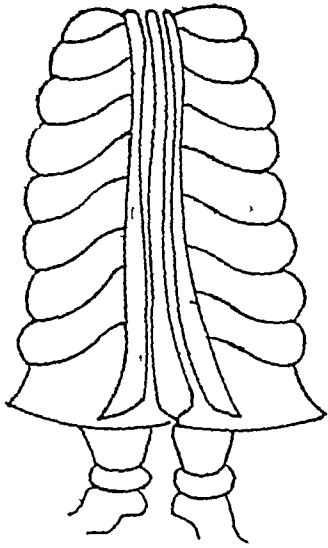
राजस्थान के उत्तर मध्यकालीन स्त्रियों के अधोवस्त्र
(राजस्थान की उत्कीर्णकला के आधार पर)
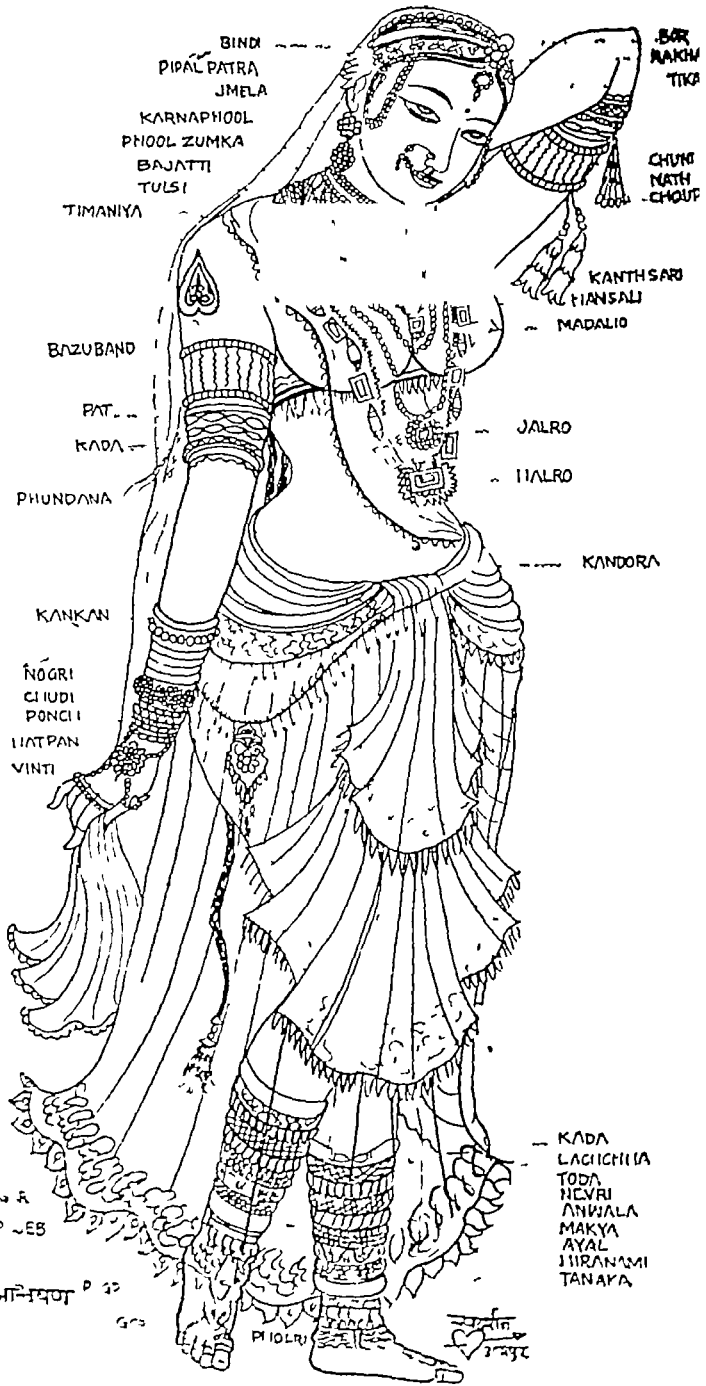
BINDI
PIPAL PATRA
JMELA
KARNAPHOOL
PHOOL ZUMKA
BAJATTI
TULSI
TIMANIYA
BAZUBAND
PAT
KADA
PHUNDANA
KANKAN
NOGRI
CHUDI
PONCHI
HATPAN
VINTI
KANTHSARI
HANSALI
MADALIO
JALRO
HALRO
KANDORA
KADA
LACHCHHA
TODA
NEVRI
ANWALA
MAKYA
AYAL
HIRANAMI
TANAKA
PHOLRI
स्त्री के
राजस्थानी आभूषण
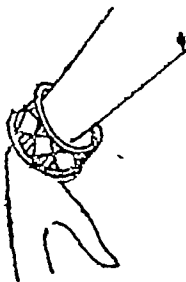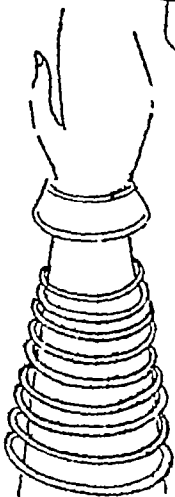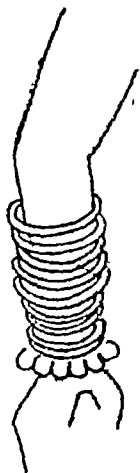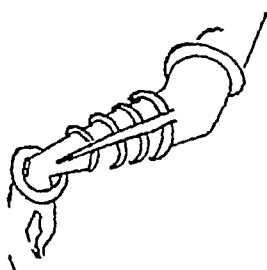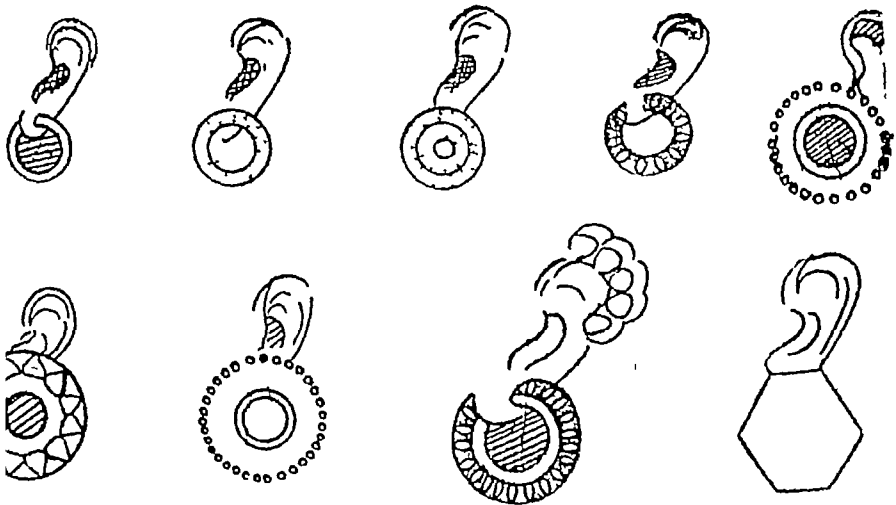
कान और हाथ के आभूषणो की राजस्थानी रचना
(विक्टोरिया म्यूजियम की 15 वी शताब्दी की
मूर्तियों पर आधारित)
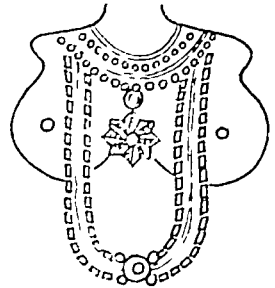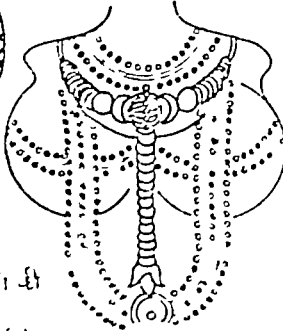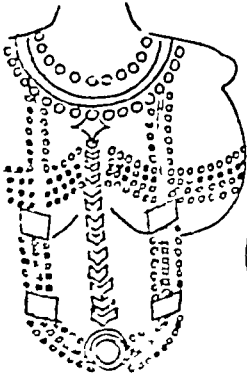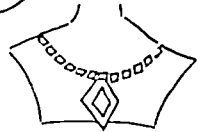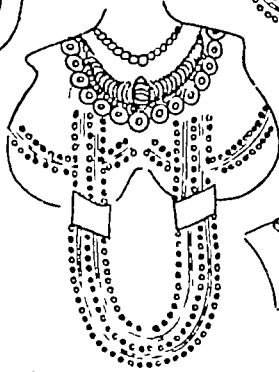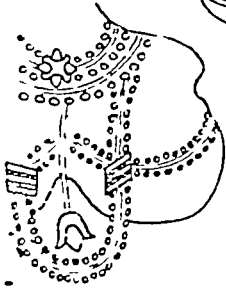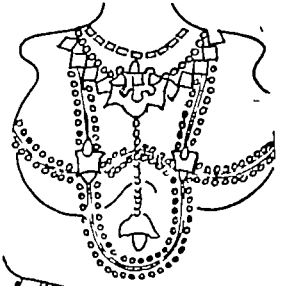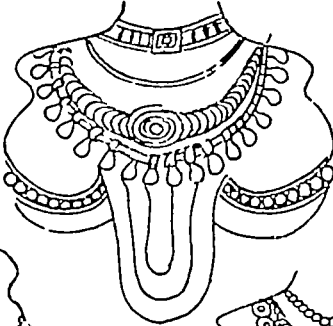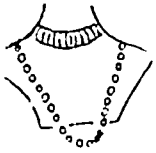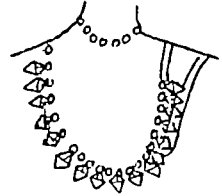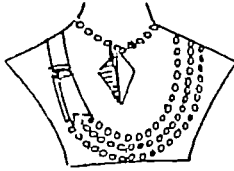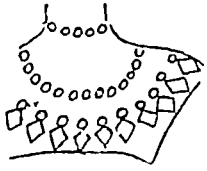
कौड़ियो से या इमली के बीजो की बित्तुओ से अथवा विविध रग के पत्थरो से खेला जाता है। ये बडे सरल खेल है जिनको किसी मन्दिर या चौराहे के पत्थरो पर माड कर खेला जाता है। ज्ञान-चौपड की विशिष्ट बिसात होती है और हार-जीत, पाप-पुण्य के कोष्ठको पर चाल चलकर तय की जाती है।[25]

ये खेल मुख्यत मनोरजन के साधन है, परन्तु इनके द्वारा प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को आपस मे मिलने-जुलने का अवसर मिलता है। खेल-कूद मे जात-पात का भेद-भाव नही रहता जो समाज मे सामञ्जस्य एव सद्भाव उत्पन्न करने का अच्छा अवसर प्रदान करता है। ऊपर वर्णित कई खेल प्राचीन काल से चले आते है जिनमे एक विशुद्ध परम्परा दिखाई पडती है। कई खेलो का सम्बन्ध धार्मिक पर्वों और उत्सवों के साथ इतना जुडा है कि समाज मे एक पीढी से दूसरी पीढी तक सतत उनका प्रचलन सास्कृतिक धरोहर के रूप मे माना जाता है। कई मनोरंजन के साधन राष्ट्रीय स्तर के या सार्वजनिक होने से देश मे राष्ट्रीयता को बल देते हैं। ये खेल-कूद के साधन अपने ढग से जन-जीवन को एक सूत्र मे बाधकर सास्कृतिक जीवन मे रोचकता का सचार करते है। आमोद-प्रमोद की विविधता धार्मिक और सामाजिक विचारधारा मे समन्वय की भावना को पुष्ट बनाती है। राजस्थान में आज भी ऐसे खेल गावो मे खेले जाते है—जैसे गेंद फेकना या मारना, झूलना, काठ की गुड़िया से खेलना आदि जिनका वर्णन वेदो मे, पुराणो और प्राचीन साहित्य के ग्रन्थां मे मिलता है। पशु-युद्ध, मल्ल-युद्ध तथा मृगया जैसे मनोरजन के साधन राजस्थान मे प्राचीनकाल से प्रचलित रहे हैं जिनके द्वारा एक युग से दूसरे युग मे शौर्य और पुरुषार्थ को बढावा मिला है। ये साधन समाज को कठिन परिश्रम के उपरान्त विश्राम भी देते हैं और व्यक्तियो को सर्वदा स्वस्थ और स्फूर्तिवान् बनाये रखते हैं। राजस्थान सरकार इस दिशा मे पूर्ण प्रयत्नशील है जिससे लौकिक मनोरजन के साधन प्राणवान बने रहे।

□□□

---

25 ढोलामारुरी बात (चित्रित), पत्र 81, दस्तूर कौमवार, 1729 ई.; राजरत्नाकर, पत्र 92; जी. एन शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 131-133.

अध्याय 6

राजस्थान में विविध धर्म और संस्कृतियाँ

भारतवर्ष की भाँति प्राचीनकाल मे राजस्थान का समाज धार्मिक भावनाओ से अनुप्राणित रहा है। यहाँ की जीवन सम्बन्धी अनेक सस्थायें तथा दैनिक नियम और प्रवृत्तियाँ नैतिक आचरणो मे सम्बद्ध रही है। चाहे धर्म सस्थान हो या पारिवारिक सस्थायें हो, वे सभी धर्मानुष्ठान तथा सदाचार की परिधि मे क्रियाशील देखी गई हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था, सस्कार आदि सामाजिक नियोजनो के मूल मे धार्मिक आधार ही प्रमुख है। ऐसी स्थिति मे यह स्वीकार करना पडेगा कि मानव जीवन के विकास और सास्कृतिक उद्‌बोधन मे धार्मिक प्रवृत्तियो और परम्पराओ की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अत धार्मिक जीवन एक सामूहिक तत्त्व है जिसके अन्तर्गत विश्वास, आचार, विधि, अर्चना, धार्मिक मत, सम्प्रदाय, धार्मिक चिन्तन, परिकल्पना, सन्त और उनके उपदेश, धर्म-स्थान, यात्रा-स्थल आदि समाविष्ट हैं।

धार्मिक सस्कारो का श्रीगणेश

प्रागैतिहासिक काल मे राजस्थान का जनजीवन धार्मिक चेतना के प्रति निष्ठावान रहा है। सरस्वती, दृषद्वती तथा आहड आदि नदियो की घाटियो से प्राप्त भग्नावशेष एव सामग्री उस अतीतकाल की धार्मिक स्थिति पर कुछ प्रकाश डालती है। कालीबगा के किले की चारदिवारी मे स्थित 5–6 चबूतरे तथा कुछ वेदियो की कतारें इस बात के प्रमाण हैं कि यहाँ के निवासियो मे धर्म तथा उससे सम्बन्धित प्रक्रियाये उनके जीवन के प्रेरक तत्त्व थे। साधारण बस्तियो के दायरो मे प्राप्त पूजागृह तथा वेदियो के अवशेष व्यक्तिगत धार्मिक भावनाओ को व्यक्त करते हैं। आहड तथा गिलूड के भाण्डो के भण्डारो मे नालीवाले, बैठकवाले तथा गोमुखवाले मिट्टी के बरतन उस समय के पूजा-विधि के साधन थे। इन उपकरणो से ऐसा लगता है कि इन घाटियो के नागरिको मे यज्ञकर्त्ताओ का एक वर्ग था जो इन उपकरणो का पूजा, यज्ञ या अर्चना के लिए उपयोग करता था।[1]

कालीबगा से प्राप्त सींगवाले मानव की आकृति के अवशेष सिंधुघाटी की शिवमूर्ति के समान है। इसी तरह यहाँ का नाँदि का बैल तथा घडो पर चित्रित

---

1 [illegible] 1979, पेज 200

सर्प, वृक्ष एव शकु, वर्तुल तथा छिद्रित पत्थर, शिवलिंग तथा स्त्री-योनि एव शिव और मातृदेवी की आराधना के प्रतीक है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूजा के क्षेत्र मे उस समय सर्वाधिक प्रतिष्ठा सम्भवत अग्नि, मातृशक्ति, पृथ्वी, नदी, वृक्ष और पशुओ मे थी जो आस्था के प्रतीक के साथ जीवनयापन के प्रमुख साधन भी थे। इन प्रतीको की पूजा की परम्परा भी शायद सिन्धु-घाटी सस्कृति की देन है। इन्ही प्रतीको की देवत्व सज्ञा आने वाले युगो मे स्पष्ट उभरती है।[2]

आहड व गिलूड मे मिलने वाली सामग्री मे मिट्टी, स्फटिक तथा रग-विरगे पत्थरो से वने विविध आकार और प्रकार के मणिये प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। इनका उपयोग आभूषणो के रूप मे ही नही होता था वरन् इनको मनौती या बाधा हरण के लिए कान, गले और बाजुओ मे लटकाया या बाँधा जाता था। ऐसे बाँधे जाने वाले मणियो और ताबीजो पर पशु, त्रिशूल, सर्प, वृक्ष आदि की आकृतियाँ बनती थी जो तान्त्रिक विश्वास की द्योतक थी। आज भी गाँवो और जगली जातियो मे इनका उपयोग बाधाओ के निवारणार्थ बहुतायत से होता है।[3]

कालीबंगा से उपलब्ध सामग्री के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस प्राचीन युग मे मानव मृतको के सस्कारो के प्रति आस्थावान था। इन सस्कारो के पालन करने के यहाँ तीन रूप सामने आये हैं। एक तो मृतको को उत्तर की ओर पूरा लिटा दिया जाता था और मस्तक की ओर विशेष प्रकार के चित्रित भाड तथा आभूषण रखकर उसको गाड दिया जाता था। दूसरी विधि मे मृतक को आसनबद्ध विठाकर गाडा जाता था। तीसरी विधि मे गले मे सुवर्ण अथवा काँच की मणि के साथ एव भाड, सीप, चूडियाँ आदि वस्तुओ सहित गाड दिया जाता था। इस प्रकार मृतक सस्कार का प्रचलन मोहनजोदडो और हडप्पा मे भी देखा गया है और भारत मे भी अद्यावधि इसका परिवर्तित रूप सर्वत्र प्रचलित है। यह सस्कार इस बात का प्रमाण है कि प्राचीनकाल से पूर्वजो को श्रद्धा की भावना से देखा जाता था और इस प्रक्रिया का सास्कृतिक महत्त्व था।[4]

यदि हम इन धार्मिक भावनाओ और प्रतीको एव सस्कारो का वैज्ञानिक विश्लेषण करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रागैतिहासिक काल मे राजस्थान मे शिव, शक्ति, पृथ्वी, नदी, अग्नि, जल, पशु, वृक्ष एव तान्त्रिक प्रक्रियाओ को मानव के स्तर से उच्चकोटि के स्तर पर ईश्वरत्व के प्रतीक के रूप मे माना जाता था। उस युग का मानव इनमे आस्था रखता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये विविध क्षेत्रीय जातियाँ एक-दूसरे के विचारो से प्रभावित भी थी। ऐसा भी लगता है कि

---

2. इडस सिविलीजेशन, पृ 65-97।
3. एस्केवेशन एट आहड (साकलिया) पृ. 17, 25, 35, 129 आदि।
4. एन्सीयेन्ट सिटीज ऑफ दी इन्डस विजडम, 1978, पृ 202.

इन सभी संस्कृतियों में धर्म निरपेक्ष, तान्त्रिक एवं उपासना सम्बन्धी तत्त्वों का सम्मिश्रण खूब हुआ है। आज के हिन्दू धर्मावलम्बियों की आस्था के अनेकांश प्रागैतिहासिक मानव की धार्मिक धारणाओं और प्रकृति की उपासनाओं के अनेक अंशों से जुड़े हुए हैं, जिससे हमारी संस्कृति की यह कालोत्तर एकता अविच्छिन्न रूप से प्रतिष्ठित है।[5]

वैदिक धर्म की अविरलता

जब आर्य सरस्वती और दृषद्वती नदियों की घाटियों में बस गये तो शनै शनै उनका प्रसार राजस्थान के भीतरी भागों में भी होता गया। इस प्रसार के साथ-साथ स्थानीय और बाह्य संस्कृतियों का समागम एवं संस्पर्श ही नहीं हुआ, अपितु समृद्ध वैदिक चिन्तन और प्रक्रियाओं का भी प्रभाव उत्तरोत्तर सुदृढ़ होता गया। इसके फलस्वरूप वैदिक धर्म के दो महत्त्वपूर्ण आधार यज्ञ और देवमण्डल को लेकर मन्त्रों की रचना सरस्वती के तट पर हुई और क्रमशः उनके द्वारा हवन, स्तुति आदि प्रक्रियाओं का भी प्रचलन हुआ। इस काल से ही राजस्थान के निवासियों का जीवन वेदों में प्रतिपादित आस्तिक विचारों और धार्मिक चेतना से प्रभावित होने लगा। यज्ञों का सम्पादन तथा इन्द्र, वरुण, सूर्य, ब्रह्मा और सोम की आराधना का भी सूत्रपात यहीं से आरम्भ होता है। यज्ञों को सम्पत्ति तथा जीविका का आधार तथा प्रज्ञा-प्रकाशक एवं प्रभुता प्रदायक मानकर उनको महत्त्व दिया जाने लगा। देवताओं और मनुष्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में यज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ के माध्यम से हविष् अर्पित किया जाता था। सोमयज्ञ में देवताओं को सोमरस अर्पित किया जाता था। दैनिक रूप में सम्पादन किये जाने वाले यज्ञों में अग्निहोत्र तथा पञ्च महायज्ञ की महिमा थी। सोमयज्ञ का एक प्रकार अश्वमेध यज्ञ था जिसे सार्वभौम शासक ही आयोजित करते थे। इस यज्ञ में विशिष्ट प्रकार के अश्व के अंगों की आहुति दी जाती थी। यह अश्व विभिन्न दिशाओं में घूमने के बाद लौट आता था। अग्निष्टोम, वाजपेय, पुरुषमेध आदि यज्ञों की भी समाज में मान्यता थी। दूसरी शताब्दी ई० पू० के घोसुण्डी शिलालेख में अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है जो गजवंश के सर्वतात ने सम्पादित किया था। तीसरी शताब्दी के नान्दसा यूप स्तम्भ पर षष्ठिरात्र यज्ञ का आयोजन अंकित है। बैराट् से प्राप्त यूपों पर जो तीसरी ई० पू० के हैं स्वस्तिक चिह्न यज्ञ के बोधक हैं। यौधेय मुद्राओं पर भी यूप चिह्न इसी परम्परा को प्रमाणित करते हैं। कोटा नगर के कुछ यज्ञ स्तम्भों से त्रिरात्र-यज्ञ के प्रचलन का बोध होता है। मेवाड़ के बापारावल, क्षेत्रसिंह, महाराणा कुम्भा तथा राजसिंह वैदिक यज्ञों का सम्पादन करते थे। जोधपुर के अभयसिंह ने भी वैदिक धर्म की परम्पराओं को निभाया। जयपुर के सवाई जयसिंह ने अश्वमेध तथा अन्य प्रकार के यज्ञों के सम्पादन द्वारा वैदिक परम्परा को जीवित

5 स्कॉलेचर एट आर्ट, पृ 129, 167, 175 आदि।

रखा। आज भी राजस्थान की प्रजा मे यज्ञो मे विश्वास है और प्रतिवर्ष स्थान-स्थान पर इसके आयोजन होते रहते हैं।[6]

यज्ञो के माध्यम से प्राचीनकाल मे, देवगणो को प्रसन्न किया जाता था, जो मानव जीवन मे सहायक होते थे। अग्नि और सूर्य की उपासना सर्वोपरि थी। तदनन्तर ब्रह्मा, रुद्र, वरुण आदि देवताओ के रूप मे पूजे जाते थे और आगे चलकर इनकी प्रतिमाएँ भी बनाई जाती थीं, जिनकी विधिवत् अर्चना की जाती थी। राजस्थान मे 12वी शताब्दी तक ब्रह्मा की मुख्य देव के रूप मे अर्चना प्रचलित थी, जो पुष्कर, वासवाडा, कुसमा (सिरोही) भीनमाल आदि के मन्दिरो से प्रमाणित हैं। ब्रह्मा की भाँति सूर्य की भी मुख्य देव के रूप मे पूजा प्रचलित थी। चित्तौड का सूर्य मन्दिर इस कथन का आज भी साक्षी है। इस देव की महत्ता मध्यकालीन सुरह-स्तम्भो तथा हस्तलिखित ग्रन्थो से स्पष्ट है। आज भी इन देवो को उपदेव के रूप मे पूजा जाता है। पचायतन मन्दिरो मे पृष्ठभाग का देवल बहुधा सूर्य का देखा गया है, जैसा कि उदयपुर के 17वी शताब्दी के जगदीश मन्दिर से स्पष्ट है।[7]

शिव की देव के रूप मे अर्चना बडी प्राचीन है। जैसा कि प्रागैतिहासिक कालीन धर्म की व्याख्या से सिद्ध है। 7वी शताब्दी से शिव-पूजा और उसकी मूर्ति मन्दिरो मे स्थापित करने की परिपाटी राजस्थान मे बड़ी प्राचीन रही है। प्रतिहार, सिसोदिया, राठौड़वशीय शासको ने तथा समृद्ध परिवारो ने यहाँ अनेक शिवालय बनाये और उनकी अर्चना की सुव्यवस्था की। एकलिंग भगवान् की प्रतिमा और शिवालय स्थापित करने का श्रेय बापा रावल को है। इनकी पूजा का प्रचलन मेवाड़ मे प्राचीनकाल से आज तक देखा जाता है। शिव के वाहन के रूप मे वृषभ का होना बड़ा महत्त्व का है। अपूर्णा की ऐसी मूर्ति अपने आप मे बडी अद्वितीय है। चौहानो के इष्टदेव हर्षनाथ का मन्दिर विलक्षण प्रतिभा का प्रतीक है। इसी वंश द्वारा निर्मित जहाजपुर और माडलगढ के शिव मन्दिर इस भाग मे शिव पूजा को इंगित करते हैं। आबू मे शिवार्चन प्रचलित था जो प्रतिहारो के अचलेश्वर मन्दिर से प्रमाणित है। शिव को अर्द्धनारीश्वर के रूप मे भी पूजा जाता था जैसा कि आबोनेरी, ओसिया आदि की मूर्तिया से प्रमाणित है।[8]

विष्णु की पूजा भी शुगकालीन लेखो से तथा 8वी-9वी शताब्दी की वैजयन्तीमाला वाली तथा कोटा और उदयपुर की शेषशायी प्रतिमाओ से पुष्ट है।

---

6. आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1906-07; भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, न. 6, 9, आमेर व कोटा म्यूजियम के यूप स्तम्भ, एक्सकेवेशन ऑफ बेराट् पृ. 3, डॉ. जी. एन. शर्मा—सोशल लाइफ, पृ 179-183.
7. ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 26; अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ. 235.
8. राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ. 387-390

आगे चलकर मीरा के चित्तौड व एकलिंग के मन्दिरो मे राधाकृष्ण की प्रतिमाएँ तथा आमेर मे कृष्ण की मूर्ति, जोधपुर मे घनश्याम की मूर्ति तथा मण्डोर में गोवर्धन की मूर्ति आदि इस देव की पूजा के प्रचार का समर्थन करती है।[9]

मातृदेवी की अर्चना भी राजस्थान मे बडी पुराने काल से चली आ रही है। मध्ययुगीय काल मे इसको दुर्गा, चडिका, महिष-मर्दिनी, नवदुर्गा आदि के रूप मे बडे उत्साह से पूजा जाने लगा, क्योकि शत्रुओ के सहार के लिए इससे युद्ध प्रिय जातियो को बडा उत्साह मिलता था।[10]

गणेश, गणपति, सिद्धि-विनायक आदि नामो से गणपति की आराधना प्रमुख रही है। कोई भी शुभ कार्य का आरम्भ इनके पूजन के विना नही हो सकता। जो यज्ञ, दान, वेदाध्ययन से विमुख रहते है उनके लिए शास्त्रकारो ने विनायक पूजा को निषिद्ध घोषित किया है। आपत्ति से वचने के लिए भैरव, हनुमान, यक्ष, यक्षिणी, क्षेत्रपाल तथा योगिनी आदि की आराधना राजस्थान मे खूब देखी गयी है जैसा कि कुवलयमाला, समराइच्छकहा, कान्हडदे पवन्ध आदि मे वर्णित कथाओ से प्रमाणित है। इन देवताओ का स्थान उपदेवो के समक्ष स्वीकृत है। विवाह तथा सस्कार सम्वन्धी कार्यो मे मन्त्रो द्वारा इनकी उपस्थिति की प्रार्थना की जाती है और कार्य की समाप्ति पर उन्हे भेंट, पूजा और नैवेद्य से सतुष्ट कर विसर्जन भी विधिवत् किया जाता है।[11]

जिस तरह विविध देव और देवियो की अर्चना का सास्कृतिक महत्त्व है, उसी तरह इनके अर्चन तथा श्रद्धा को निर्दिष्ट करने वाला मार्ग इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। देव अर्चन और उसके विधि विधान की सीमा, तत्त्व और उपयोग उससे सम्वन्धित धर्म या पन्थ मे है। पूजा की प्रक्रिया वाह्य उपकरण है, परन्तु उस प्रक्रिया को वतलाने वाली शक्ति आन्तरिक है जो किसी विशेष विधि विधान की सीमाएँ निर्धारित करती है और ज्ञान की आधार वनती है। अतएव मानसिक विकास के लिए धर्म-वन्धनो और मतो का होना भी आवश्यक है, जिसे हम ज्ञान के अभिसिंचन का स्रोत कह सकते है। राजस्थान मे धार्मिक स्रोतो मे शैव, वैष्णव, शाक्त, रामभक्ति आदि की प्रधानता रही है।

शैव धर्म

शिव से सम्वन्धित धर्म का शैव धर्म और उसके अनुयायियो को 'शैव' कहते है। इस धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। सिन्धु-सभ्यता तथा सरस्वती-दृषद्वती एव आहड सभ्यता के अवशेषो, तावीजो, शकु एव वर्तुलाकार पत्थरो के तुलनात्मक

9 जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 1960, पृ 501
10 कुवलयमाला, पृ 13, समराइच्चकहा, पृ 457, रिसर्चर 1, भाग 1, पृ 25, 47
11 राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ 390-396

अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनार्य शिव और आर्य शिव का सामजस्य पशुपति, त्रिशूलधारी एव त्रिनेत्र शिव मे प्रचलित हुआ। शिव की आकृति के साथ सर्प, बैल, लिंग, जटा, भस्म का सयोग आर्य और अनार्य सस्कृति की धार्मिक भावनाओ और दिनचर्या का सम्मिश्रण है। सम्भवत राजस्थानी आदिवासियो से सम्बन्धित होने से शिव का परिधान चर्म से जोडा गया है। युगान्तर मे समाज ने शिव की आराधना और उसके मत को आस्था के रूप में ग्रहण किया। पर्वत, नदी तट, वस्ती एव श्मशानादि स्थानो मे शिव की प्रतिमा की व्यापकता लोकप्रिय हो गई। पूर्व मध्य-कालीन शिलालेखो से विदित होता है कि राजस्थान मे शिव की अर्चना एकलिंग, गिरिपति, समाधीश्वर, चन्द्रचूडामणि, भवानीपति, अचलेश्वर, शम्भू, पिनाकिन, स्वयम्भू आदि विविध नामो से की जाती थी और आज भी की जा रही है। इन विविध रूपो मे शिव सर्वद्रष्टा और कर्त्ता रूप मे भी है। उनके स्वरूप मे सृष्टि के पालन, सहार, तिरोभाव, प्रसाद एव अनुग्रह की अपेक्षा निहित है।[12]

शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत पाशुपत मत का विकास हुआ जिसका वर्णन पुराणो मे मिलता है। पाशुपत मतावलम्बी लकुलीश को शिव के अट्ठाइसवें अन्तिम अवतार मानते हैं और हाथ मे "लकुट" अर्थात् दण्ड धारण करते ह। इस सम्प्रदाय के साधु दिन मे कई वार स्नान करने, शिव की तीन वार पूजा करने, दण्ड धारण करने, एकलिंगार्चन और उनमे ईश्वर की मान्यता मे विश्वास करते हैं। पहली सदी ई॰ के समय इस सम्प्रदाय की उत्तर-भारत में विशेष उन्नति हुई। इसका दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान मे प्रचार का श्रेय हारीत, वेदागमुनि, माहेश्वर ऋषि, गणऋषि, नरहरि आदि आचार्यो को है। हारीत ऋषि की परम्परा के शिष्य मेवाड स्थित श्रीएकलिंगजी की सेवा करते रहे और उन्हे राजवश के गुरु के पद की मान्यता प्राप्त होती रही। परन्तु 17वी शताब्दी मे इनकी जीवनचर्या मे लोम विलोम गतिविधियो को देखकर इन्हें अपदस्थ कर दिया गया और उनके स्थान पर वनारस से सन्यासी रामानन्दजी को लाया गया और तभी से उनकी परम्परा के शिष्य पदासीन होते रहे। आजकल इनके स्थान को रिक्त रखा गया है।[13]

कापालिक भी शैव होते हैं जो भैरव को शकर का अवतार मानकर उन्हे अपना इष्टदेव स्वीकार करते हैं। सुरापान, भैरवी का आलिंगन, मुण्डमाल, नर-कपाल, लोहयष्टि, क्रूरता, नरवलि का नैवेद्य और अतिमार्गी होना, इनके मुख्य लक्षण हैं। राजस्थान मे कापालिक साधुओं का प्रावल्य ग्रामीण क्षेत्रो मे आज भी दिखाई देता है। ये साधु एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं और अपने मन्त्र-तन्त्र, साधना, भस्म आदि से अपने भक्तो को आशीष देते हैं।

---

12. भावनगर इन्स. भाग 2; जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ 498-499
13 लकुलीश का लेख, 971 ई०।

पूर्व मध्यकाल मे शैवधर्म का एक नवीन रूप नाथ पंथ के नाम मे विख्यात हुआ। ईसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे मत्स्येन्द्रनाथ इस पंथ के प्रमुख प्रचारक हुए। हठयोग, तन्त्रवाद, कुण्डली क्रिया आदि मे ये विश्वास करते थे। मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य परम्परा मे गोपीचन्द भरथरी आदि प्रमुख साधु हो गये हैं जिनकी धूणी व भस्म आज भी राजस्थान की कई गुहाओ मे सुरक्षित बतलाई जाती हैं। इन स्थानो मे भजन, भाव, प्रसाद वितरण, रात्रि-जागरण आदि आयोजन समय-समय पर होते रहते हैं ताकि उनका स्मरण बना रहे।

नाथ-सम्प्रदाय का दबदबा जोधपुर मे खूब रहा। इनकी मुख्य गद्दी नाथ मन्दिर के नाम से विख्यात है जिसको राज्य की ओर से सम्मान और जागीर प्रदान की गई थी। महाराजा मानसिंह के समय मे इस सम्प्रदाय के साधुओ का राजनैतिक प्रभाव बहुत था। ये भगवा-वस्त्र, ऊँची काली टोपी पहनते थे और कानो को छिदवाते थे। ललाट पर बभूत लगाना, बाल बढाना, जन-सम्पर्क स्थापित करना शिवलिंग की पूजा करना, स्तोत्रो का पाठ करना इनके दैनिक जीवन की विशेषतायें हैं।[14]

साखी, सिद्ध, नागा आदि भी शैव थे जिन्होने जगह-जगह अपने अखाडे बना रखे थे। इन्हे राज्य द्वारा जागीरें प्राप्त थी। ये लोग नगे रहना, सम्पूर्ण अग पर भस्म लगाना, अग्नि तपना, धूप-वर्षा को बदन पर झेलना आदि को तपस्या का अग मानते थे और आज भी मानते हैं। टेवरनियर ने ऐसे कई कष्ट साध्य तपस्याओं का अपनी यात्रा वर्णन मे उल्लेख किया है जिनको उसने स्वय देखा था। आज भी कई ऐसे योगी अलख निरजन की ध्वनि लगाकर राजस्थान मे विचरण करते हैं और अपने चमत्कार से लोगो को प्रभावित करते हैं। वैसे ऐसी तपस्याएँ ढोंग के माध्यम भी हो सकते हैं, परन्तु निष्ठा तथा नि स्वार्थ भाव से यदि इनकी साधना की जाये तो पाशविक प्रवृत्तियो पर काबू पाने का अच्छा ढग है। कष्ट साध्य तपस्या से इन साधुओ ने भ्रान्त जनो को प्रेरित करने मे अवश्य कुछ हद तक सफलता प्राप्त की है।[15]

राजस्थान मे हर्षकालीन युग से शैव सम्प्रदाय की प्रगति सतोषजनक रही। प्रतिहारो, परमारो, भाटी, राठोडो और सिसोदियो ने तथा उनके सामन्तो एव अधिकारियो ने, यहां तक कि आम जनता या उसके समूहो ने शिवालयो के निर्माण द्वारा एव अनुदानादि द्वारा शैव धर्म के प्रति श्रद्धा प्रकट की और उसकी प्रगति मे योग दिया। ऐसे हजारो मन्दिर राजस्थान मे हैं जिनकी अपनी अभिव्यक्ति सांस्कृतिक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति के लिए श्लाघनीय है। उदाहरणार्थ, महाराणा कुम्भा

---

14 नाथचरित्र (पाण्डुलिपि), पत्र 2, पंक्ति 9-10, पृ 70.
15 [illegible] पत्र 47, टेवेनियर, द ट्रेवल्स ऑफ इंडिया(?), भाग 1, पृ 102

ने श्रीएकलिगजी भगवान् के मन्दिर की व्यवस्था श्रौर मूर्ति की पूजा के व्यय के उपलक्ष्य मे नागदा, कालोडा, मालखेडा श्रौर भीमाना गाँव भेंट किये। राव गागा की रानी नानिक देवी जोधपुर मे अचलेश्वर के मन्दिर को बनवाकर अचलयश की भागिनी बनी। खडगदे गाँव के एक पटेल सामुल ने वीरेश्वर के मन्दिर का निर्माण 1567 ई० मे करवाया। रामसुखिया ने डूंगरपुर के धनमाता पहाड के महाकाल मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया, जहाँ श्राज भी सहस्रो की सख्या मे शिवरात्रि को लोग जाते हैं श्रौर शिवजी के दर्शन का लाभ उठाते हैं। शैव धर्म राजस्थान की संस्कृति का प्रमुख अग है। इसमे प्रतिपादित साधना, योग, तप आदि क्रियाओ के माध्यम से मनुष्य मोह श्रौर माया को त्याग कर अमरत्व की प्राप्ति कर सकता है। इसका साधना पक्ष जीव को मुक्ति दिलाता है, योग शरीर को निरोग श्रौर सयमी तथा तप मनोबल को परिवर्द्धित करता है। सन्ध्योपासना जप, हवन, पूजा, मन्त्र आदि शैव सम्प्रदाय की प्रक्रियायें आनन्दानुभूति प्राप्त करने श्रौर जीवन-बन्धन मे मुक्ति दिलाने के अनुपम साधन हैं। ये ही सब सांस्कृतिक पक्ष शैव सम्प्रदाय को आज भी व्यापक बनाये हुए हैं।[16]

शाक्त सम्प्रदाय

शक्ति की पूजा मे विश्वास रखने वाले शाक्त मतावलम्बी कहलाते हैं। शिव की भाँति शक्ति का देवी रूप प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित है। मातृ-देवी की पूजा सिन्धु सभ्यता मे परिलक्षित होती है जो परम्परा सरस्वती, दृषद्वती तथा आहड़ संस्कृति के भग्नावशेषो मे देखी जाती है। रग महल, रेड, बैराट् आदि स्थानो के उत्खनन मे देवी की आकृति के अवशेष 3–4 शताब्दी तक शक्ति के प्रभाव को अभिव्यजित करते हैं। यौधेय चामुण्डा तथा महिषासुर मर्दिनी की आराधना करते थे, इसकी पुष्टि नगर से प्राप्त मूर्तियो से होती है। कल्याणपुर एव जगत् के पर्वतीय प्रदेश से प्राप्त देवी की मूर्तियाँ आदिम जातियो मे इसकी पूजा का प्रचलन इगित करती हैं। पूर्व मध्यकालीन अनेक शिलालेखो मे कतिपय देवी की स्तुति के उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि शक्ति उस समय तक एक देवी के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुकी थी। मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गा सप्तशती का नवरात्र मे पाठ करने का प्रचलन पूर्व मध्यकालीन अनुदानो मे उल्लिखित है श्रौर यह परम्परा समाज मे आज भी विद्यमान है।[17]

शाक्त-सम्प्रदाय सामरिक जीवन से बहुत जुडा हुआ है। राजस्थान मे मिलने वाले गुप्तकालीन शिव पार्वती के फलक युद्धोचित मुद्रा के द्योतक है। पूर्व एव

---

16. कुभलगढ़ लेख, पट्टिका 1, श्लोक 41-50, जा. एन. शमा—सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 187-190.

17 ओसिया लेख 1179, चीरवालेख 1273 ई०, जैन लेख, पृ 253-256, न 27, 22.

उत्तरकालीन लेखो व पाण्डुलिपियो मे देवी की विविध नामो से स्तुति की गयी है जो शौर्य, क्रोध, दमन आदि भावनाओ को व्यक्त करती है। जहाँ शक्ति मातृदेवी, क्षेमकरी, राधिका, सरस्वती, लक्ष्मी, सच्चिका, वसुन्धरा आदि सौम्य रूप मे स्तुत्य है वहाँ उसे महिषासुर मर्दिनी, काली, कात्यायनी, भवानी, चामुण्डा आदि रौद्र रूप मे भी आराधित किया गया है। चूकि उस युग का युग-धर्म बल, पुरुषार्थ और युद्ध था। इसलिए युद्धप्रिय जातियो और देश रक्षको ने शक्ति को अपनी प्रमुख आराध्य देवी माना। जब वे युद्ध मे उतरते थे या बलि देते थे "जय माताजी की" ध्वनि से युद्धस्थल या बलिदान का कक्ष गूज उठता था।[18]

शाति के समय इसे अपनी माता, धातृ एव कल्याणकारी मान कर शक्ति के अनेकानेक मन्दिरो के भी निर्माण कराये गये। ऐसे मन्दिरो मे 1177 ई० का ओसिया का सच्चिका का, गोगून्द मे 1366 ई० का शीतला का, चित्तौड मे कालिका का, जगत् मे देवी का, आमेर मे शिला देवी का, आबू मे अम्बिका का मन्दिर बडे प्रसिद्ध है।

चूकि युद्धो का नेतृत्व राजस्थान के नरेश करते थे तो उन्होने अपनी शक्ति मे अधिकाधिक मान्यता होने के कारण देवी को अपनी कुलदेवी के रूप मे सस्थापित कर लिया। सिसोदिया नरेशो ने बाणमाता को, बीकानेर के राठौडो ने करणीजी को, जोधपुर के राजपरिवार ने नागणेचीजी को और कच्छवाहो ने अन्नपूर्णा को कुलदेवी स्वीकार कर लिया।[19]

आज भी शक्ति पूजा का ज्ञान तत्त्व और दार्शनिक तत्त्व जीवन के सौन्दर्य और आनन्द के पहलुओ को बल प्रदान करते है। शाक्तमत द्वारा निर्दिष्ट भाव और आचार अन्तम् और मनस् एव बाह्य कलाओ को परिपुष्ट करते है। इन्ही के द्वारा साधक अपनी इष्टदेवी की सत्ता मे अपना तादात्म्य कर लेता है। अतएव शाक्त सिद्धान्तो से प्रतिपादित सामाजिक एव धार्मिक आचरण उच्चतम कोटि की सस्कृति के द्योतक है।

वैष्णव धर्म

जहा याज्ञिक कर्मकाण्ड और शिव, शक्ति तथा बलिदानादि प्रथाओ द्वारा आराधना का मार्ग निर्धारित किया गया था वहा एक मनीषियो का समुदाय इस बात का भी पक्षधर था कि जटिल कर्मकाण्ड और भयावह नर और पशुबलि की प्रक्रियायें मनुष्य के परमपद की प्राप्ति मे इतने सहायक नहीं हो सकती जितनी आत्म-चिन्तना तथा ईश्वर की भक्ति हो सकती है। फलस्वरूप कर्मकाण्ड, यज्ञ और

---

18. जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ 190-194
19. जी एन शर्मा—राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ 500

वलिदान की तुलना मे इन तत्त्वविदो द्वारा भक्ति, कीर्तन, नृत्य आदि विद्याओ को प्रधानता दी गई और यह मार्ग वैष्णव धर्म व एकान्तिक धर्म के नाम से विख्यात हुआ। हरि या विष्णु को प्रधान देव मानने वाले वैष्णव कहलाने लगे। परन्तु इतना अवश्य था कि वैष्णव मतावलम्बी वैदिक धर्म के विरोधी नही थे। न वे यज्ञानुष्ठानो का खण्डन ही करते थे। वे प्राचीन मर्यादाओ और परम्पराओ को बनाये रखने के साथ-साथ धर्म का निरूपण भक्ति-भाव, तत्त्व-ज्ञान, चिन्तन, निष्काम कर्म, आत्म-समर्पण आदि सिद्धान्तो द्वारा करते थे।

राजस्थान मे वैष्णव धर्म का सर्वप्रथम उल्लेख द्वितीय शताब्दी ई० पू० के घोसुण्डी के लेख मे मिलता है, जिसमे सर्वतात द्वारा वलराम-वासुदेव के पूजा स्थानो के चारो ओर दीवार वनाने का वर्णन है। आगे चलकर हम विष्णु को स्पष्टतया कृष्ण के साथ एकत्व के रूप मे पाते है। पाँचवी अथवा छठी शताब्दी के मण्डोर के अवशेषो मे गोवर्धन धारण, शकटभजन, कालीयदमन, धेनुका सुरक्षा आदि भागवत की कथाओ का उत्कीर्ण रूप मिलता है। सातवी शताब्दी के उदयपुर के लेख मे अपराजित की स्त्री द्वारा विष्णु मन्दिर के निर्माण का वर्णन है। हरिभद्र के धूर्ता-ख्यान मे केशव को कृष्ण ने सयोजित करना इस वात का प्रमाण है। 8वी शताब्दी तक कृष्णावतार को पूर्ण मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। वाहुक के वि० 918 के लेख मे वैष्णवो के मुख्य मन्त्र "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" को प्रमुख स्थान दिया गया है। लगता है कि अहीरो ने अपना राजनैतिक प्रभाव वढने के साथ मण्डोर और उसके निकटवर्ती स्थानो मे कृष्ण की प्रधानता को लोकप्रिय वना दिया था।[20]

प्रतिहारो के काल मे कृष्णलीला के आख्यान तक्षणकला के द्वारा कई स्थानो मे अकित मिलते है जिनमे ओसिया, किराडू, सादडी, केकिन्द आदि मुख्य हैं। एकलिंग शिलालेख मे मोकल द्वारा द्वारिकाधीश के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। महाराणा कुम्भा के समय मे खडिया गाँव मे कृष्ण मन्दिर के वनने और चित्तौड तथा कुम्भलगढ मे कुम्भश्याम के मन्दिर बनने के उल्लेख हैं। 17वी शताब्दी का उदयपुर मे जगदीश का मन्दिर और 18वी शताब्दी का जोधपुर का श्रीनाथजी का मन्दिर, नाथद्वारा मे श्रीनाथजी का मन्दिर तथा काकरोली मे द्वारिकाधीश का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। कृष्ण की लीलाओ को लेकर 17वी से 19वी शताब्दी मे कई चित्रित ग्रन्थ तैयार किये गये हैं जो उदयपुर के तथा कोटा के सग्रहालयो मे सुरक्षित है। यह धर्म इतना प्रभावशील था कि जोधपुर, उदयपुर, कोटा, किशनगढ आदि के राजपरिवारो तथा ग्राम जनता मे इसका अच्छा प्रचार हो गया। मीरा

---

20. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1905-1906, पृ. 135, मेरालेख प्रोसिडिंग्ज ऑफ इन्टरनेशनल ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, दिल्ली; जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडावल राजस्थान, पृ. 194-202.

उत्तरकालीन लेखो व पाण्डुलिपियो मे देवी की विविध नामो से स्तुति की गयी है जो शौर्य, क्रोध, दमन आदि भावनाओ को व्यक्त करती हैं। जहाँ शक्ति मातृदेवी, क्षेमकरी, राधिका, सरस्वती, लक्ष्मी, सच्चिका, वसुन्धरा आदि सौम्य रूप मे स्तुत्य है वहाँ उसे महिषासुर मर्दिनी, काली, कात्यायनी, भवानी, चामुण्डा आदि रौद्र रूप मे भी आराधित किया गया है। चूकि उस युग का युग-धर्म बल, पुरुषार्थ और युद्ध था। इसलिए युद्धप्रिय जातियो और देश रक्षको ने शक्ति को अपनी प्रमुख आराध्य देवी माना। जब वे युद्ध मे उतरते थे या बलि देते थे "जय माताजी की" ध्वनि से युद्धस्थल या बलिदान का कक्ष गूज उठता था।[18]

शांति के समय इसे अपनी माता, धातृ एव कल्याणकारी मान कर शक्ति के अनेकानेक मन्दिरो के भी निर्माण कराये गये। ऐसे मन्दिरो मे 1177 ई० का ओसिया का सच्चिका का, गोगून्द मे 1366 ई० का शीतला का, चित्तौड मे कालिका का, जगत् मे देवी का, आमेर मे शिला देवी का, आबू मे अम्बिका का मन्दिर बडे प्रसिद्ध हैं।

चूकि युद्धो का नेतृत्व राजस्थान के नरेश करते थे तो उन्होने अपनी शक्ति मे अधिकाधिक मान्यता होने के कारण देवी को अपनी कुलदेवी के रूप मे सस्थापित कर लिया। सिसोदिया नरेशो ने बाणमाता को, बीकानेर के राठौडो ने करणीजी को, जोधपुर के राजपरिवार ने नागणेचीजी को और कच्छवाहो ने अन्नपूर्णा को कुलदेवी स्वीकार कर लिया।[19]

आज भी शक्ति पूजा का ज्ञान तत्त्व और दार्शनिक तत्त्व जीवन के सौन्दर्य और आनन्द के पहलुओ को बल प्रदान करते हैं। शाक्तमत द्वारा निर्दिष्ट भाव और आचार अन्तस् और मनस् एव बाह्य कलाओ को परिपुष्ट करते हैं। इन्ही के द्वारा साधक अपनी इष्टदेवी की सत्ता मे अपना तादात्म्य कर लेता है। अतएव शाक्त सिद्धान्तो से प्रतिपादित सामाजिक एव धार्मिक आचरण उच्चतम कोटि की सस्कृति के द्योतक हैं।

वैष्णव धर्म

जहा याज्ञिक कर्मकाण्ड और शिव, शक्ति तथा बलिदानादि प्रथाओ द्वारा आराधना का मार्ग निर्धारित किया गया था वहाँ एक मनीषियो का समुदाय इस बात का भी पक्षधर था कि जटिल कर्मकाण्ड और भयावह नर और पशुबलि की प्रक्रियाये मनुष्य को परमपद की प्राप्ति मे इतने सहायक नही हो सकती जितनी आत्म-चिन्तना तथा ईश्वर की भक्ति हो सकती है। फलस्वरूप कर्मकाण्ड, यज्ञ और

---

18. डॉ जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ 190-194
19. डॉ जी एन शर्मा—राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ 500

बलिदान की तुलना मे इन तत्त्वविदो द्वारा भक्ति, कीर्तन, नृत्य आदि विधाओ को प्रधानता दी गई और यह मार्ग वैष्णव धर्म व एकान्तिक धर्म के नाम से विख्यात हुआ। हरि या विष्णु को प्रधान देव मानने वाले वैष्णव कहलाने लगे। परन्तु इतना अवश्य था कि वैष्णव मतावलम्बी वैदिक धर्म के विरोधी नही थे। न वे यज्ञानुष्ठानो का खण्डन ही करते थे। वे प्राचीन मर्यादाओ और परम्पराओ को बनाये रखने के साथ-साथ धर्म का निरूपण भक्ति-भाव, तत्त्व-ज्ञान, चिन्तन, निष्काम कर्म, आत्म-समर्पण आदि सिद्धान्तो द्वारा करते थे।

राजस्थान मे वैष्णव धर्म का सर्वप्रथम उल्लेख द्वितीय शताब्दी ई० पू० के घोसुण्डी के लेख मे मिलता है, जिसमे सर्वतात द्वारा बलराम-वासुदेव के पूजा स्थानो के चारो ओर दीवार बनाने का वर्णन है। आगे चलकर हम विष्णु को स्पष्टतया कृष्ण के साथ एकत्व के रूप मे पाते है। पाँचवी अथवा छठी शताब्दी के मण्डोर के अवशेषो मे गोवर्धन धारण, शकटभजन, कालीयदमन, धेनुका सुरक्षा आदि भागवत की कथाओ का उत्कीर्ण रूप मिलता है। सातवी शताब्दी के उदयपुर के लेख मे अपराजित की स्त्री द्वारा विष्णु मन्दिर के निर्माण का वर्णन है। हरिभद्र के ध्रुवाख्यान मे केशव को कृष्ण ने सयोजित करना इस बात का प्रमाण है। 8वी शताब्दी तक कृष्णावतार को पूर्ण मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। बाहुक के वि० 918 के लेख मे वैष्णवो के मुख्य मन्त्र "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" को प्रमुख स्थान दिया गया है। लगता है कि अहीरो ने अपना राजनैतिक प्रभाव बढने के साथ मण्डोर और उसके निकटवर्ती स्थानो मे कृष्ण की प्रधानता को लोकप्रिय बना दिया था।[20]

प्रतिहारो के काल मे कृष्णलीला के आख्यान तक्षणकला के द्वारा कई स्थानो मे अकित मिलते है जिनमे ओसिया, किराडू, सादडी, केकिन्द आदि मुख्य है। एकलिग शिलालेख मे मोकल द्वारा द्वारिकाधीश के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। महाराणा कुम्भा के समय में खडिया गॉव मे कृष्ण मन्दिर के बनने और चित्तौड तथा कुम्भलगढ मे कुम्भश्याम के मन्दिर बनने के उल्लेख है। 17वी शताब्दी का उदयपुर मे जगदीश का मन्दिर और 18वी शताब्दी का जोधपुर का श्रीनाथजी का मन्दिर, नाथद्वारा मे श्रीनाथजी का मन्दिर तथा काकरोली मे द्वारिकाधीश का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। कृष्ण को लीलाओ को लेकर 17वी से 19वी शताब्दी मे कई चित्रित ग्रन्थ तैयार किये गये है जो उदयपुर के तथा कोटा के सग्रहालयो मे सुरक्षित है। यह धर्म इतना प्रभावशील था कि जोधपुर, उदयपुर, कोटा, किशनगढ आदि के राजपरिवारो तथा आम जनता मे इसका अच्छा प्रचार हो गया। मीरा

---

20. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1905-1906, पृ. 135; मेरालेख प्रोसिडिंग्ज ऑफ इन्टरनेशनल ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, दिल्ली; जी. एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडायल राजस्थान, पृ. 194-202.

अपने समय की एक कृष्ण भक्ति की अनुपम उदाहरण है। बीकानेर के पृथ्वीराज तथा जोधपुर के विजयसिंह और किशनगढ के नागरीदास अपने समय के परम भक्तों मे स्थान पाये हुए हैं।[21]

वैष्णव धर्म की प्रमुख शाखाओ मे पुष्टिमार्ग, निम्बार्क तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय भी राजस्थान मे लोकप्रिय रहे हैं। इन सम्प्रदायो को राज्य एव समाज ने समय समय पर अनुदान एव भेट से सम्मानित किया है। आज भी नाथद्वारे मे लाखो की सख्या मे यात्री उत्सवो के अवसर पर पहुँचते है और दर्शनो के लाभ से अपने को कृतकृत्य मानते हैं। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय ने उदयपुर और किशनगढ के अपने अनुयायियो को दीक्षित कर लोक धर्म और मोक्ष मार्ग को सरल बनाकर भारतीय सस्कृति को समृद्ध बनाया और धार्मिक भावनाओ को निरन्तर प्रवहमान रखा। यही देन राधावल्लभ सम्प्रदाय की वागड प्रान्त मे रही है।

वैष्णव मतावलम्वी जिस प्रकार कृष्ण को आराध्यदेव मानते हैं उसी प्रकार समाज मे राम भक्ति भी सम्मानित पद प्राप्त किये हुए रही है। वाल्मिकी के राम को जब तुलसी ने लोक भाषा मे उभारा तो राम को व्यापकता और मर्यादा की दृष्टि मे प्रतिष्ठित स्थान मिला। इसी के साथ जब राजस्थान मे सतत सघर्ष चलते रहे तो राम के सघर्ष को आदर्श सज्ञा मे रखा गया। इसी विषम स्थिति मे जब समाज के नैतिकता से हटने की आशका थी तो राम के नाम को आगे बढाया गया। मेवाड के महाराणाओ ने तो राम से अपना वशक्रम निर्धारित कर सीसोदिया राज परिवार की विशुद्धता प्रमाणित की। जयपुर के कई शासक भी रामभक्त थे जिनमे सवाई जयसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। राजस्थान की प्रजा मे भी रामभक्ति के कई प्रतीक मिलते हैं। पत्र या वहि-खाते के प्रारम्भ मे "श्रीराम" का लेखन शुभ माना जाता है। जन समाज के द्वारा निर्मित कई राम मन्दिर आज भी यहाँ के गाँवो और कस्बो मे देखने को मिलते हैं। वासवाडा, उदयपुर और जयपुर के दस्तावेजो मे "श्रीराम" का सर्व प्रथम लिखा जाना इस बात का प्रमाण है कि इन राज्यो मे राम की दुहाई का समाज मे एक स्थान था और राम एक इष्टदेव के रूप मे माने जाते थे। दस्तावेजो, अनुदानो, ताम्रपत्रो आदि मे राम के नाम का अकन प्रामाणिकता का द्योतक है।[22]

प्राचीनकालीन धार्मिक सुधारण

वैदिक विचारों से प्रेरित होकर, परन्तु उसमे प्रतिष्ठित यज्ञ, बलि आदि प्रक्रियाओ से विरोध करते हुए चिन्तको ने, सामाजिक सुख, यश, कीर्ति, धन, सम्पत्ति को हेय प्रमापित किया और त्याग और तपस्या के द्वारा ज्ञान प्राप्ति और समाज

21 जी एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ. 501
22 जी एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ 501

कल्याण को जीवन का ध्येय प्रतिपादित किया । इस नई चेतना को धार्मिक सुधारण की सज्ञा दी जाती है । प्राचीन धार्मिक प्रक्रियाओ को सुधारने के लिए कई नवीन वादो का उदय हुआ जिनमे बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख थे । इसका स्पष्ट छटी सदी ई पू मे उभरा और धीरे धीरे उसका प्रसारण भारत और उसके पड़ोसी देशो तक हो गया । इन सुधारवादी चिन्तको ने केवल याज्ञिक अनुष्ठानो तथा बलिदानो का ही खण्डन नही किया, अपितु इन्होने वर्ण भेद और जातीय बन्धनो का विरोध भी किया । सामाजिक ऊँच-नीच की मान्यता को मिथ्या बतलाते हुए उन्होने इस पर बल दिया कि व्यक्ति के गुण और कर्म मात्र सम्मान सूचक हैं न कि कुल विशेष ।[23]

बौद्ध-धर्म

इस जनजागरण का परिष्कृत रूप बौद्ध धर्म मे परिलक्षित होता है । गौतम बुद्ध के तप और त्याग एव अशोक, कनिष्क और हर्ष जैसे तपस्वी सम्राटो के संकल्प और निष्ठा के फलस्वरूप बौद्ध-धर्म ने सम्पूर्ण भारत तथा एशिया को प्रभावित कर दिया । राजस्थान भी इस धर्म के प्रभाव मे लाभान्वित हुआ । वैराट के निकट भाब्रू मे एक चट्टान पर एक लघुलेख उत्कीर्ण है जिससे स्पष्ट है कि यहाँ एक बौद्ध विहार था । अशोक ने इस लेख के द्वारा यहाँ रहने वाले भिक्षु व जन समुदाय को धर्म के प्रति श्रद्धालु बनने और बौद्ध-ग्रन्थो के अनुशीलन करने की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया है । वैराट के खण्डहर इस बात के साक्षी हैं कि यह नगर अशोक के काल मे बौद्ध-दर्शन की शिक्षा का प्रधान केन्द्र था । इस नगर के समीप ही हिंसगीर नामक पहाडी के नीचे एक अन्य लघु शिलालेख की प्रति उपलब्ध हुई है जो इसके शिक्षा केन्द्र होने की पुष्टि करती है । लगभग तीसरी सदी ई० पू० से मौर्य साम्राज्य ने इस धर्म के विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई ।[24]

ईसाकाल के पहले और उसके प्रारम्भ मे वैराट क्षेत्र के आसपास बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित अवशेष प्राप्त हुए है जिनमे गोलाकार बौद्ध मन्दिर विहार, अशोक के स्तम्भ और स्तूप हैं । इसी प्रकार इस क्षेत्र के निकट लालसोट और रेड आता है जो बौद्ध धर्म से प्रभावित था । चाकसू से मिली बुद्ध की मूर्ति इस भाग की प्रथम शताब्दी (1) की कलात्मक एव सास्कृतिक स्थिति का उदाहरण प्रस्तुत करती है । नगरी का द्वितीय शताब्दी ई० पू० का लेख करुणा के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है तथा वहाँ के स्तूप प्रमाणित करते है कि मेवाड क्षेत्र मे बौद्ध धर्म का प्रभाव था । राजस्थान के उत्तरी भाग मे मिलने वाले कुछ लेख और विहार के अवशेष कनिष्क के समय बौद्ध प्रभाव को इगित करते हैं । पुष्कर मे भी इस काल के

23 मजूमदार, एडवान्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ 84
24. एक्सकेवेशन वैराट, पृ. 6, 20,40

प्रतीक यह बतलाते हैं कि इस ब्राह्मण धर्म के केन्द्र के साथ बौद्ध धर्म भी प्रचलित था जो दोनों धर्मों मे सामजस्य की स्थिति पर प्रकाश डालता है ।[25]

बौद्ध-धर्म का प्रसार राजस्थान के दक्षिण पूर्वी भाग तक था जैसा कि झालावाड के कौलानी गाँव की गुफाओ से स्पष्ट है । ये गुफाए उक्त गाँव के निकट दक्षिणी पहाडी भाग मे समानान्तर काटी गई थी और जिनमे लगभग 50 स्तूप स्थापित थे । ये स्तूप अब घटकर 7 ही रह गये हैं । इन स्तूपो पर बौद्ध प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं जो लगभग 8 वी सदी की अनुमानित हैं । दसवी सदी की लकुलीश के मन्दिर की प्रशस्ति मे बौद्ध विचारको और अन्य मतावलम्बियो की विवाद गोष्ठी के उल्लेख से प्रतीत होता है कि ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्मावलम्बी अपनी स्थिति को बनाये रखने मे प्रयत्नशील थे, परन्तु युद्ध की स्थिति तथा राजपूतो के प्रभाव ने ब्राह्मण धर्म को पुन सस्थापित कर दिया और अन्त मे राजस्थान मे इसका अस्तित्व नगण्य सा रह गया ।[26]

जैन धर्म

प्राचीनकाल मे सुधारवादी चिन्तन का दूसरा विकसित रूप हम एक ऐसे धर्म मे देखते हैं जिसे जैन धर्म कहा जाता है । बौद्धों की भाँति जैन धर्म के प्रवर्तको ने जिनमे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर प्रमुख हैं, यज्ञ, अनुष्ठान, बलिदान, हिंसा आदि प्रवृत्तियो का समर्थन नही किया । उनके विचार मे कायक्लेश और तपश्चर्या मोक्ष प्राप्ति के प्रमुख साधन थे । उन्होने इसके साथ साथ, चातुर्याम धर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह को भिक्षुको एव श्रावको के लिए धर्म के प्रधान आधार माने । जैन धर्म मे निवृत्ति मार्ग और कर्म के सिद्धान्त बड़े महत्त्व के तत्त्व हैं । इसमे प्रतिपादित त्रिरत्न-सम्यकज्ञान, सम्यक श्रद्धा और सम्यक चरित्र—इस धर्म के आचार पक्ष का मुख्य पहलू हैं ।[27]

राजस्थान मे जैन धर्म का प्राबल्य 7 वी सदी से बढने लगा, क्योकि दक्षिण पश्चिमी भारतीय भागो से अनेक वैश्य परिवार विदेशी आक्रमणो से बचने के लिए अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने की खोज मे राजस्थान मे आये और उन्होंने अनेकानेक जैन मन्दिरो का निर्माण करवाया । शनै शनै उनका राज्य के शासन मे भी प्रभाव बढता गया जिससे जैन धर्म के प्रसार की गति तीव्र होती गई । यहाँ के शासक भी जैन मतावलम्बी नही होते हुए भी सभी धर्मों के प्रति श्रद्धावान तथा सहिष्णु थे । ये समय समय पर जैन साधुओ का सम्मान करते थे और जैन मन्दिरो और उपाश्रयो को अनुदान द्वारा प्रोत्साहित करते थे । इस धर्म के कई साधुओ ने जो खरतगच्छ,

---

25 सर्वे रिपोर्ट, 1853–1864–65, राजस्थान थ्रू दी एजेज, पृ 57–58

26 राजस्थान थ्रू दी एजेज, पृ 414–415

27 मजूमदार, एन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ 85-86

खण्डेरगच्छ, लुकागच्छ, सगरगच्छ आदि शाखा के थे, अनेक स्थानो मे मूर्तियो की स्थापना की थी। वे अनेक व्रत, उपवास और उत्सवो के आयोजन का नेतृत्व करते थे। इनकी अनेक पदयात्राए अथवा सघ की व्यवस्था जैन समाज को सगठित करने मे सफल सिद्ध हुई। जैसलमेर, नाडोल, आमेर, धुलेव, राणकपुर, नाडलाई विक्रमपुर, आबू, सिरोही आदि स्थानो मे मूर्ति स्थापन और व्रतोद्यापन सम्बन्धी अनेक शिलालेख उपलब्ध हैं जो जैन धर्म की राजस्थान मे मध्ययुगीय प्रगति पर प्रकाश डालते हैं। जैन धर्म की सबसे बडी देन एतर्दकालीन विद्वानो की है जिन्होने अनेकानेक मौलिक ग्रन्था की रचना द्वारा जैन साहित्य को समृद्ध बनाया। इन ग्रन्था मे निहित और प्रतिपादित ज्ञान हमारे लिए एक बहुत बडी देन है जो धर्मशास्त्र, ज्ञान, विज्ञान, साहित्य और कला एव इतिहास को बनाए हुए है।[28]

वर्तमान काल मे भी जैन श्रावक और साधु अपने आचरण और व्यवहार से समाज मे एक प्रतिष्ठित पद प्राप्त किये हुए हैं। इनमे से कई समृद्ध व्यक्ति कई धार्मिक एव लोकोपयोगी सस्थाओ का सचालन कर इस राज्य को उन्नति करने मे सहायक सिद्ध हो रहे हैं। इनके व्यवसाय की व्यवस्था अनेक परिवारो की सामाजिक, आर्थिक व सास्कृतिक गतिविधियो को प्रोत्साहित करने मे सक्रिय है।

इस्लाम

इस्लाम धर्म, जो एशिया का बहुत बडा धर्म रहा है, राजस्थान मे 12 वी शताब्दी से प्रगतिशील बना। अजमेर इसका मुख्य केन्द्र था जहाँ से जालौर, नागोर, माण्डल, चितौड आदि स्थानो मे उसका विकास हुआ। आरम्भ मे इनके सन्तो ने, जिनमे मुइनउदीन चिश्ती प्रमुख हैं, इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तो को बडे सरल तरीके से लोगो को समझाया और अपने नैतिक आचरणो से जनता को प्रभावित किया। इस्लाम की यह सरल और सहज भावना थी। वह इस धर्म का प्रचार करने मे बडी सफल रही। सिवाय युद्ध के अवसरो के अधिकाश रूप मे हिन्दू-मुस्लिम एक साथ रहने लगे, जिससे उन्हें एक दूसरे को समझने मे और आदान-प्रदान की व्यवस्था मे सहूलियत हो गई। राजस्थान के नरेशो ने भी कई दस्तकारो को यहाँ आश्रय देकर कला कौशल की अभिवृद्धि की। सेना और शासकीय विभागो मे इन्हें ऊँचे पद दिये गये। योग्य काजियो को राजकीय रूप से त्यौहारो के अवसरो पर सम्मानित किया जाता था। मस्जिदो को भी राजाओ द्वारा अनुदान दिये जाने के कई उल्लेख मिलते हैं। ताजिये के अवसर पर राजकोष की ओर से प्रमुख ताजिये के बनाने के लिए आर्थिक सहायता दी जाती थी और इसकी सवारी देखने के लिए हिन्दू-मुस्लिम बाजारो, अट्टालिकाओ मे साथ बैठते थे और अब भी बैठते हैं। अजमेर की दरगाह

28. जैन इन्सक्रिपशन्स, भाग 1–2–3; जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ 211–216

शरीफ को महाराजा अजीतसिंह और महाराणा जगतसिंह के द्वारा गाँवो को भेंट के रूप मे दिये जाने के वर्णन मिलते हैं। इस प्रकार की नीति का यह फल हुआ कि राजस्थान मे हमारे काल तक हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के अवसर बहुत कम आये हैं। राज्य की सहिष्णु नीति समाज मे सौहार्द्रपूर्ण वातावरण बनाये रखने मे अधिक उपादेय सिद्ध हुई है। दोनो कौमो मे रस्म रिवाज तथा अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों मे एक दूसरे से मेल जोल बढाने की परम्परा दिखाई देती है।[29]

धार्मिक सुधार और भक्ति प्रवाह

जैसा हमने ऊपर पढा, परम्परागत धर्मों में सभी वर्ग और स्तर के व्यक्ति विश्वास रखते थे और रखते हैं। परन्तु जब देश में कई विचारक परम्परागत धर्म मे आने वाले दोषो को निकालने का प्रयत्न कर रहे थे और धर्म सुधार की प्रवृत्ति बल पकड रही थी, राजस्थान भी इस दिशा मे पीछे नही रहा। इस्लाम के प्रभाव से अब ये चिन्तक धार्मिक मनन को प्रधानता देने लगे। जात-पात के भेदभावो से ऊपर उठकर मनुष्यजाति के कल्याण के मार्ग की ओर विचारको का ध्यान गया। धर्म के पाखण्ड से सगठन की चेतना जागृत हुई। साथ ही यह भी चेष्टा बनी रही की आधारभूत भारतीय विचार और धर्म की ओर लोगो की श्रद्धा बनी रहे और परम्परागत धर्म मे पैदा होने वाले विकारो को भक्ति के द्वारा परिमार्जित किया जाय। भजन, मनन, कीर्तन आदि साधनो से ईश्वर मे आसक्ति पैदा की जाय। इस प्रकार की प्रगति को भक्ति आन्दोलन या धार्मिक सुधार की सज्ञा दी जाती है। राजस्थान के मध्यकालीन ग्रन्थो में इन विचारो का प्रतिपादन किया गया था। विप्रबोध (1688) मे नवचेतना और धर्म के प्रति नए दृष्टिकोण अपनाने के सकेत मिलते हैं। इसमे हरि को सर्वोपरि मानते हुए तथा प्रार्थना का महत्त्व बतलाते हुए योगी, यति, पण्डित और शेखो की विशेष स्थिति की निन्दा की गई है। उदयराज नामक लेखक ने ईश्वर को पिदर और शक्ति को मादर बतलाया है। पश्चिमादिस्तोत्र मे राम और रहीम, गोरख और गेसू, पीर और मीर एव अल्ला और अकबर मे कोई भेद नही माना गया है। इससे स्पष्ट है कि उस काल मे हिन्दू-मुस्लिम सस्कृति के सामजस्य ने विचारो मे साम्य और भावो मे उदारता का सचार कर दिया था।[30]

लोकदेव

राजस्थान मे इस धर्म की नई प्रवृत्ति का पूर्व रूप लोक देवो के प्रादुर्भाव मे प्रतिध्वनित होता दिखाई देता है। धार्मिक पाखण्डो मे अलग होकर किस प्रकार

---

29 स्फोरन बही, 1779, दरगाह पाउन, 1818, डॉ० एम० शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ 502

30 हरिजोम चिन्तामणि, 115-220, विप्रबोध पद 27-57, जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 224-226.

आराधना का मार्ग प्रशस्त बनाया जा सकता है यह जन साधारण की धार्मिक आस्था मे देखा जा सकता है। ऐसी आराधना का स्वरूप हम प्राचीनकाल से यहाँ के निवासियो की निष्ठा मे देखते हैं, जिसमें न कोई शास्त्रो के पचडे हैं और न रहस्यमयी धार्मिक प्रक्रियाएँ। बजाय कर्मकाण्ड व यज्ञो मे आस्था होने के उनका विश्वास यक्ष, वृक्ष और पशुओ की अर्चना मे था। यक्षो को क्रूर देव की सज्ञा देने मे उनको प्रसन्न रखने कि लिए कई प्रकार की स्थानीय सामग्रियो से प्रसन्न रखने की आराधना प्रचलित थी। आगे चलकर जैन या अजैन मन्दिर बनने लगे, यक्ष और यक्षिणियो को लोक देव सज्ञा में स्थापित किया जाने लगा। वैसे तो कई जैनाचार्यो ने यक्ष पूजा का खण्डन किया है परन्तु एक दूसरे की आस्था को सम्मान देने के विचार से लोक देव सज्ञा मे प्रवेश दे दिया है।

यक्ष पूजा की भाँति नाग पूजा भी बडी प्राचीन है जो आर्येतर प्रभाव का परिणाम है। राजस्थान मे गाँवो मे नागो के फलको का अर्चन पुराने जमाने से प्रचलित है। विशेष रूप से पशुओं की रक्षा की सभावना इनके पूजन से सम्बन्धित मानी गई है। इसी प्रकार वृक्षो का पूजन भी आदिम निवासियों की देन है जिसे आर्यो ने भी मान्यता देना आरम्भ कर दिया। व्रतराज मे वट, पीपल, तुलसी, खेजडा, आम, आँवला आदि वृक्षो के पूजन का विधान है और आम जनता में उसका पूजन करना तथा उनके उपलक्ष मे व्रतादि रखना एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कार्य है। जलाशयो व नदियो को पूज्य मानना भी बडा प्राचीन काल से चला आ रहा है। आर्यों ने सरस्वती नदी को देवी की सज्ञा दी और उसे पूज्य माना। बाढ के समय या अन्य पर्वो पर जलाशय और नदियो की पूजा की जाती थी और उनके तट पर मन्दिरो का निर्माण करवाया जाता था। बनास, चबल, आहड़ आदि राजस्थान की नदियो के किनारे ऐसे सैकडा मन्दिर बने हुए है। यहाँ तक कि मछली, कछुआ, मगर आदि को भी मूर्तिकला मे प्रवेश देकर उन्हे पूज्य समझा गया है।

आगे चलकर इस प्रकार की आस्था को आधार मानकर राजस्थान मे लोक देव की आराधना ने नई प्रवृत्ति का स्वरूप धारण किया। जिन महापुरुषो ने त्याग और आत्म बलिदान से अपनी मातृभूमि की सेवा की या नैतिक जीवन और लोकोपकार की वृत्ति अपनाई तो समाज ने उनको देवत्व का स्थान दिया और उत्तरोत्तर उनके पूजने तथा उनकी मनौती मानने की प्रथा चल पडी। इनमे विश्वास रखने वाला अधिकाश मे वह वर्ग था जो युद्ध प्रिय था या जिसके जीवन का आधार कृषि और हस्तकला था। ऐसे लोकप्रिय देवो मे गोगाजी का नाम मुख्य है। गोगाजी ने आक्रमणकारियो से गाँए छुडा लाने मे अपने प्राण छोड़े थे जिससे आज भी राजस्थान के गाँव गाँव मे गोगाजी को पूजनीय माना जाता है। भाद्र पद की कृष्णा

नवमी को इनके उपासना स्थलो मे मेले लगते हैं और उन्हें श्रद्धाजली अर्पित की जाती है।[31]

गोगाजी की भाँति पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के तेजाजी, पाबूजी, मल्लिनाथ, देवजी आदि भी लोकदेव हुए हैं जिन्होंने अपने आत्मोत्सर्ग द्वारा तथा सादा और सदाचारी जीवन बिताने के कारण अमरत्व प्राप्त किया। लाखो की सख्या मे ग्रामीण आज भी तेजाजी का चिह्न गले मे पहिनते हैं जो राजस्थान की लोक सस्कृति का धार्मिक भूषण है। इनमे लोगो का इतना विश्वास है कि साप का काटा हुआ पशु या नर नारी इनकी मनौती लेने पर जीवित हो जाता है। इन लोक देवो के प्रति दृढ निष्ठा ने सहस्त्रो नर नारियाँ को सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है। इनकी आस्था मे साधारण स्तर का व्यक्ति एक बहुत गभीर ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है कि जगत् का नियन्ता कोई ऊपरीय शक्ति है और लोकदेवो का चमत्कार एक अपूर्व धर्म है। इस प्रकार के विश्वास मे प्रेरित होकर इन लोक-देवो के अनुयायी एक स्थान में एकत्रित होते हैं और एकसूत्रता मे रहने का अनुभव करते हैं। इस प्रकार का स्थानीय देवो मे विश्वास का सबसे बडा महत्त्व यह है कि कम से कम अधिकाश राजस्थान की ग्रामीण जनता ने बिना धर्म सम्बन्धी दर्शन पढे सस्कृति के मूलमन्त्र एकता, ध्यान और नैतिक जीवन के तत्त्वो को समझने मे सफलता प्राप्त की है। इनके अनुयायियो मे आज भी अच्छे सिद्ध पुरुष दिखाई देते हैं जो एक तरह से निरक्षर हैं, परन्तु जिनका आत्मबोध स्तुत्य है और जिनका ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम है।[32]

जाम्भोजी

जाम्भोजी का जन्म 1451 ई० मे नागोर के निकट पीपासर गाँव मे पवार वशीय परिवार मे हुआ था। हरिचर्चा और सत्सग के प्रभाव मे इनका स्थान भी उत्कृष्ट सतो मे है। वे केवल मनन शील ही नही वरन् उस युग की साम्प्रदायिक सकीर्णता, कुप्रथाओ एव कुरीतियो के प्रति जागरूक थे। वे चाहते थे कि अन्धविश्वास और नैतिक पतन के वातावरण से सामाजिक दशा को सुधारा जाय और आत्मबोध के द्वारा कल्याण के मार्ग को अपनाया जाय। उनकी वाणी मे उन सास्कृतिक तत्त्वो पर बल दिया गया है जो भारतीय सस्कृति के मूल आधार हैं जैसे शील एव भक्ति। अधर्म की उन्होंने निंदा की और विष्णु की आराधना तथा 29 प्रकार की शिक्षा पर चलना धार्मिक कर्तव्य बतलाया। इसीलिए इनके अनुयायी विश्नोई नाम से प्रसिद्ध है जिनमे अधिकाश जाट है। इनकी शिक्षाओ मे यह बल था कि सभी विश्नोई एक

---

31 जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ 226-227

32 पाबूजी-रा-दूहा, ग्रन्थ न 5, बस्ता न 22, दयालदास ख्यात पत्र 47-67, जी एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास भाग 1, पृ 503-504

मामाजिक सूत्र मे गठित हो गये और स्वत एक इकाई के रूप मे जुडे हुए रहे। जाम्भोजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त, उनकी सवद वाणी और उनका स्वय का चरित्र मध्ययुगीय धर्म सुधारक प्रवृत्ति के बलवान अग है।[33]

रैदास चमार जाति के सत थे परन्तु अपने मनन और नैतिक जीवन से उनका भी स्थान आज मध्ययुगीय सिद्धा मे अग्रणी है। वैसे तो वे राजस्थान के न थे, परन्तु इनका सम्पर्क यहाँ वना रहा और यहाँ की सस्कृति को वढावा देने मे इनका वडा योगदान था। वताया जाता है कि वे चित्तौड़ भी गये जहाँ मीरा वाई से उनकी भेंट हुई। ये दोनो समकालीन थे या नही यह विषय विवादास्पद है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि रैदास की स्मृति मे एक छत्री कुभश्याम के मन्दिर (चित्तौड) के एक कोने मे वनी हुई वतलाई जाती है। आज भी कई भण्डारो मे रैदास की वाणी की हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ वडी सख्या मे मिलना उनका वहाँ असीम प्रभाव होने का द्योतक है। इन वाणियो, जिन्हें 'रैदास की परची" भी कहते है, मे सहिष्णुता, मानवता, आत्म समर्पण, भक्ति, उदारता आदि विषयो से सम्बन्धित रस प्रवाहित होता रहता है। इनका विचार था कि ईश्वर नित्य है, सर्वोपरि है तथा मनुष्य एक निमित्त मात्र अवोध व वासनाओ का दास है। रैदास तथा कवीर के सिद्धान्तो मे बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। दोनो आडवर, कर्मकाण्ड, वर्णाश्रम, अवतारवाद आदि मे विश्वास नही करते थे। रैदास की मान्यता मे सवसे वडी विशेषता यह थी कि वे अपने को या व्यक्ति को निम्न मानते हुए ईश्वर की महत्ता के गुणो की गुरुता गाते थे। जिस सामाजिक स्तर मे उनकी प्रारम्भ मे गिनती थी वह यह प्रमाणित करता है कि सिद्धो की सज्ञा मे आये हुए सन्तो की मान्यता के समक्ष सकुचित विचारो तथा भेद-भावो का कोई स्थान नही था।[34]

मीराबाई

जिस युग मे समन्वय के प्रयत्न तथा सादे और सारगर्भित विचारो की मान्यता वढ रही थी उस समय एक राजपूत महिला, जिसका नाम मीरा था, द्वारा इस विचार-धारा को अधिक वल मिला। प्रियदास के भक्तमाल और मेडतियारी ख्यात से मीरा के जीवन की कहानी के कुछ अश स्पष्ट होते है। मीरा अपने पिता रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थी। इनका जन्म मारवाड के एक गाँव कुडकी मे लगभग 1498 ई० मे हुआ था। इनका लालन पालन इनके दादा दादूजी के यहाँ मेडता मे हुआ। जिस

---

33 सवदवाणी तथा हरिदासजी की वाणी, डा. माहेश्वरी, जाम्भोजी, प्रस्तावना, जाम्भोजी-रा-गीत, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ 19-20

34. रैदास-री परची, पद्य, 12-13 भक्तमाल, पत्र 12, रैदास की वाणी, पृ. 7-39, सन्तवाणी, पृ. 24, डा. ताराचन्द, इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ. 179-180, डा. गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ, पृ. 229-230; डा गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ 506-507,

वातावरण और परम्परा मे इनका बाल्यकाल बीता वह वैष्णव धर्म से ओतप्रोत था। परन्तु जब इनका विवाह महाराणा सागा के पुत्र भोजराज से हुआ और उनके पति का देहावसान हो गया तो उन्हे अपने सुसराल मे विरोधी वातावरण और वैधव्य के अभिशाप की यातना से गुजरना पडा। स्वजनो के अभाव और सामाजिक विडम्बना ने त्रस्त मीरा के जीवन मे एक नया मोड आया। उन्हे जीवन से मोह घटता गया और उनकी निष्ठा भक्ति भाव और सन्त सेवा की ओर द्रुतगति से बढती चली गई।[35]

मीरा नारी सन्तो मे ईश्वर प्राप्ति की साधना मे लगी रहने वाली भक्तो मे प्रमुख हैं। जब हम इनकी कविताओ का अध्ययन करते है तो पाते हैं कि मीरा की कृष्णभक्ति तीन सोपानो से गुजरती है। पहला सोपान कृष्ण प्राप्ति के लिए विह्वल रहने का है। वे व्यग्र होकर गा उठती हैं, "मैं विरहणी बैठी जागूँ, जग सोवे री आली"। वह पुन विनम्र भाव से कहती हैं, "छोड मत जाजोजी महाराज।" दूसरा सोपान वह है जब उन्हे कृष्ण भक्ति से उपलब्धियो की प्राप्ति होती है और वह सन्तोषपूर्वक कहती हैं, "माई मैं तो राम रतन धन पायो"। तीसरे भक्ति के सोपान मे उन्हे आत्म बोध होने का सकेत है जो सायुज्य भक्ति का रूप है। वे सहसा कहती हैं, "म्हारे तो गिरिधर गोपाल दूजो न कोई"[36]

मीरा के अवसान को युग बीत गए हैं परन्तु वे हमारे लिए एक समृद्ध भक्ति साहित्य को छोड गई हैं जिसे उन्होने रच रच कर गाया और उसके द्वारा अपना ही नही अन्य भक्तो के मार्ग को भी स्पष्ट किया। मीरा की मान्यता थी कि ससार छोड देने से ईश्वर की प्राप्ति होती है। उनकी दृष्टि मे समृद्धि, वैभव, ससार के सुख उच्च पद और सम्मान मिथ्या हैं। यदि कोई सत्य है तो उनके गिरधर गोपाल। कृष्ण को ही वे परमात्मा और अविनाशी मानती थी। उनका धर्म भक्ति था जिसमे उपकरणो और रूढियो का कोई स्थान नही था। भक्ति का सरल मार्ग उनके अनुसार, गायन, नृत्य और कृष्ण स्मरण ही है। वह दिखावे, ढोग और परम्परागत मिथ्या विश्वासो से परे थी। इस अर्थ मे वे नवयुग की अगुवा थी। मीरा की भक्ति की विशेषता यह थी कि इसमे ज्ञान पर जितना बल नही था उतना भावना पर था। यही कारण है कि आम व्यक्ति के लिए मीरा का मार्ग सुगम है। इनकी सफलता का एक यह भी रहस्य है कि उन्होने उच्च सिद्धान्तो को बोलचाल की भाषा मे व्यक्त किया, न कि शास्त्रीय भाषा मे। यही कारण है कि इनके अनुयायियो तथा प्रशसको मे कृपको से लेकर उच्च विचारक सम्मिलित है। आज भी "मीरादासी" सम्प्रदाय

---

35 माधुरी, मीरा, पृ. 11-115, टाड एनाल्स, पृ. 235-238

36 प्रियदास, भक्तमाल, पत्र 11, नैणसी री ख्यात, पत्र 939

मीरा की छवी, चित्तौड

अनेक भक्तो द्वारा अपनाया जाता है जो भारतीय सस्कृति के मूल सिद्धान्तो का बहुत बडा पोषक है ।[37]

डा० मैनारिया के शब्दो मे मीरा के सम्बन्ध मे कह सकते है कि "मीरा प्रेम और भक्ति की दीवानी थी, आध्यात्मिक आकुलता और भक्त हृदय का अटल विश्वास इनकी कविता मे अपूर्व रूप से झकृत है । साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इनकी कविता भक्त हृदय को मुग्ध करने मे अप्रतिम है । मीरा के पदो मे जो रस है, मीठा-सा दर्द है, वह अन्यत्र नही पाया जाता ।"[38]

दादू

धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्र विचारको मे दादू का भी नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है । इन्होने जोधपुर, सिरोही, कल्याणपुर, साभर, अजमेर, आमेर आदि स्थानों मे प्राचीन परम्परा के अनुकूल भ्रमण कर अपने विचारो का प्रचार किया और अन्त मे 1605 ई० मे उनका देहावसान हुआ । इनकी स्मृति मे नरायना कस्बे मे एक झील के किनारे हिन्दू-मुस्लिम सस्कृति के समन्वय का भवन बनाया गया, जिसमे उनकी कृतियाँ और चरण-चिन्ह सुरक्षित हैं । दादू की ख्याति एक सन्त मे रूप मे तथा दादूपथ के प्रवर्तक के रूप मे है । आज भी नारायण की गद्दी दादू पँथ की प्रधान गद्दी मानी जाती है और सभी इसकी शिष्य परम्परा की शाखायें इसकी मान्यता स्वीकार करती है ।[39]

दादू द्वारा कविता मे व्यक्त किये गये विचारो को उनके शिष्यो ने सकलन किया जिनको दादू दयाल की वाणी तथा दादूदयाल का दूहा कहते हैं । इनमे उनके उदार विचारा का, जो जातिवाद और बन्धनो से मुक्त हैं, अच्छा सग्रह है । इन वाणियो मे सस्कृति के तत्त्व जैसे आत्मानुभूति, ईश्वर तथा गुरु मे आस्था, प्रेम, नैतिकता आदि विचारो का अच्छा सग्रह है । कवीर की भाँति दादू रूढियो और विविध पूजा पद्धतियो के विरुद्ध थे और कहते थे कि ईश्वर एक है जिसके दरवार मे हिन्दू-मुसलमानो का कोई भेद भाव नही है । वे ऐसे शास्त्रीय ज्ञान और तत्त्वज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते थे जिनको स्वानुभूति, अनुभव और व्यावहारिकता की कसौटी पर परखा जा सके । उनके विचार से स्वानुभूति ही सत्य है और आत्म-वोध ही प्रामाणिक है । दादू द्वारा प्रतिपादित पथ मे प्रेम एक ऐसा धागा है जिसमे गरीब व अमीर वाधे जा सकते है और जिसकी एकसूत्रता विश्व-कल्याण का मार्ग स्पष्ट कर सकती है । उनके सिद्धान्त विश्व-कल्याण के मागलिक भावो से ओतप्रोत है । इनके अनुयायी के लिए आवश्यक है कि वे अपने सर को मुडवाने, मूर्ति पूजा का

---

37. प्रियदास भक्तमाल, पद्य 42; घोष, लार्ड गौराग, भाग 1, प्रस्ता, पृ. 11.
38. डा. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ. 510-511.
39. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 85

विरोध करने, नैतिकता का प्रचार करने के साथ माथ हृदय की विशालता, विशुद्ध, मनोवृत्ति एव समानभाव को प्रधानता दें।[40]

जहाँ तक दादू के सिद्धान्तो मे उपासना का प्रश्न है, दादू ने मन्दिर, मस्जिद, पंडित, मुल्ला, मौलवी, रोजा-नमाज, छापा, तिलक आदि को माध्यम नही बताया और न विशेष प्रकार की धार्मिक प्रक्रियाओ पर वल दिया। इनकी उपासना मे निरजन और निर्गुण ब्रह्म को प्रधानता दी गयी है। उनका कहना था कि आत्म-ज्ञान, जात-पात की नि सारता तथा सयम-नियम, प्रभावाभिव्यक्ति सच्चे उपासना के साधन हैं। सवसे वडी विशेपता दादू के प्रचार की है वह भाषा है। जैसे वातावरण या स्थान विशेष मे प्रचार की आवश्यकता हुई दादू ने वैसी भाषा का प्रयोग किया। इसीलिए उनकी भापा मे गुजराती, पश्चिमी-हिन्दी, पजाबी और ढूढाडी का प्रयोग मिलता है। दादू के शिष्यो ने भी परमात्मा को सर्वस्व-समर्पण, उपासना, साधना, अहिंसा, प्रेमभाव, भक्ति और तन्मयता पर वल देकर इस पथ को सजग रखा है।[41]

रामचरणजी

रामचरणजी 18वी सदी के प्रमुख प्रवुद्ध सत थे जिन्हाने समाज और सस्कृति के घटते मूल्यो का उद्धार किया। उन्होने प्रारम्भ से ही लोक कल्याणार्थ सत्य पथ के निर्देशन का वीडा उठाया और मेवाड के अचल मे शाहपुरा को कार्यक्षेत्र चुना। वहाँ रहते हुए उन्होने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिया को "अणर्भवाणी" के रूप मे अवतरित कर लोक के लिए कल्याण के मार्ग को सुलभ वना दिया। इनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग "रामस्नेही" सम्प्रदाय कहलाता है। स्वामीजी के समय में ही इस मम्प्रदाय के महम्त्रो अनुयायी वन गये। इन्होने रामनाम के पावन मन्त्र का प्रचार किया और दूर दूर राम की महिमा का सन्देश भेजा। धीरे धीरे इनकी शिष्य परम्परा वढती चली गई जिनके प्रयास से जगह-जगह "रामद्वारो" की स्थापना हुई। इस पथ मे नैतिक आचरण, सत्यनिष्ठा, धार्मिक अनुष्ठान पर वल दिया जाता है, चाहे वह रामद्वारे का माधु हो या गृहस्थी। रामचरण और उनके पीछे की गुरु परम्परा द्वारा रचित वाणियो को इस मम्प्रदाय मे वडा महत्त्व दिया जाता है, जिसको वडे प्रेम से गाया जाता है और व्याख्या की जाती है। ये कृतियाँ व्रजभाषा या राजस्थानी मे होती है जो कि जन ममुदाय को आकर्षित करती है और रोचक लगती है।[42]

---

40 दादू दयाल की वाणी, पृ 186, 323, 338, 455, डा ताराचन्द, इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ 152-188.

41 गा श्री ए मा—राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ, 511-513

42 अणभवाणी, गुरु महिमा, चार्ल्स ओमन, मिस्टिक्स, एसेटिक्स एण्ड सेन्ट्स आफ इंडिया, पृ 133, डा गो ना शर्मा, सामाजिक जीवन राजस्थान, पृ 239

युग धर्म को देखते हुए राजस्थान मे कई पथ और सम्प्रदाय बने और राजस्थानियो का भी इनमे विश्वास बना रहा । सबमे बडे महत्त्व की बात यह रही है कि इन धर्म या पथो मे विविधता होते हुए भी सास्कृतिक पहलुओ के परिपेक्ष्य मे एकत्व की भावना सदैव रही है । प्रतिहार, परमार, राठौड और सीसोदियाओ के काल मे यदि देवी की आराधना का सिलसिला रहा है तो वही शैव या वैष्णव धर्म का भी प्रचलन उसी अनुपात मे बना रहा है । प्रतापगढ लेख से स्पष्ट है कि प्रतिहारो ने किसी भी देव या देवी को कुल रक्षक मानते हुए भी विष्णु, शिव, भगवती, आदित्य आदि को भी आराध्यदेव स्वीकार किया । धार्मिक सहिष्णुता के विचार से भोज प्रथम ने जो देवी का उपासक था अपने अत पुर मे विष्णु के मदिर को बनवाया । शैव शासक महेन्द्र द्वितीय ने देवी के लिए अनुदान दिया तथा उसके महादेव नामक अधिकारी ने सूर्य के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया । चौहानो के हर्षनाथ के मन्दिर मे सूर्य, ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि की मूर्तियो की प्रधानता रखी गई है । त्रिमूर्तियाँ जो अजमेर और ओसियाँ से प्राप्त हुई हैं और जो सूर्य, विष्णु और शिव का सम्मिलित रूप हैं, उस युग की धार्मिक सहिष्णुता का द्योतक हैं । जगत के हरिहर की मूर्ति के आयुवो मे कमल दण्ड, परशु और सर्प को उत्कीर्ण कर सर्वधर्म की भावनाओ का समन्वय स्थापित किया गया है । इसी प्रकार राठौड़ एव सीसोदियाओ के समय मे भी अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे साम्प्रदायिक एकता सूचित होती है । विविध धर्मो की विभिन्नता ऊपरी है, उनका आतरिक सास्कृतिक समन्वय वास्तविक है ।[43]

इस साम्प्रदायिक एकता और सास्कृतिक अविच्छिन्नता का स्वरूप मध्यकालीन समन्वय परक प्रयासो मे भी मिलता है जब सन्तो के अथक परिश्रम से जाति भेद, कर्मकाण्ड के पचडे धर्माचार्यो के विशेष अधिकार का अधेरा समाप्त होता है और नैतिक आचरण, सदाचार, भक्ति, साधना आदि का प्रकाश दैदीप्यमान होता है । एक प्रकार से सस्कृति के प्रति नवजागरण के उदय होने से हिन्दू जाति और दलित वर्ग का भेद हटने लगा और सभी राजस्थानियो को एक सूत्र मे गठित होने का अवसर मिला । इसी विशेषता को लेकर रैदास जैसे अन्त्यज जाति के व्यक्ति की सज्ञा सन्तो मे हो सकी जिन्हे आज भी यहा बडे आदर से देखा जाता है । आत्मज्ञान, साधना और आत्म-कल्याण जैसे उच्च सास्कृतिक आदर्शो को बोलचाल की भाषा मे व्यक्त किये जाने से उनकी लोकप्रियता बढ गई । शास्त्रो की जटिल बातो के स्थान पर साधारण जीवन के नैतिक पक्ष को समझने मे सभी वर्गो के लिए सुगम हो जाना इन पथो का बडा चमत्कार था । प्रेम, सत्य, गुरु भक्ति, ईश्वर मे विश्वास, भक्ति द्वारा साधना ऐसे माध्यम थे जिनका किसी मतमतान्तर से न तो लगाव था और न

43. राजस्थान थ्रू दी एजेज, पृ. 367-368

किसी से विरोध । साथ ही मध्ययुगीय और आगे आने वाले पथो मे इन विशेषताओ की सर्वोपरि मान्यता थी । अत यदि हम इन सभी सम्प्रदायो के युगयुगान्तर के इतिहास का परिवेक्षण करें तो हम पाएगे कि इन पथो मे एक आध्यात्मिक स्वर था जिसमे जिज्ञासु एव श्रान्तो के लिए शाति का मार्ग सुलभ हो सका ।[44]

□□□

---
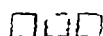
44 कुण्डलियां रूपजी, पत्र 189-217, जी एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल इंडिया, पृ 240· जी एन शर्मा राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ 516-517

अध्याय 7

शिक्षा और साहित्य

भारतीय समाज मे प्राचीनकाल से ही शिक्षा का प्रभूत महत्त्व रहा है। स्वय वेद की व्याख्या ज्ञान परक है। गीता के अनुसार ज्ञान के समान पवित्र वस्तु दूसरी नही है। अतएव सम्पूर्ण जीवन का विकास शिक्षा मे निहित है। वैदिक युग में ज्ञानी व्यक्ति की प्रतिष्ठा सर्वोच्च थी। जीवन को सार्थक और परिष्कृत बनाने के लिए शिक्षा के प्रमुख तत्त्वो—गुरु-शिष्य सम्वन्ध, गुरु-कुल प्रणाली, शिक्षा के विषय आदि पर बल दिया जाता था।[1] इन विविध उपक्रमो के माध्यम से सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया जाता था और इन्ही के द्वारा सस्कृति की संभावनाएँ विकसित होती थी।

प्राचीन कालीन भारतीय शिक्षा की भाँति राजस्थान मे भी शिक्षा की परम्परा परिलक्षित होती है। यह शिक्षा विशेष उद्देश्यो को लेकर दी जाती थी जिसमे न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक, वौद्धिक एव आध्यात्मिक तत्त्व प्रमुख थे।[2] इस समय की शिक्षा का स्तर नगरी, घोसुंडी, नानदसा शिलालेख एव कोटा के यूप स्तभो से निर्धारित किया जा सकता है।

घरेलू शिक्षा

उस युग की शिक्षा मे घरेलू शिक्षा का वहुत वडा महत्त्व था। पिता अपने पुत्र को आरम्भ से लगाकर ऊँची से ऊँची शिक्षा घर मे ही दे दिया करता था। वह अपने लिए तथा अपने पुत्रो और शिष्यो के लिए ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ तैयार करता था और उनके माध्यम से पीढी दर पीढी शिक्षा दी जाती थी। ऐसी पुस्तके घर की सम्पत्ति समझी जाती थी जिनका बंटवारा भाइयो मे स्थावर सम्पत्ति की तरह होता था।[3] इस घरेलू शिक्षा का प्रचलन व्यावसायिक क्षेत्र में वडे पैमाने पर

---

1 छान्दोपनिषद्: 1-19-41; मनुस्मृति, 2-140। महाभारत उद्योगप. 44'6; अष्टाध्यायी, 4-4-107; मुकर्जी हिन्दू सभ्यता, पृ० 109-117.

2. सोम सौभाग्यकाव्य, सर्ग 2, श्लो. 45-55

3. एकलिंग प्रशस्ति, श्लो 91-96

होता था। एक कुशल दस्तकार अपने पुत्र को अपने घर मे ही शिक्षा देता था। ऐसी व्यावसायिक शिक्षा का वर्णन स्वय बाबर ने अपने बाबरनामा आत्मकथा मे किया है। प्राचीन एव मध्यकालीन समय के बने हुए भित्तिचित्र तथा पट्टचित्र, भवन, स्तूप, प्रासाद आदि उन युगों की दक्षता का प्रमाण देते हैं जिनके निर्माता वही कुशल कलाकार थे जिन्होने घर मे रहकर पितृ परम्परा विधि से शिक्षा प्राप्त की थी। खेती तथा वाणिज्य सम्बन्धी कुशलता भी इसी पद्धति से अर्जित की जाती थी।

गुरुकुल

इस घरेलू अध्ययन की विधि के साथ-साथ राजस्थान की बस्तियो से कुछ हटकर लगे हुए गुरूकुल होते थे जिनका सचालन ऐसे आचार्य करते थे जो विविध विषय के पूर्ण ज्ञानी और विद्वान होते थे। ऐसे गुरुकुलो मे शिष्यगण विद्याध्ययन करते थे और गुरू की सेवा करते थे। इन गुरुकुलो मे नि शुल्क शिक्षा दी जाती थी। आचार्यों की आवश्यकता की पूर्ति समृद्ध परिवार अथवा राजा कर दिया करते थे। एकलिंग माहात्म्य मे सोम शर्मा का वर्णन मिलता है। जिसके लिए प्रसिद्ध था कि वह सभी वेदो तथा शास्त्रो में अपने शिष्यो को पारगत बना देता था। कभी-कभी ऐसे आचार्यो के निर्वाह के लिए दानी शासक गाँव की सम्पूर्ण उपज इनको अर्पित कर देता था जिससे इन्हे अपने पालन-पोषण की कोई चिन्ता नही रहती थी। वे तो निरन्तर विद्या का वितरण सुपात्र शिष्यो में करते थे।[4]

अन्य शिक्षा के केन्द्र

ऐसे आश्रमो के अतिरिक्त राजस्थान के नगरो और कस्बो मे जैन उपाश्रय भी होते थे जहाँ रहने वाले साधु सतत शिक्षा को बढावा देने मे प्रयत्नशील रहते थे। वे भी अपने शिष्यो के लिए उपयोगी ग्रन्थो की प्रतिलिपियां तैयार करते थे और जन साधारण को शिक्षित बनाते थे। इन उपाश्रयो मे सभी विषयो के हस्तलिखित ग्रन्थ रहते थे जो जैन साधुओ द्वारा लिखे गये थे। समृद्ध व्यक्ति ऐसे उपाश्रयो का निर्माण करवाते थे जिनमे जैन साधु निवास करते थे और शिष्य परम्परा को परिवर्धित करते थे। मठो मे भी शिक्षा का प्रबन्ध रहता था जहाँ शिष्यो के रहने, खाने, पीने की नि शुल्क व्यवस्था रहती थी, जिनका आर्थिक भार दानी व्यक्ति वहन करते थे। उदयपुर के नविनाखेडा मठ एव प्राणूदासजी का स्थल शिक्षा के प्रचार के केन्द्र थे। आश्रमो से शिक्षा प्राप्त व्यक्तियो की शास्त्रार्थ द्वारा परीक्षा ली जाती थी और विद्वानो की उपस्थिति मे उनको सम्मानित किया जाता था।[5]

---

4 ममिधेश्वर लेख, वि सं 1485, गणगाथा, पत्र 5, दक्षिणामूर्ति इन्सक्रिप्शन, वि. स. 1770

5 आर्द रामायण, पत्र 72 (चित्रित), बीकानेर लेख सग्रह, पृ 56 बृहत् कथा कोश 76,65 उपमिति, 248, कुवलयमाला, पृ 312

गांवो मे शिक्षा का कार्य स्थानीय अध्यापको के द्वारा होता था जो पाठशाला, नेसाल, पोशाल आदि मे ग्रामीणो को शिक्षित करते थे । ऐसी संस्थाओ का वित्तीय भार स्थानीय जनता पर रहता था जो अपने खेतो या व्यवसाय के उपार्जन का भाग अध्यापक को फसल के समय दे दिया करते थे । इस प्रकार राजस्थान मे शिक्षा को प्रोत्साहन गांव-गांव मे मिलता था । हमे कई चित्रित ग्रन्थो तथा मन्दिरो की तक्षण सामग्री के अवशेषो मे स्थानीय पाठशालाओं मे शिक्षा के क्रम को देखने का अवसर मिलता है । अध्यापक खुले मैदान या पेड या छोटे छप्पर या मन्दिर मे बैठकर विद्यार्थियो को पढाता था । लकडी या पत्थर की तख्ती, वर्तनी, दवात, बर की कलम आदि प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने के साधन होते थे । प्रारम्भिक शिक्षा अधिकाश मौखिक होती थी और एक पाठ को कई बार दोहरा कर कण्ठस्थ कराया जाता था । पढने की उपेक्षा दण्डनीय थी ।[6]

इसके अतिरिक्त राजस्थान के प्रमुख नगर विद्या के केन्द्र होते थे जहाँ से विद्या के प्रसार को बढावा मिलता था । चित्तौड जैसे विद्या केन्द्र की विभूतियो मे जिन भट्ट, हरिभद्र, रोलाचार्य, वीरसेन तथा जिनवल्लभ सूरि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । भिन्नमाल को ब्रह्मदत्त जैसे ज्योतिषी और माघ जैसे उद्‌भट कवि ने विभूषित किया । अजमेर मे विग्रहराज चतुर्थ का विद्यालय सर्वत्र प्रसिद्ध था । अन्य केन्द्रो मे जालोर, त्रिभुवन गिरी, शिखर, आबू, चन्द्रावती, भडानक (बयाना) मालवनगर और चाटस् के नाम उल्लेखनीय है । इन केन्द्रो मे सभाएं, व्याख्यान, वार्तालाप, विवाद आदि भी आयोजित होते थे । जहाँ अनेकानेक पण्डित, साधु, आचार्य उपस्थित होते थे । इन विवादो तथा आयोजनो में कई जटिल प्रश्नो पर चर्चा होती थी और नए तर्को के समाधान द्वारा कई लौकिक एव पारलौकिक विषयो की ग्रन्थियाँ सुलझाई जाती थी । कथावाचन द्वारा भी साधारण जनता को शिक्षित किया जाता था । अनेक विद्वानो एव शिष्यो के एकत्रित होने के केन्द्र होने के नाते ये सस्थान सास्कृतिक एकीकरण मे बडा योग देते थे । उन्हें ससार की वास्तविक समस्या का बोध होता था और एक दूसरे की समस्या को समझने का अच्छा अवसर मिलता था । इतना ही नही विद्वानो की विद्या की जाँच का यह तरीका भी था । जो वादी या प्रतिवादी अपने तर्क-वितर्क मे विजयी होता था, उसे जयपत्र से सम्मानित किया जाता था । पण्डित सभाए एव गोष्ठियो का भी राजस्थान मे आयोजन होता था, जिसका उल्लेख पृथ्वीराज विजय में उपलब्ध है । ऐसे आयोजन के समय सभागी सदस्य सदैव अपनी स्मृति परिमार्जित रखते थे । उनके ज्ञान से सम्पूर्ण समाज लाभान्वित होता था और सस्कृति के महत्त्वपूर्ण अगो से साधारण जन समाज अवगत होता रहता था ।[7]

---

6 बृहद् गुरुवावलि पृ 2, शिवपुराण चरित, पत्र 44 धर्मबिन्दु, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ० 515.

7 कुवलयमाला, पृ० 130; उपमितिभवप्रपचकथा, पृ० 560-1; राजस्थान थ्रू द एजेज; पृ० 515-517

विद्याध्ययन की परिपाटी

प्राचीन व मध्यकालीन शिलालेखों व काव्य ग्रन्थो से प्रतीत होता है कि विद्यारम्भ 5 वर्ष से आरम्भ हो जाता था और गुरू शिष्य को अपनी योग्यता, विनम्रता, सदाचार के आधार पर चयन करता था। विद्यारम्भ के अवसर पर देवताओ का विधिवत् पूजन होता था और गुरू को भेंट और आगन्तुक व्यक्तियों को भोज दिया जाता था। 15 वर्ष से 18 वर्ष की अवधि तक गुरू शिष्य का सान्निध्य इतना प्रभावशाली रहता था कि शिष्य कई विद्याओं मे पारगत हो जाता था। पर्व दिनो तथा पूर्णिमा और अमावस्या को छोडकर अवकाश जैसी कोई वस्तु नही होती थी। अष्टमी को पहिले के पढे विषयो का पारायण किया जाता था जिससे विषय की स्मृति बनी रहे। पठन-पाठन के विषयो में वेद, शास्त्र, नाट्य-शास्त्र, रामायण, महाभारत, नीति, मीमासा, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, पुराण, ज्योतिष, गणित, साहित्य आदि विषयो को पाठ्य-क्रम मे उचित स्थान दिया जाता था। सैनिक एव राजनीति की शिक्षा राजकुमारों को दी जाती थी। चित्रकला, सगीत, नृत्य, चिकित्सा आदि पाठ्य-क्रम में सम्मिलित थे। कठाग्र करने की पक्रिया पठन-पाठन के साधन माने जाते थे। उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त करने वालो को पण्डित, आचार्य, उपाध्याय, महामहोपाध्याय आदि उपाधिया दी जाती थी जिनकी समाज मे बडी मान्यता होती थी।[8]

स्त्री शिक्षा

जिस प्रकार वैदिक सस्कृति मे महशिक्षा एव स्त्री शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान था, राजस्थान मे भी उसी परम्परा का उल्लेख मध्यकालीन शिलालेखो एव काव्य ग्रन्थो में मिलता है जिससे यह प्रमाणित है कि प्राचीन काल मे चली आ रही स्त्री शिक्षा मध्यकालीन युग तक समाप्त नही हुई थी। प्राप्त साधनो से ज्ञात है कि मध्यम तथा राजपरिवार मे स्त्रियां शिक्षित होती थी। 15वी शताब्दी के जावर के शिलालेख मे महाराणा कुम्भा की लडकी रमाबाई सगीतज्ञ एव हिन्दूशास्त्र विद बताई गई है। मीराबाई हिन्दू दर्शन एव काव्य रचना मे निपुण थी। केलवाडा ठिकाने की रमबाई को प्रेमाख्यान पढने मे रुचि थी। अगर सागर नामक लेखक उन्हे ऐसे आख्यान नकल कर पठनार्थ उपलब्ध कराता था। अन्तपुर की रानियां स्वय नृत्य मे भाग लेती थी और चित्र बनाती थी। जोधपुर के महाराजा विजय सिंह की पत्नी के पढने के लिए राजस्थानी मे रामायण तैयार करवाई गई थी।

---

8 हरमिनि, पृ० 248, 301 वृहद्कथाकोष, 22,4, 125 कथाकोष प्रकरण, पृ० 24, कुवलयमाला, पृ० 21, 22 312, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ. 513, 514, जी. एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ 27-278, जी एन शर्मा, राजस्थान का

राजस्थानी मे कई साहित्यिक ग्रन्थ देखने मे आये है जिनको राजकुमारियाँ, समृद्ध परिवार की स्त्रियाँ तथा रानियाँ नियमित रूप से पढती थी।[9]

मध्यम श्रेणी की स्त्रियाँ भी पुस्तको के पढने मे रुचि लेती थी जिनमे मारवाड की सोरठ उल्लेखनीय है। 1699 ई. मे उदयपुर की गगावाई ने गीतगोविन्द की प्रति अपने पठनार्थ तैयार करवाई थी। साधारण दासियो द्वारा लिखे गये कई पत्र जो बीकानेर अभिलेखागार मे सुरक्षित हैं इस बात के साक्षी हैं कि पढने-लिखने का ज्ञान ऐसे वर्गों मे भी प्रचलित था। जहाँ तक सह शिक्षा का प्रश्न है उसका अभाव बीजा सोरठ की बात से नही दिख पड़ता। परन्तु साधारण ग्रामीण तथा साधारण परिवारों मे स्त्री शिक्षा इतनी लोकप्रिय नही थी और उसका अनुपात बहुत कम था।[10]

साहित्य सृजन

शिक्षा के विकास का प्रमुख मापदण्ड साहित्य सृजन है। राजस्थान मे यह साहित्य प्रारम्भ मे सस्कृत व प्राकृतिक मे रचा गया, क्योकि प्राचीनकाल मे व्यापक रूप से इन्ही भाषाओ की मान्यता थी। मध्य युग के प्रारम्भकाल से अपभ्र श और उससे जनित मरुभाषा और स्थानीय बोलियो जैसे मारवाड़ी, मेवाडी, मेवाती, ढूँढाडी, मालवी और वागडी मे साहित्य की रचना होती रही। परन्तु इस काल मे सस्कृत साहित्य अपनी प्रगति करता रहा। अब हम इनमे से प्रथम राज्यो के क्रम से प्रमुख रूप से सस्कृत की रचनाओ का वर्णन करेगे और देखेगे कि इस साहित्य की राजस्थानी सस्कृति को क्या देन रही है।

संस्कृत साहित्य (मेवाड़)

मेवाड मे बडे उत्कट प्रशस्तिकार एव कवि हुए हैं जिन्होने गद्य और पद्य मे साहित्य का सृजन किया है। इनकी कृतियो को देखने से पता चलता है कि वैसे सस्कृत बोलचाल की भाषा न रही हो, परन्तु वह मृत भाषा भी नही थी। इसी के द्वारा धर्मानुष्ठान और सास्कृतिक पहलुओ पर प्रकाश डाला जाता था। इस प्रदेश के लेखको ने न केवल सस्कृत साहित्य की प्रतिष्ठा बढाई वरन् उन्होने इसके द्वारा एक नई प्रेरणा दी जो आगे आने वाले साहित्यकारो के लिए मार्गदर्शक बनी। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व का नगरी और घोसुन्डी शिलालेख, नादमा स्तम्भ लेख (तीसरी शताब्दी) 646 ई० का सामोली लेख तथा 7वी सदी का अपरीजित का लेख रचना की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हैं। लेखको ने तत्कालीन शैली विशेष की अभिव्यक्ति और प्रचलित परम्परा को बखूबी निभाया है।[11]

---

9. जावरलेख, वि. स. 1457; उपदेशमाला, वि. स 1457-995 पृ. 80, अचलदास खीची री वारता, पत्र, 53; अभयविलास, पत्र 19 ए; रामचरित (चित्रित)
10. बीजा सोरठ री बात, पत्र 28; सदेवत्स सावल गोरीवात, पत्र 2-8; गीत गोविन्द (चित्रित) पत्र 69, बीकानेर रेकार्ड्स, न. 42/14-2 पोथीखाना चित्र नं. 1213
11 इ. ए. भा. 28, पृ 229; रिपोर्ट अजमेर म्यूजियम, 1926-27, पृ 2 ए इ. भा. 8, पृ 36

इसी प्रकार कई शिलालेख ऐसे हैं जिनमे कई ऐतिहासिक तथ्यो का निरूपण एव अपने समय के विद्वानो की नामावलिया एव उनकी प्रतिभा का उल्लेख मिलता है। वि० स० 718 (661 ई०) का अपराजित का लेख दामोदर, ब्रह्मचारी, दामोदर दि०, यशोभट्ट, वत्स, अजित आदि कवियो और प्रशस्तिकारो के नामोल्लेखन करता है। वि० स० 1010 (923 ई०) का अल्लट का शिलालेख ऋषि, प्रमाता, गुहिमा, गर्ग रुद्रादित्य, वामादेव, वेलुक, पालु आदि का नामाकन करता है जो अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे। कौशिक, अमरकवि, आदित्यनाग और वेदाग मुनि की उद्भट विद्वत्ता और ज्ञान की प्रशसा 971 ई० के नाथ के लेख मे मिलती है। 1150 ई० का चित्तौड का लेख रामकीर्ति नामक जैन विद्वान की कृति है। विजोलिया लेख (1169 ई०) के कर्त्ता गुणभद्र ने अपनी विद्वत्ता का परिचय अनुप्रास, श्लेप और विरोधाभास के प्रयोग के द्वारा दिया। यह लेख चौहानो के इतिहास के लिए बडा उपयोगी है। चीरवा के 1273 ई० के लेख मे कई विद्वान जैनाचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जिनमे पार्श्वचन्द्र और रत्न भी सम्मिलित हैं। 1428 ई० के शृगी ऋषि के लेख मे योगेश्वर का नाम रचयिता के रूप मे आता है जिसको वाणीविलास तथा कविराज की उपाधि से विभूपित किया गया था। 1485 वि० का समाधीश्वर लेख का रचयिता एकनाथ था जो अनेक विद्याओ मे पारगत था। महाराणा कुंभाकालीन अत्रि और महेश ने चित्तौड और सम्भवत कु भलगढ की प्रशस्तियो की रचना की। मेवाड के 15वी शताब्दी के इतिहास तथा पहिले की गुहिलवशावली के अध्ययन के लिए ये प्रशस्तियाँ वडी उपयोगी हैं। इनमे काव्य रचना की विशेपताओ को कवियो ने खूव निभाया है। महाराणा रायमल के समय महेश्वर ने एकलिंग प्रशस्ति (1488 ई०) की रचना की। उसकी कवित्व शक्ति और विद्वत्ता से प्रभावित हो महाराणा ने उसे दरवारी कवि का रुतवा इनायत किया। महाराणा जगतसिंह एव राजसिंह के दरवार मे वावूभट्ट तथा रणछोड भट्ट महाराष्ट्र के विद्वान थे, जिन्होंने क्रमश जगन्नाथराय प्रशस्ति और राजसिंह प्रशस्ति की रचनाएं की। मेवाड के इतिहास के लिए ये दोनो प्रशस्तिया वडे काम की हैं। प्रथम मे हल्दीघाटी के युद्ध और दूसरे मे औरगजेव कालीन मेवाड-मुगल सम्वन्ध पर अच्छा प्रकाश पडता है। इन दोनो रचनाओ मे काव्यसौरभ और पौराणिक शैली का अच्छा समन्वय है। राजप्रशस्ति तो विश्व की सबसे वडी प्रशस्ति है जिसे 25 शिलाओ मे उत्कीर्ण किया गया है और वह उत्कृष्ट रचना की श्रेणी मे आती है।[12]

---

12. ए इ भा 2 न 9, पृ 97-98, भा 6 पृ 29-32, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, भा 2, पृ 69-72, रिपाना ओरियन्टल जनरल, भा 11, पृ 155 जी. एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ 251-541।

शिलालेखो की भांति काव्य रचना के स्वतन्त्र ग्रन्थ अपने समय की धार्मिक स्थिति तथा समाज व राजनीतिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार की रचना मे मेवाड की बड़ी ख्याति रही हैं। माहुक नामक विद्वान् का चित्तौड़ के धरणीवराह के दरबार मे 830 ई० मे लिखा हरिमेखला का प्राकृत ग्रन्थ अपने ढग का एक है। इसी प्रकार के साहित्य सेवा के प्रति रुचि महाराणा कुम्भा तथा उसके आश्रित कवियो मे थी जिन्होने अपनी रचनाओ से 15वी शताब्दी के राजस्थान का युग निर्माण किया। स्वय महाराणा की स्वतन्त्र रचनाएँ अनुपम थीं। वह वेद, स्मृति, उपनिषद, मीमासा, नाट्यशास्त्र, सगीत, राजनीति, तर्क, शिल्पशास्त्र तथ साहित्य एव अनेक भाषाओ के अच्छे वेत्ता था। सगीत के उत्कृष्ट ग्रन्थो—संगीत राज, सगीत मीमासा, सुर प्रबन्ध, रसिक प्रिया, सगीत रत्नाकर आदि का वह रचयिता था। गीत गोविन्द की टीका तो महाराणा की सस्कृत गद्य और पद्य रचना के अद्भुता प्रतीक है। उसी के आश्रित मण्डन ने देवमूर्ति प्रकरण, प्रसाद मण्डन, राजवल्लभ, रूपमण्डल, वास्तुमण्डन, वास्तुसार, रूपावतार आदि शिल्पशास्त्र ग्रन्थो की रचना की। उसके पुत्र गोविन्द ने उद्धारधरणी, कलीनिधि, द्वारदीपिका और उसके भाई ने वास्तु मजरी नामक ग्रन्थो को लिखा। ये ग्रन्थ शिल्प सम्बन्धी ज्ञान के लिए बड़े उपयोगी हैं। महाराणा जगतसिह तथा राजसिह का काल भी काव्य रचना की दृष्टि से बडा समृद्ध है। अमरसार, अमरकाव्य, वशावली तथा राजरत्नाकर ऐतिहासिक काव्य हैं जिन्हे क्रमश जीवाधर रणछोड भट्ट तथा सदाशिव ने लिखा था जो साहित्यिक एव ऐतिहासिक दृष्टि से अनूठे गन्थ हैं। मुकुन्द का राजसिहाष्टक कविता की दृष्टि से सुन्दर कृति कही जा सकती है। महाराणा अमरसिह दूसरे के समय मे अमरनृप काव्य की रचना हुई।[13]

पश्चिमी राजस्थान का अंचल

इस क्षेत्र मे मारवाड, बीकानेर, अजमेर तथा जैसलमेर के भाग आते हैं जिसने अनेक प्रशस्तिकारो और लेखको को जन्म दिया। इन्होने सस्कृत भाषा की सेवा द्वारा सस्कृति के अनेक तत्त्वो को जीवित रखा। 685 ई० के मडोर लेख से 7वी शताब्दी ई० मे शिव और विष्णु की पूजा के क्रम पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विलाडा जिले के निकटस्थ बुचकला लेख 815 ई० से पार्वती के मन्दिर सम्बन्धी सूचना मिलती है। 837 ई० के मण्डोर लेख से प्रतिहारो की वश परम्परा तथा अतर्जाति विवाह की जानकारी मिलती है। घटियाली लेख (861 ई०) से समाज मे वर्ण विभाजन की प्रक्रिया, समाज सगठन, नागरिक जीवन की रूपरेखा तथा प्रतिहारो की शासन पद्धति पर अच्छा प्रकाश पडता है। यहाँ का दूसरा लेख प्रतिहारो की सास्कृतिक प्रवृत्ति का द्योतक है। 956 ई० के ओसियां के लेख से भारतीय परम्परा के अनुरूप राजस्थान मे विद्याध्ययन की प्रवृत्ति का बोध होता

13. आइ एच आर. सी 1945,1956, जी. एन. शर्मा, मेवाड एण्ट द मुगल एम्परर्स, पृ. 197-198; जी एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 520-523.

इसी प्रकार कई शिलालेख ऐसे है जिनमे कई ऐतिहासिक तथ्यो का निरूपण एव अपने समय के विद्वानो की नामावलिया एव उनकी प्रतिभा का उल्लेख मिलता है। वि० स० 718 (661 ई०) का अपराजित का लेख दामोदर, ब्रह्मचारी, दामोदर दि०, यशोभट्ट, वत्स, अजित आदि कवियो और प्रशस्तिकारो के नामोल्लेखन करता हैं। वि० स० 1010 (923 ई०) का अल्लट का शिलालेख ऋषि, प्रमाता, गुहिमा, गर्ग रुद्रादित्य, वामादेव, वेलुक, पालु आदि का नामाकन करता है जो अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे। कौशिक, अमरकवि, आदित्यनाग और वेदाग मुनि की उद्भट विद्वत्ता और ज्ञान की प्रशसा 971 ई० के नाथ के लेख मे मिलती है। 1150 ई० का चित्तौड का लेख रामकीर्ति नामक जैन विद्वान की कृति है। बिजोलिया लेख (1169 ई०) के कर्त्ता गुणभद्र ने अपनी विद्वत्ता का परिचय अनुप्रास, श्लेष और विरोधाभास के प्रयोग के द्वारा दिया। यह लेख चौहानो के इतिहास के लिए बडा उपयोगी है। चीरवा के 1273 ई० के लेख मे कई विद्वान जैनाचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जिनमे पार्श्वचन्द्र और रत्न भी सम्मिलित है। 1428 ई० के शृगी ऋषि के लेख मे योगेश्वर का नाम रचयिता के रूप मे आता है जिसको वाणीविलास तथा कविराज की उपाधि से विभूषित किया गया था। 1485 वि० का समाधीश्वर लेख का रचयिता एकनाथ था जो अनेक विद्याओ मे पारगत था। महाराणा कुंभाकालीन अत्रि और महेश ने चित्तौड और सम्भवत कुभलगढ की प्रशस्तियो की रचना की। मेवाड के 15वी शताब्दी के इतिहास तथा पहिले की गुहिलवशावली के अध्ययन के लिए ये प्रशस्तियाँ बडी उपयोगी हैं। इनमे काव्य रचना की विशेषताओ को कवियो ने खूब निभाया है। महाराणा रायमल के समय महेश्वर ने एकलिंग प्रशस्ति (1488 ई०) की रचना की। उसकी कवित्व शक्ति और विद्वत्ता से प्रभावित हो महाराणा ने उसे दरबारी कवि का रुतबा इनायत किया। महाराणा जगतसिंह एव राजसिंह के दरबार मे बाबूभट्ट तथा रणछोड भट्ट महाराष्ट्र के विद्वान थे, जिन्होने क्रमश जगन्नाथराय प्रशस्ति और राजसिंह प्रशस्ति की रचनाएँ की। मेवाड के इतिहास के लिए ये दोनो प्रशस्तिया बडे काम की हैं। प्रथम मे हल्दीघाटी के युद्ध और दूसरे मे औरगजेब कालीन मेवाड-मुगल सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पडता है। इन दोनो रचनाओ मे काव्यसौरभ और पौराणिक शैली का अच्छा समन्वय है। राजप्रशस्ति तो विश्व की सबसे बडी प्रशस्ति ह जिसे 25 शिलाओ मे उत्कीर्ण किया गया है और वह उत्कृष्ट रचना की श्रेणी मे आती है।[12]

---

12. ए इ भा 2 ने 9, पृ 97-98, भा 6 पृ. 29-32, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, भा 2, पृ 69-72, विएना ओरियन्टल जनरल, भा 11, पृ 155 जी. एन शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ 251-541।

शिलालेखो की भाँति काव्य रचना के स्वतन्त्र ग्रन्थ अपने समय की धार्मिक स्थिति तथा समाज व राजनीतिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार की रचना मे मेवाड की बड़ी ख्याति रही है। माहुक नामक विद्वान् का चित्तौड़ के धरणीवराह के दरबार मे 830 ई० मे लिखा हरिमेखला का प्राकृत ग्रन्थ अपने ढग का एक है। इसी प्रकार के साहित्य सेवा के प्रति रुचि महाराणा कुम्भा तथा उसके आश्रित कवियो मे थी जिन्होने अपनी रचनाओ से 15वीं शताब्दी के राजस्थान का युग निर्माण किया। स्वय महाराणा की स्वतन्त्र रचनाएँ अनुपम थी। वह वेद, स्मृति, उपनिषद, मीमासा, नाट्यशास्त्र, सगीत, राजनीति, तर्क, शिल्पशास्त्र तथ साहित्य एव अनेक भाषाओ के अच्छे वेत्ता था। सगीत के उत्कृष्ट ग्रन्थो—सगीत राज, सगीत मीमासा, सुर प्रवन्त्र, रसिक प्रिया, सगीत रत्नाकर आदि का वह रचयिता था। गीत गोविन्द की टीका तो महाराणा की सस्कृत गद्य और पद्य रचना के अद्‌भुता प्रतीक है। उसी के आश्रित मण्डन ने देवमूर्ति प्रकरण, प्रसाद मण्डन, राजवल्लभ, रूपमण्डल, वास्तुमण्डन, वास्तुसार, रूपावतार आदि शिल्पशास्त्र ग्रन्थो की रचना की। उसके पुत्र गोविन्द ने उद्धारधरणी, कलीनिधि, द्वारदीपिका और उसके भाई ने वास्तु मजरी नामक ग्रन्थो को लिखा। ये ग्रन्थ शिल्प सम्वन्धी ज्ञान के लिए बड़े उपयोगी हैं। महाराणा जगतसिंह तथा राजसिंह का काल भी काव्य रचना की दृष्टि से बडा समृद्ध है। अमरसार, अमरकाव्य, वशावली तथा राजरत्नाकर ऐतिहासिक काव्य है जिन्हे क्रमश जीवाधर रणछोड़ भट्ट तथा सदाशिव ने लिखा था जो साहित्यिक एव ऐतिहासिक दृष्टि से अनूठे ग्रन्थ हैं। मुकुन्द का राजसिंहाष्टक कविता की दृष्टि से सुन्दर कृति कही जा सकती है। महाराणा अमरसिंह दूसरे के समय मे अमरनृप काव्य की रचना हुई।[13]

पश्चिमी राजस्थान का अचल

इस क्षेत्र मे मारवाड, बीकानेर, अजमेर तथा जैसलमेर के भाग आते है जिसने अनेक प्रशस्तिकारो और लेखको को जन्म दिया। इन्होने सस्कृत भाषा की सेवा द्वारा सस्कृति के अनेक तत्त्वो को जीवित रखा। 685 ई० के मडोर लेख से 7वी शताब्दी ई० मे शिव और विष्णु की पूजा के क्रम पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विलाडा जिले के निकटस्थ बुचकला लेख 815 ई० से पार्वती के मन्दिर सम्बन्धी सूचना मिलती है। 837 ई० के मण्डोर लेख से प्रतिहारो की वश परम्परा तथा अतर्जाति विवाह की जानकारी मिलती है। घटियाली लेख (861 ई०) से समाज मे वर्ण विभाजन की प्रक्रिया, समाज सगठन, नागरिक जीवन की रूपरेखा तथा प्रतिहारो की शासन पद्धति पर अच्छा प्रकाश पडता है। यहाँ का दूसरा लेख प्रतिहारो की सास्कृतिक प्रवृत्ति का द्योतक है। 956 ई० के ओसिया के लेख से भारतीय परम्परा के अनुरूप राजस्थान मे विद्याध्ययन की प्रवृत्ति का बोध होता

---

13 आइ एच आर. सी 1945, 1956, जी, एन. शर्मा, मेवाड एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. 197-198; जी एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 520-523.

है। ग्रन्य 10वी से 14वी सदी के कई लेख नाडलाई, किराडू, नाडोल, जालोर, चरलू, घाणेराव, आदि से प्राप्त हैं जिनसे जैन धर्म के विकास और चौहानो एव प्रतिहारो की सस्कृति के प्रति श्रद्धा का ज्ञान होता है। भाषा की दृष्टि से ये लेख अपने आप मे उच्चकोटि के हैं जिससे सिद्ध है कि ये अचल अपने आप मे सस्कृति के अच्छे प्रतीक थे।[14]

इस अचल के महाराजाओं ने अपने पूर्वजो की भाँति विद्वानो और कवियो को आश्रय दिया और उनको नवीन कृतियो के लेखनार्थ प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त कुछ नरेश स्वय भी अच्छे विद्वान् थे। जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से सस्कृत भाषा की भी सेवा की और भारतीय सस्कृति के पक्ष को परिपुष्ट बनाया।[15] भीनमाल ने अनेक समृद्ध लेखको को जन्म दिया जिनमे ख्याति प्राप्त माघ प्रसिद्ध हैं। इसकी शिशुपाल नामक कृति मे कालीदास की उपमा भारवि का विचार गाभीर्य और दण्डी के लेखन शैली की नियम-निष्ठा झलकती है। इस महान् विभूति के वश मे मडन, माघव तथा माहुक नामक कवि उत्पन्न हुए। इसी माहुक ने धारावर्ष के आश्रय मे रहकर प्राकृत मे हरिमेखला की 830 ई० मे रचना की। माघ के सम-कालीन हरिभद्रसूरि ने समराइच्छ कहा, वृर्ताख्यान, कथाकोश, मुनिपटिचरित, यशोधर चरित्र, वीरागदकथा आदि लिखकर चारित्रिक मूल्यो और सदाचार की प्रतिष्ठा की। 1324 ई० में समराइच्च कहा को प्रद्युम्नसूरि ने प्राकृत से सस्कृत मे अनूदित किया। हरिभद्र के शिष्य उद्योतन सूरि ने जालोर मे रहकर 778 ई० मे कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की जो तत्कालीन राजस्थान की सास्कृतिक जीवन की अच्छी झाकी उपस्यित करता है।[16]

यहाँ के विद्याविलासी शासको मे अजयराज कक्कू, विग्रहराज-4 और पृथ्वी-राज तृतीय प्रमुख हैं। विग्रहराज चतुर्थ ने हरिकेली नाटक की रचना की। प्रतिहार कक्कू न कई पद्यो की रचना की तथा पृथ्वीराज तृतीय का आश्रित पद्मनाभ विद्वानो की गोष्ठी का आयोजक नियुक्त किया गया था। ऐसे आयोजनो का नेतृत्व स्वय पृथ्वीराज भी करता था। सोमदेव विग्रहराज चतुर्थ का राजकवि था जो प्रेमाख्यान का अच्छा रचयिता था। पृथ्वीराज के समय पण्डित जयनाक ने पृथ्वीराज विजय काव्य मे वीररस, अनुप्रास एव कृतित्व का समुचित सयोजन किया है।[17]

मारवाड के महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम विद्वानो के आश्रयदाता होने के साथ ही स्वय भी विद्वान थे। इनका सस्कृत मे लिखा "आनन्दविलास" वेदान्त से

---

14 गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान के इतिहास के स्रोत पृ 44-80

15 वही।

16 प्रशस्ति सग्रह, पृ 29, पद्मानन्द प्रशस्ति सग्रह, पृ 4-15, 24, 27, राजस्थान थ्रू द एजेज पृ 517-520।

17 वही, 521-522।

सम्बन्धित अच्छा ग्रन्थ है। इनका पुत्र अजीतसिंह स्वय कवि और भाषाविद् था। उसके समय मे प० वालकृष्ण ने अजित चरित्र और भट्ट जगजीवन ने अजितोदय लिखा। जगजीवन अभयसिंह के समय का अच्छा कवि था जिसने अभय विलास की रचना की थी। जब 1804 मे मानसिंह जोधपुर राजा की गद्दी पर बैठा तो सस्कृत साहित्य रचना मे नई प्रगति आरम्भ हुई। उसके बनाए हुए ग्रन्थो मे नाथ चरित्र विद्वद्जनमनोरंजनी और मेघमाला तथा अवधूतगीता, सिद्धतोषिणी और आत्म-दीप्ति की सस्कृत टीका उसके पाडित्य का परिचय देते है। कविराज मुरारीदान का यशवन्त यशोभूषण का सस्कृत सस्करण अपने ढग का अच्छा ग्रन्थ है। महा-राजा को पुस्तको से इतना प्रेम था कि उसने काशी, नेपाल आदि अनेक नगरो से सस्कृत के अनेक ग्रन्थ मगवाकर अपने पुस्तकालय मे सुरक्षित किये। आज यह पुस्तक प्रकाश के नाम से प्रसिद्ध है और देश के अप्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थो का बहुत बडा सग्रहालय है। महाराजा सगीत प्रेमी भी थे। उसने देश के कई भागो के सगीतज्ञो को आश्रय दे रखा था। जालौर के उदयसिंह का मुख्य मन्त्री यशोवीर अच्छा कवि था।[18]

इसी अचल के जागल प्रदेश मे कई प्रशस्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो धर्मस्थानो मे लगी हुई है। जैन धर्म सम्बन्धी मिलने वाली प्रशस्तियाँ धर्म व्यवस्था एव मध्यकालीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं। उदाहरणार्थ बीका का मृत्यु स्मारक उस समय के सस्कृत गद्य का बोधक है। बीकानेर दुर्ग के द्वार पर लगी रायसिंह प्रशस्ति (1650 स०) दुर्ग निर्माण की तिथि तथा रायसिंह तक के शासको का वशक्रम तथा उनकी उपलब्धियो पर अच्छा प्रकाश डालती है। इसका लेखक मुनि जेता था जिसकी भाषा मे एक ओज और गतिशीलता थी। स्वय महाराजा कवि था और विद्वानो का आश्रय दाता था। मुशी देवीप्रसाद के शब्दो मे वह राजपूताने का कर्ण था। उसने वैदिक के रायसिंह महोत्सव एव ज्योतिष के ज्योतिष रत्नाकर की रचना की थी। कर्णसिंह के समय भी अनेक ग्रन्थो की रचना हुई जिसमे गजानन्द मैथिली का कर्णभूषण और सिंहक का कर्णवितस प्रसिद्ध है। इसका पुत्र अनूपसिंह सस्कृत भाषा का आश्रय दाता एव विद्वान था। उसके समय मे रचे गये ग्रन्थो मे विद्यानायक का ज्योत्पत्तिसार शिवानन्द कृत तन्त्रशास्त्र का सिंहसिद्धान्त सिंधु, तथा धर्मशास्त्र का अनूपविलास (मणिराम दीक्षित) कर्मकाण्ड का भद्रराम रचित अयुतलक्ष होम कोटि प्रयोग तथा तीर्थरत्नाकर, अनन्तभट्ट और पाण्डित्य दर्पण, उदयचन्द्र के प्रसिद्ध हैं। उसी के समय मे भावभट्ट ने सगीत पर अनूपाकुश, अनूपसगीत विलास, अनूपसगीत रत्नाकार आदि ग्रन्थो की रचना की। इसी तरह जोरावरसिंह (1736–1745) स्वय सस्कृत का अच्छा कवि था। वैद्यकसार उसी के समय का ग्रन्थ है। कर्मचन्द्र-

---

18 ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, 872-875, रेऊ, मारवाड़ राज्य का इतिहास, भा 1, पृ. 1022–24, जी एन शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडिवल राजस्थान अध्याय 7 से सम्बन्धित ग्रन्थ।

है। अन्य 10वी से 14वी सदी के कई लेख नाडलाई, किराडू, नाडोल, जालोर, चरलू, घाणेराव, आदि से प्राप्त हुँ जिनसे जैन धर्म के विकास और चौहानो एव प्रतिहारो की सस्कृति के प्रति श्रद्धा का ज्ञान होता है। भाषा की दृष्टि से ये लेख अपने आप में उच्चकोटि के हुँ जिससे सिद्ध है कि ये अचल अपने आप मे सस्कृति के अच्छे प्रतीक थे।[14]

इस अचल के महाराजाओ ने अपने पूर्वजो की भाँति विद्वानों और कवियो को आश्रय दिया और उनको नवीन कृतियो के लेखनार्थ प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त कुछ नरेश स्वय भी अच्छे विद्वान् थे। जिन्होने व्यक्तिगत रूप से सस्कृत भाषा की भी सेवा की और भारतीय सस्कृति के पक्ष को परिपुष्ट बनाया।[15] भीनमाल ने अनेक समृद्ध लेखको को जन्म दिया जिनमे ख्याति प्राप्त माघ प्रसिद्ध है। इसकी शिशुपाल नामक कृति में कालीदास की उपमा भारवि का विचार गाभीर्य और दण्डी के लेखन शैली की नियम-निष्ठा झलकती है। इस महान् विभूति के वश मे मडन, माधव तथा माहुक नामक कवि उत्पन्न हुए। इसी माहुक ने धारावर्ष के आश्रय मे रहकर प्राकृत मे हरिमेखला की 830 ई० में रचना की। माघ के समकालीन हरिभद्रसूरि ने समराइच्छ कहा, वूर्ताख्यान, कथाकोश, मुनिपटिचरित, यशोधर चरित्र, वीरांगदकथा आदि लिखकर चारित्रिक मूल्यो और सदाचार की प्रतिष्ठा की। 1324 ई० मे समराइच्छ कहा को प्रद्युम्नसूरि ने प्राकृत से सस्कृत मे अनूदित किया। हरिभद्र के शिष्य उद्योतन सूरि ने जालोर मे रहकर 778 ई० मे कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की जो तत्कालीन राजस्थान की सास्कृतिक जीवन की अच्छी झाकी उपस्थित करता ह।[16]

यहाँ के विद्याविलासी शासको मे अजयराज कक्कू, विग्रहराज–4 और पृथ्वीराज तृतीय प्रमुख हैं। विग्रहराज चतुर्थ ने हरिकेली नाटक की रचना की। प्रतिहार कक्कू न कई पद्यो की रचना की तथा पृथ्वीराज तृतीय का आश्रित पद्मनाभ विद्वानो की गोष्ठी का आयोजक नियुक्त किया गया था। एसे आयोजनो का नेतृत्व स्वय पृथ्वीराज भी करता था। सोमदव विग्रहराज चतुर्थ का राजकवि था जो प्रेमाख्यान का अच्छा रचयिता था। पृथ्वीराज के समय पण्डित जयनाक ने पृथ्वीराज विजय काव्य मे वीररस, अनुप्रास एव कवित्व का समुचित नयोजन किया है।[17]

मारवाड के महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम विद्वानो के आश्रयदाता होने के साथ ही स्वय भी विद्वान थे। इनका सस्कृत मे लिखा "आनन्दविलास" वेदान्त से

---

14 गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान के इतिहास के स्रोत पृ 44-80

15 वही।

16 पर्वासिंह उभट्, पृ 29, दयानन्द प्रशस्ति सग्र, पृ 4–15, 24, 27, राजस्थान थ्रू द एजेज पृ 517-520।

17 वही, 521-522।

सम्बन्धित अच्छा ग्रन्थ है। इनका पुत्र अजीतसिंह स्वय कवि और भापाविद् था। उसके समय मे प० वालकृष्ण ने अजित चरित्र और भट्ट जगजीवन ने अजितोदय लिखा। जगजीवन अभयसिंह के समय का अच्छा कवि था जिसने अभय विलास की रचना की थी। जब 1804 मे मानसिंह जोधपुर राजा की गद्दी पर बैठा तो संस्कृत साहित्य रचना मे नई प्रगति आरम्भ हुई। उसके बनाए हुए ग्रन्थो मे नाथ चरित्र विद्वद्जनमनोरजनी और मेघमाला तथा अवधूतगीता, सिद्धतोषिणी और आत्मदीप्ति की संस्कृत टीका उसके पाडित्य का परिचय देते हैं। कविराज मुरारीदान का यशवन्त यशोभूपण का मस्कृत सस्करण अपने ढग का अच्छा गन्थ है। महाराजा को पुस्तको से इतना प्रेम था कि उसने काशी, नेपाल आदि अनेक नगरो से संस्कृत के अनेक ग्रन्थ मगवाकर अपने पुस्तकालय मे सुरक्षित किये। आज यह पुस्तक प्रकाश के नाम से पसिद्ध है और देश के अप्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थो का बहुत बडा सग्रहालय है। महाराजा सगीत प्रेमी भी थे। उसने देश के कई भागो के सगीतज्ञो को आश्रय दे रखा था। जालोर के उदयसिंह का मुख्य मन्त्री यशोवीर अच्छा कवि था।[18]

इसी अचल के जागल प्रदेश मे कई प्रशस्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो धर्मस्थानो मे लगी हुई हैं। जैन धर्म सम्बन्धी मिलने वाली प्रशस्तियाँ धर्म व्यवस्था एव मध्यकालीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं। उदाहरणार्थ बीका का मृत्यु स्मारक उस समय के संस्कृत गद्य का बोधक है। बीकानेर दुर्ग के द्वार पर लगी रायसिंह प्रशस्ति (1650 स०) दुर्ग निर्माण की तिथि तथा रायसिंह तक के शासको का वशक्रम तथा उनकी उपलब्धियो पर अच्छा प्रकाश डालती है। इसका लेखक मुनि जेता था जिसकी भाषा मे एक ओज और गतिशीलता थी। स्वय महाराजा कवि था और विद्वानो का आश्रय दाता था। मुशी देवीप्रसाद के शब्दो मे वह राजपूताने का कर्ण था। उसने वैदिक के रायसिंह महोत्सव एव ज्योतिप के ज्योतिप रत्नाकर की रचना की थी। कर्णसिंह के समय भी अनेक ग्रन्थो की रचना हुई जिसमे गजानन्द मैथिली का कर्णभूपण और सिहक का कर्णवितस प्रसिद्ध है। इसका पुत्र अनूपसिंह संस्कृत भाषा का आश्रय दाता एव विद्वान था। उसके समय मे रचे गये ग्रन्थो मे विद्यानायक का ज्योत्पत्तिसार शिवानन्द कृत तन्त्रशास्त्र का सिंहसिद्धान्त सिंधु, तथा धर्मशास्त्र का अनूपविलास (मणिराम दीक्षित) कर्मकाण्ड का भद्रराम रचित अयुतलक्ष होम कोटि प्रयोग तथा तीर्थरत्नाकर, अनन्तभट्ट और पाण्डित्य दर्पण, उदयचन्द्र के प्रसिद्ध हैं। उसी के समय मे भावभट्ट ने सगीत पर अनूपाकुश, अनूपसगीत विलास, अनूपसगीत रत्नाकार आदि ग्रन्थो की रचना की। इसी तरह जोरावरसिंह (1736–1745) स्वय संस्कृत का अच्छा कवि था। वैद्यकसार उसी के समय का ग्रन्थ है। कर्मचन्द्र-

---

18 ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, 872–875, रेऊ, मारवाड राज्य का इतिहास, भा 1, पृ 1022–24, जी एन. शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडिवल राजस्थान अध्याय 7 से सम्बन्धित ग्रन्थ।

है। अन्य 10वीं से 14वी सदी के कई लेख नाडलाई, किराडू, नाडोल, जालोर, भरलू, घाणेराव, आदि से प्राप्त हैं जिनसे जैन धर्म के विकास और चौहानों एव प्रतिहारो की सस्कृति के प्रति श्रद्धा का ज्ञान होता है। भाषा की दृष्टि से ये लेख अपने आप में उच्चकोटि के हैं जिससे सिद्ध है कि ये अचल अपने आप मे सस्कृति के अच्छे प्रतीक थे।[14]

इस अचल के महाराजाओ ने अपने पूर्वजो की भाँति विद्वानों और कवियो को आश्रय दिया और उनको नवीन कृतियो के लेखनार्थ प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त कुछ नरेश स्वय भी अच्छे विद्वान् थे। जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से सस्कृत भाषा की भी सेवा की और भारतीय सस्कृति के पक्ष को परिपुष्ट बनाया।[15] भीनमाल ने अनेक समृद्ध लेखको को जन्म दिया जिनमे ख्याति प्राप्त माघ प्रसिद्ध है। इसकी शिशुपाल नामक कृति मे कालीदास की उपमा भारवि का विचार गाभीर्य और दण्डी के लेखन शैली की नियम-निष्ठा झलकती है। इस महान् विभूति के वश मे मडन, माधव तथा माहुक नामक कवि उत्पन्न हुए। इसी माहुक ने धारावर्ष के आश्रय मे रहकर प्राकृत में हरिमेखला की 830 ई० मे रचना की। माघ के समकालीन हरिभद्रसूरि ने समराइच्छ कहा, वूर्ताख्यान, कथाकोश, मुनिपटिचरित, यशोधर चरित्र, वीरागदकथा आदि लिखकर चारित्रिक मूल्यो और सदाचार की प्रतिष्ठा की। 1324 ई० मे समराइच्छ कहा को प्रद्युम्नसूरि ने प्राकृत से सस्कृत मे अनूदित किया। हरिभद्र के शिष्य उद्योतन सूरि ने जालोर मे रहकर 778 ई० मे कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की जो तत्कालीन राजस्थान की सास्कृतिक जीवन की अच्छी झाकी उपस्थित करता है।[16]

यहाँ के विद्याविलासी शासको मे अजयराज कक्कू, विग्रहराज-4 और पृथ्वीराज तृतीय प्रमुख हैं। विग्रहराज चतुर्थ ने हरिकेली नाटक की रचना की। प्रतिहार कक्कू न कई पद्यो की रचना की तथा पृथ्वीराज तृतीय का आश्रित पद्मनाभ विद्वानो की गोष्ठी का आयोजक नियुक्त किया गया था। एसे आयोजनो का नेतृत्व स्वय पृथ्वीराज भी करता था। सोमदव विग्रहराज चतुर्थ का राजकवि था जो प्रेमाख्यान का अच्छा रचयिता था। पृथ्वीराज के समय पण्डित जयनाक ने पृथ्वीराज विजय काव्य मे वीररस, अनुप्रास एव कृतित्व का समुचित नयोजन किया है।[17]

मारवाड के महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम विद्वानो के आश्रयदाता होने के साथ ही स्वय भी विद्वान थे। इनका सस्कृत मे लिखा "आनन्दविलास" वेदान्त से

---

14 गोपीनाथ शर्मा—राजस्थान के इतिहास के स्रोत पृ 44-80

15. वही।

16 दशरथ शर्मा, पृ 29, पद्मानन्द प्रशस्ति सग्रह, पृ 4-15, 24, 27, राजस्थान थ्रू द एजेज पृ 517-520।

17 वही, 521-522।

सम्बन्धित अच्छा ग्रन्थ है। इनका पुत्र अजीतसिंह स्वय कवि और भाषाविद् था। उसके समय मे प० वालकृष्ण ने अजित चरित्र और भट्ट जगजीवन ने अजितोदय लिखा। जगजीवन अभयसिंह के समय का अच्छा कवि था जिसने अभय विलास की रचना की थी। जब 1804 मे मानसिंह जोधपुर राजा की गद्दी पर बैठा तो सस्कृत साहित्य रचना मे नई प्रगति आरम्भ हुई। उसके बनाए हुए ग्रन्थो मे नाथ चरित्र विद्वद्जनमनोरजनी और मेघमाला तथा अवधूतगीता, सिद्धतोषिणी और आत्म-दीप्ति की सस्कृत टीका उसके पाडित्य का परिचय देते हैं। कविराज मुरारीदान का यशवन्त यशोभूषण का सस्कृत सस्करण अपने ढग का अच्छा ग्रन्थ है। महाराजा को पुस्तको से इतना प्रेम था कि उसने काशी, नेपाल आदि अनेक नगरो से सस्कृत के अनेक ग्रन्थ मगवाकर अपने पुस्तकालय मे सुरक्षित किये। आज यह पुस्तक प्रकाश के नाम से प्रसिद्ध है और देश के अप्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थो का बहुत बड़ा सग्रहालय है। महाराजा सगीत प्रेमी भी थे। उसने देश के कई भागो के सगीतज्ञो को आश्रय दे रखा था। जालौर के उदयसिंह का मुख्य मन्त्री यशोवीर अच्छा कवि था।[18]

इसी अचल के जागल प्रदेश मे कई प्रशस्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो धर्मस्थानो मे लगी हुई हैं। जैन धर्म सम्बन्धी मिलने वाली प्रशस्तियाँ धर्म व्यवस्था एव मध्यकालीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं। उदाहरणार्थ बीका का मृत्यु स्मारक उस समय के सस्कृत गद्य का बोधक है। बीकानेर दुर्ग के द्वार पर लगी रायसिंह प्रशस्ति (1650 स०) दुर्ग निर्माण की तिथि तथा रायसिंह तक के शासको का वशक्रम तथा उनकी उपलब्धियो पर अच्छा प्रकाश डालती है। इसका लेखक मुनि जेता था जिसकी भाषा मे एक ओज और गतिशीलता थी। स्वय महाराजा कवि था और विद्वानो का आश्रय दाता था। मुंशी देवीप्रसाद के शब्दो मे वह राजपूताने का कर्ण था। उसने वैदिक के रायसिंह महोत्सव एव ज्योतिष के ज्योतिष रत्नाकर की रचना की थी। कर्णसिंह के समय भी अनेक ग्रन्थो की रचना हुई जिसमे गजानन्द मैथिली का कर्णभूषण और सिहक का कर्णवितस प्रसिद्ध है। इसका पुत्र अनूपसिंह सस्कृत भाषा का आश्रय दाता एव विद्वान था। उसके समय मे रचे गये ग्रन्थो मे विद्यानायक का ज्योत्पत्तिसार शिवानन्द कृत तन्त्रशास्त्र का सिंहसिद्धान्त सिंधु, तथा धर्मशास्त्र का अनूपविलास (मणिराम दीक्षित) कर्मकाण्ड का भद्रराम रचित अयुतलक्ष होम कोटि प्रयोग तथा तीर्थरत्नाकर, अनन्तभट्ट और पाण्डित्य दर्पण, उदयचन्द्र के प्रसिद्ध हैं। उसी के समय मे भावभट्ट ने सगीत पर अनूपाकुश, अनूपसगीत विलास, अनूपसगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थो की रचना की। इसी तरह जोरावरसिंह (1736–1745) स्वय सस्कृत का अच्छा कवि था। वैद्यकसार उसी के समय का ग्रन्थ है। कर्मचन्द्र-

18. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, 872–875, रेऊ, मारवाड़ राज्य का इतिहास, भा 1, पृ. 1022–24, जी एन. शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडिवल राजस्थान अध्याय 7 से सम्बन्धित ग्रन्थ।

वशोविकीर्तिनकम् काव्यम् कर्मचन्द्रनामी निपुण मन्त्री की प्रशंसा मे रचा गया था जो एक मात्र युग की प्रतिभा का स्मारक है। यहाँ के शब्द बोध का (टीकाकार) महेश्वर, राजविनोद का लेखक सदाशिव, कर्णभूषण का गजानन्द तथा मुद्गल वृतसरावली के लेखक अपने आप मे 17–18वी सदी मे विभूतियाँ थी। इसी तरह जैसलमेर का भट्टीकाव्य लालित्य और लेखन शैली का अतिशोभन उदाहरण है।[19]

हाड़ौती भी प्राचीनकाल से विद्या का केन्द्र रहा है। शिलालेखो के क्षेत्र मे खडवा के यूप स्तम्भ मे (238–39) 'त्रिराच' एव आप्तोर्याम यज्ञ का उल्लेख है जो वैष्णव धर्म तथा वैदिक यज्ञ परिपाटी पर प्रकाश डालता है। 738 ई० का कोटा के निकट कणसवा गाव के शिवालय मे लगा हुआ लेख है जो शैव धर्म के प्रचार और राजस्थान के मौर्यवशी अन्तिम राजा की सूचना देता है। ये प्रशस्तिया स्तवन-परक एव भाव से पूर्ण हैं। इसी प्रकार से 1636 का गैपरनाथ का शिलालेख मन्दिर की प्रतिष्ठा और 1746 का चादखेडी का शिलालेख जाटो के विरोध के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। इस भाग के नरेश भी विद्याप्रेमी रहे हैं जिनके समय के सस्कृत और भाषा के ग्रन्थ सरस्वती भण्डार तथा कोटा और बूदी नरेशो के निजी सग्रहालयो मे सुरक्षित हैं। अधिकाश मे वे ग्रन्थ हैं जो ज्योतिष, वैद्यक और काव्य विषयक हैं। जहाँ तक इतिहास सम्बन्धी साहित्य का प्रश्न है उनमे चरित्र रत्नावली का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ मे महाराव माधो-सिंह के प्रारम्भिक जीवन और वराहनपुर के घेरे का वर्णन उपादेय है।[20]

रणथम्भोर के हमीर का दरबार व्युत्पन्न विद्वानो का आश्रयदाता था। जय-सिंह सूरि जिसने कुमारपाल चरित रचा और जिसके नाम का सम्बन्ध छिताइचरित से है, अपने समय के मजे हुए विद्वान थे। विजयादित्य हम्मीर का पौराणिक काव्य था। इसी तरह रामभद्र और रामचन्द्र सूरि उस काल के प्रौढ लेखक थे।[21]

जयपुर राज्य का 1612 ई० का रामगढ शिलालेख, जिसे पद्माकर के पुत्र पीताम्बर ने लिखा था, सस्कृत पद्य का अच्छा नमूना है। मानसिंह, सवाई जयसिंह और रामसिंह का काल विद्याप्रति का स्वर्णयुग है। आमेर मे अनेक सस्कृत के पण्डित आश्रय पाते रहे और वैद्यक, काव्य, नाटक और अनेक साहित्यिक रचनाओ

---

19 राजरसनामृत पृ० 36, 45, 46, 49, 50, , जरनल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल, न्यू सीरीज, 16, 1920, पृ 279, टेसीटोरी, ए डिसक्रिप्टिव कैटलाग ऑफ बीका-नेर, 1, पार्ट 2, पृ 59, राजेन्द्रलाल मित्र, कैटलॉग ऑफ द सस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस्, बीकानेर 510–514, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा 1, पृ० 109, 119, 136–201 202, 280-284, 285–87, 322

20 जी० एन० शर्मा, राजस्थान के इतिहास के स्रोत पृ 44, 46, 53, डा मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा 1, पृ० 4, 89, जी एन शर्मा—राजस्थान का इतिहास पृ० 529–530

21 राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ० 746

को जन्म देते रहे। सवाई जयसिंह तो अपने युग के अच्छे विद्वान थे, विशेष रूप से ज्योतिष और शिल्पशास्त्र के। जयपुर का पूरा खाका और जन्त्रमन्त्र का निर्माण उनके मस्तिष्क की सूझ है। वह भारत के दूर-दूर से विद्वानो को बुलाकर अपने यहाँ आश्रय देता था। शिवानन्द गोस्वामी जो एक तैलग ब्राह्मण थे, अच्छे टीकाकार और भाष्यकार थे। इसी तरह चक्रपाणि अच्छा तान्त्रिक था। निकेतन गोस्वामी कामशास्त्र का वरिष्ठ लेखक था। महाराष्ट्र का रत्नाकार पण्डित जयसिंह के दरबार का समृद्ध विद्वान् था जो सस्कारो का अच्छा ज्ञाता था। रत्नाकर का भतीजा वैद्यनाथ दीक्षित बृह्मसूत्रावृत्ति और पद्यातरागिनी का लेखक था। कृष्ण भी अच्छा विद्वान था जिसने जयदेव के गीत गोविन्द के अनुरूप रामगीत की रचना की थी। उसी ने प्रशस्ति मुक्तावली लिखकर निवन्ध व पत्र लेखन प्रणाली का समुचित सयोजन किया था। कर्नाटक के हरिकृष्ण ने वैदिक वैष्णव सदाचार मे वैष्णवो के आचार और विचार का निरूपण किया था। महाराजा रामसिह के समय मे भी सस्कृत और वैद्यक के अध्ययन की समुचित व्यवस्था थी। जो परम्परा जयपुर मे इन अग्रणियो ने स्थापित की उसके फलस्वरूप हमारे समय के मधुसूदन एव प० मोतीलाल सस्कृत साहित्य और दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् उत्पन्न हुए। ऐसे विद्यावैभव के कारण जयपुर दूसरी काशी के नाम से आज भी विद्वान्-जगत् मे प्रसिद्ध है।[22]

वागड जिसमें डूगरपुर और वासवाडा सम्मिलित है, सस्कृत भाषा की प्रगति की दृष्टि से पिछडा हुआ भाग नही था। 1155 ई० के थकराडा लेख से उस समय की राजनीतिक स्थिति तथा सस्कृत के स्तर का ज्ञान होता है। 1196 ई० के दीवडा गाँव के शिव मूर्ति के लेख से उस समय की धार्मिक व राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। 1221 ई० के जगत् के लेख से विदित होता है कि छप्पन का भाग वागड के अन्तर्गत था। उपर्युक्त गाँव के 1404 ई० के लेख से उदयपुर और वागड़ के अहाडिया सम्बन्धी गुत्थी सुलझाने मे सहायता मिलती है। यह लेख 15 शताब्दी के सस्कृत के गद्य पद्य के स्तर को समझने मे बडा सहायक है। भीलो के उपद्रव पर प्रकाश डालने वाला 1469 ई० का आतरी लेख सस्कृत पद्य का अच्छा नमूना ह। चीतरी गाव का 1479 ई० का शिलालेख वागड की कृषि सम्बन्धी जानकारी देता है। सूरपुर के माधोराय के मन्दिर की प्रशस्ति, सस्कृत पद्य तथा वागड़ी गद्य द्वारा वागड़ के गाँवो, कस्बो, नगर योजना, शासन प्रवन्ध, वागात, वावड़िया मन्दिर, मार्ग आदि पर प्रभूत प्रकाश डालती है। प्रशस्तिकार उस समय के अध्ययनो के विषय मे वेद, पुराण और शास्त्रो को सम्मिलित करता है। इसी प्रकार महारावल पुजराज की गोवर्धननाथ की प्रशस्ति (1679 वि०) मे कई ऐतिहासिक तथ्यो

22 डॉ वी एस भटनागर—लाइफ एण्ड टाइम्स आफ सवाई जयसिंह, पृ० 314, 343–345; जी एन. शर्मा, राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ० 88–89, 100, 129, 153, 171–172

मालवा था। श्रीधर ने 1122 मे पार्श्वनाथचर्य दिल्ली मे जाकर लिखा। धवल, हरिसेन, लक्ष्मण, राजशेखर, क्षेमीश्वर और बलभद्र इसी युग के अजैन लेखक थे।[26]

इनके अतिरिक्त हजारो हस्तलिखित ग्रन्थ जो सरस्वती भण्डार उदयपुर, पुस्तक प्रकाश जोधपुर, अनूप सस्कृत पुस्तकालय बीकानेर, सरस्वती भण्डार कोटा जयसलमेर भण्डार पब्लिक पुस्तकालय भरतपुर आदि मे सुरक्षित हैं समृद्ध ज्ञान की निधि हैं। इनमें विधि, न्याय, तर्क, वैद्यक, ज्योतिष, पुराण, धर्मशास्त्र उपनिषद् आदि पर आधारित ग्रन्थ हैं जो 10वी शताब्द से 18वी शताब्दी तक लिखे गये थे। इनमे कुछ एक नाम यहाँ दिये जाते हैं। नागदेव का गृह स्नान विचार (1648 ई०) जगन्नाथ का राज्यपट्टाभिषेक पद्धति, विश्वकर्मा का अशोचरत्न (1618 ई०) वैद्यनाथ का चमत्कार चिन्तामणि (1677), निष्ट का चिकत्साकलिका (1626) नकुल की अश्वचिकित्सा (1678) आदि।[27]

राजस्थानी साहित्य

सस्कृत साहित्य रचना की तरह राजस्थानी मे भी साहित्य सृजन हुआ। राजस्थानी समस्त राजस्थान की भाषा रही है जिसके अतर्गत मेवाडी, मारवाडी, मालवी, वागडी आदि बोलिया हैं। इन विभिन्न बोलियो पर जिनका सामूहिक नाम राजस्थानी है, समय-समय पर आस-पास के भागो की भाषाओ का प्रभाव पडता रहा, विशेषकर गुजराती का, और उसमे होने वाली सभी रचनाओ को राजस्थानी की सज्ञा दी गई।[28]

इस भाषा का विकास 7वीं सदी से प्रारम्भ होकर हमारे युग तक है। मध्यकालीन युग के पहिले राजस्थानी भाषा का साहित्य अधिक उपलब्ध नही होता। उसका प्रमुख कारण यह है कि प्राचीन काल में साहित्यिक रचना का माध्यम सस्कृत या और उस पर एकाधिकार पण्डितो का ही था। जो कुछ लोक प्रचलित साहित्य था वह प्राय मौखिक था। ज्यो-ज्यो अप्रभ्रंश का प्रभाव बढता गया और गुर्जर भाषा भी समृद्ध होती गई तो राजस्थान की लौकिक बोलियो मे बौद्धिक चिन्तनो, आमोद-प्रमोद के उल्लासो और जीवन की बहु-पक्षीय विशिष्टताओ को धर्मनिष्ठ, नृत्य, गान और काव्य धारा मे प्रवाहित किया जाने लगा। साथ ही मध्यकालीन मुसलमानो के आक्रमण ने साहित्य रचना में एक नया जोश फूका जिसके फलस्वरूप धर्म-प्रधान तथा शांत रस प्रधान रचनाओ के साथ-साथ वीर रस प्रधान साहित्य की भी रचना होने लगी। फलत राजस्थानी साहित्य की काया विशाल होती गई। पौराणिक,

---

26 राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ 518–521

27 जी एन शर्मा—सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ 255–256.

28 डा मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ 30, डा. हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ 5, 6, 20

ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, सामाजिक, धार्मिक, शृंगारिक, नैतिक एव वीर भावात्मक साहित्य रचित हुआ ।

यदि हम राजस्थानी भाषा का मौलिक रूप देखना चाहे तो 'रास' नामक रचनाओं मे मिलेगा । 'रास' मे नृत्य, गान एव अभिनय तीनो कलाओ का समावेश है। इस साहित्य को पनपाने श्रेय जैन कवियों को है जिन्होंने धर्म प्रधान तत्त्वो का ऐसी कृतियो द्वारा उन्मीलन किया था । 905 ई० का भीनपाल मे रचित 'रिपु-दारण-रास' बडा प्राचीन है । खुमाण रासो तथा नरपति नाल्ह कृत वीसलदेव रास यद्यपि उत्तर मध्यकालीन रचनाएँ मानी जाती हैं, परन्तु इनका मूल रूप प्राचीन है । इनमे प्रयुक्त क्रिया एव सज्ञा के रूप अपभ्रंश पर आधारित हैं। वीसलदेव रास की राजमती की प्रेम कथा गा-गा कर सुनाने के अभिप्राय की ओर संकेत करती है जिससे ये रचना प्राचीन काल मे रची गई दिखाई देती है। वज्रसेन सूरि कृत भरतेश्वर बाहुबलि भी 1150 ई० के आस-पास की रचना है जिसको वीर एवं शात रस का छोटा-सा काव्य कहा जा सकता है। इसी तरह 1184 ई० मे शालिभद्र सूरि ने बाहुबलि की रचना की जो खण्ड काव्य के रूप में छदों तथा राग-रागनियो से भरा पड़ा है ।[29]

धीरे-धीरे इनमे अपभ्रंश शब्दो की न्यूनता आती गई और लौकिक शब्दो का बाहुल्य राजस्थानी साहित्य मे बढता गया । जिन वल्लभ सूरि का 'वृद्ध नवकार' और विनयचन्द्र सूरि कृत 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' जम्बूस्वामी चरित 'स्थलि भद्र रास' रेवतगिरिरास', 'आबूरास' 'चन्दन बाला राम' आदि 13वी शताब्दी के उल्लेखनीय उदाहरण हैं । 14वी से 16वी शताब्दी मे राजस्थानी भाषा के साहित्य की ओर उन्नति हुई । देशी शब्दो के साथ अरबी-फारसी के तत्त्व शब्द भी जुड़ते गये । जिन पद्मकृत "स्थूलि-भद्र फाग", सोम सुन्दर कृत "नेमिनाथ-नवरस-फाग", हीरानन्द सूरिकृत "मुनिपति राजर्षि चरित्र", वीठू सूजा कृत "छद रा जइतसी रतु", पद्मनाथ कृत "कान्हड़दे प्रवन्ध" आदि रचनाएँ रास, चौपाई तथा वीरोल्लास युक्त काव्य के अच्छे उदाहरण हैं । इसी तरह राजस्थानी साहित्य वृज भाषा से भी प्रभावित हुआ । पृथ्वीराज का "वेलि क्रिसन रुकमणी री" की रचना इस स्थिति का प्रमाण है । यदि राजस्थानी भाषा की समृद्धि के स्वरूप का निराकरण करें तो इसका दिग्दर्शन माणिकचन्द्र सूरि कृत "पृथ्वीचन्द्र चरित्र" (1413 ई०), शिवदास कृत "अचलदास खीची-री वचनिका" (1756 ई०) तथा दवावेत साहित्य मे हो सकेगा । इस समय तक भाषा पुष्ट, संगीतमय तथा परिष्कृत हो गई थी और वर्णनात्मक पद्धति रोचक, सरलता और लोकप्रियता की दृष्टि मे ख्यात और वातो

29. जिज्ञासु, चारण साहित्य का इतिहास, भा 1, पृ. 12–14.

का स्थान भी गद्य काव्य मे बेजोड है। 'नैणसी को ख्यात' दयालदास और बाकीदास की ख्यातें अपने ढग की निराली हैं।[30]

इस विपुल साहित्य की समीक्षा काल विभाजन या शैली विभाजन से की जा सकती है। काल विभाजन के विचार से प्रारम्भ कालीन, मध्यकालीन एव अर्वाचीन कालीन साहित्य आता है और शैली मे जैन शैली, चारण शैली, सत शैली और लौकिक शैली प्रमुख हैं। इन विभिन्न शैली के लेखक प्रत्येक काल मे हुए हैं। अतएव हम शैली विशेष से कुछ साहित्यिक रचना पर प्रकाश डालेंगे।

जैन शैली का साहित्य

वैसे तो जैन शैली का साहित्य विशेष रूप से जैन धर्म से सम्बन्धित हैं, परन्तु यत्र-तत्र अन्य जीवन सम्बन्धी विषयो का भी इसमे समावेश है। इसके लेखक जैन साधु तथा अजैन रहे हैं जिन्होने धर्म का प्रतिपादन, विश्व-कल्याण का प्रसार तथा नैतिक जीवन की व्याख्या की है। इस साहित्य की प्रकृति शात रस से ओत-प्रोत रहती है और रचना का स्वरूप रास, पुराण, पूजा, पाठ, स्तवन आदि विषयो से सम्बन्धित है। इनके अतिरिक्त ज्योतिष, वैधक एव सगीत विषय भी इस साहित्य की निधि हैं। लौकिक कथा, कहानियां, आख्यान की रचना भी इस साहित्य के अन्तर्गत हुई हैं। पद्य मे अनेक रास, फाग, चौपाई, भास, धवल, प्रबन्ध, ढाल, गीत, छद, हियाली, सिलोका, सवाद, दूहा आदि जैन साहित्य के अग हैं।

जैन साहित्य के प्रारम्भ काल मे स्वय कवि था जिसका समय वि० स० 734 से 1016 के मध्य अनुमानित है। वह एक कुशल साहित्यकार था। वस्तु-वर्णन और रस निरूपण उसके काव्य की विशेषताए थी। उसके चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं— पेडम चरिउ, रिट्ठणेमिचरिय, पचमीचरिउ और स्वयभू छन्द। महाकवि पुष्पदन्त भी प्रारम्भकाल का कवि था जिसने महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिय और कोष की रचना की थी। आचार्य हरिभद्रसूरि जिनका जन्म चित्तौड मे हुआ था, 8वी शताब्दी का गणमान्य कवि था जिसका धूर्ताख्यान तथा णेमिनाहचरिउ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। हेमचन्द्र सूरि (11वी शताब्दी) के काव्यात्मक तथा भाषा और व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थो का लेखक था जिसमे देशीनाममाला, शब्दानुशासन नामक ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है।[31]

कई पूर्व मध्यकालीन लेखको ने रास, फाग, दूहा, चौपाई आदि शैली से काव्य रचना की जिनमे वीसलदेव रास प्रमुख हैं। यह एक प्रेमाख्यान है जिसकी कथा का आधार वीसलदेव चौहान और भोज परमार की पुत्री है। इसका लेखक

---

30 वही पृ 10 14–15, डा० पुरुषोत्तम मेनारिया, राजस्थानी साहित्य का इतिहास पृ 10–14

31 मेनारिया—राजस्थानी साहित्य का इतिहास, पृ 40–45।
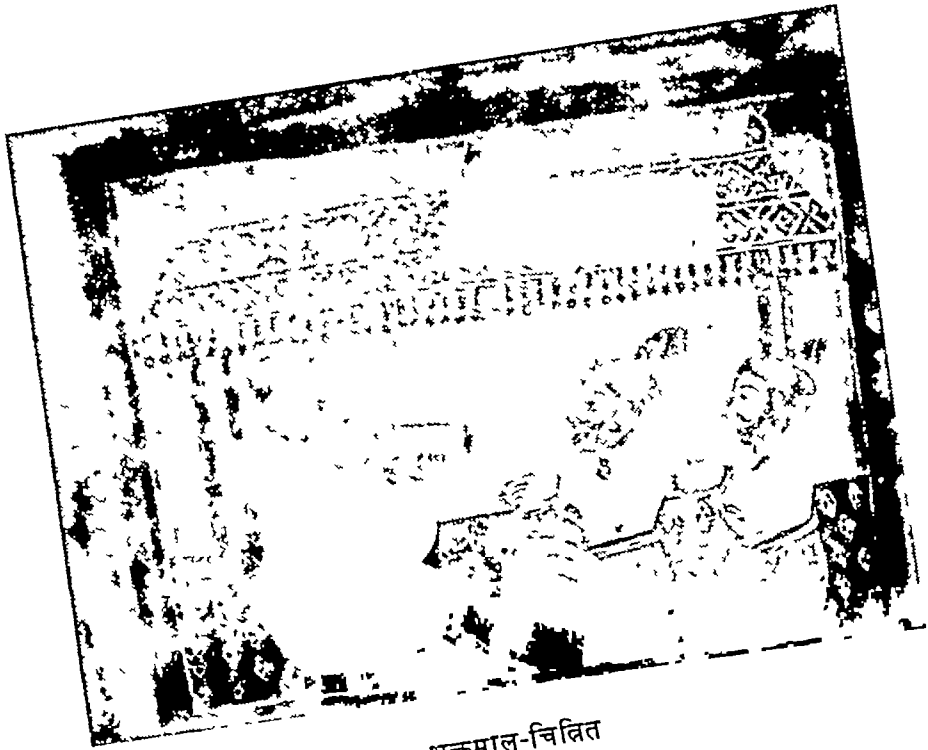
भक्तमाल-चित्रित
17वी शताब्दी
—सरस्वती भण्डार, उदयपुर

का स्थान भी गद्य काव्य मे बेजोड हैं। 'नैरणसी को ख्यात' दयालदास और वाकीदास की ख्याते अपने ढग की निराली हैं।[30]

इस विपुल साहित्य की समीक्षा काल विभाजन या शैली विभाजन से की जा सकती है। काल विभाजन के विचार से प्रारम्भ कालीन, मध्यकालीन एव अर्वाचीन कालीन साहित्य आता है और शैली मे जैन शैली, चारण शैली, सत शैली और लौकिक शैली प्रमुख हैं। इन विभिन्न शैली के लेखक प्रत्येक काल मे हुए हैं। अतएव हम शैली विशेष से कुछ साहित्यिक रचना पर प्रकाश डालेंगे।

जैन शैली का साहित्य

वैसे तो जैन शैली का साहित्य विशेष रूप से जैन धर्म से सम्बन्धित हैं, परन्तु यत्र-तत्र अन्य जीवन सम्बन्धी विषयो का भी इसमे समावेश है। इसके लेखक जैन साधु तथा अजैन रहे हैं जिन्होने धर्म का प्रतिपादन, विश्व-कल्याण का प्रसार तथा नैतिक जीवन की व्याख्या की है। इस साहित्य की प्रकृति शात रस से ओत-प्रोत रहती है और रचना का स्वरूप रास, पुराण, पूजा, पाठ, स्तवन आदि विषयो से सम्बन्धित है। इनके अतिरिक्त ज्योतिष, वैधक एव सगीत विषय भी इस साहित्य की निधि हैं। लौकिक कथा, कहानियाँ, आख्यान की रचना भी इस साहित्य के अन्तर्गत हुई हैं। पद्य मे अनेक रास, फाग, चौपाई, भास, धवल, प्रवन्ध, ढाल, गीत, छद, हियाली, सिलोका, सवाद, दूहा आदि जैन साहित्य के अग हैं।

जैन साहित्य के प्रारम्भ काल मे स्वय कवि था जिसका समय वि० स० 734 से 1016 के मध्य अनुमानित है। वह एक कुशल साहित्यकार था। वस्तु-वर्णन और रस निरूपण उसके काव्य की विशेषताए थी। उसके चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं— पेउम चरिउ, रिट्ठणेमिचरित्र, पचमीचरिउ और स्वयम्भू छन्द। महाकवि पुष्पदन्त भी प्रारम्भकाल का कवि था जिसने महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरित्र और कोष की रचना की थी। आचार्य हरिभद्रसूरि जिनका जन्म चित्तौड मे हुआ था, 8वी शताब्दी का गरणमान्य कवि था जिसका धूर्ताख्यान तथा णेमिनाहचरिउ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। हेमचन्द्र सूरि (11वी शताब्दी) के काव्यात्मक तथा भाषा और व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थो का लेखक था जिसमे देशीनाममाला, शब्दानुशासन नामक ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है।[31]

कई पूर्व मध्यकालीन लेखको ने रास, फाग, दूहा, चौपाई आदि शैली मे काव्य रचना की जिसमे वीसलदेव रास प्रमुख हैं। यह एक प्रेमाख्यान है जिसकी कथा का आधार वीसलदेव चौहान और भोज परमार की पुत्री है। इसका लेखक

30 वही पृ 10 14-15, डा० पुरुषोत्तम मेनारिया, राजस्थानी साहित्य का इतिहास पृ 10-14

31 मेनारिया—राजस्थानी साहित्य का इतिहास, पृ 40-45।
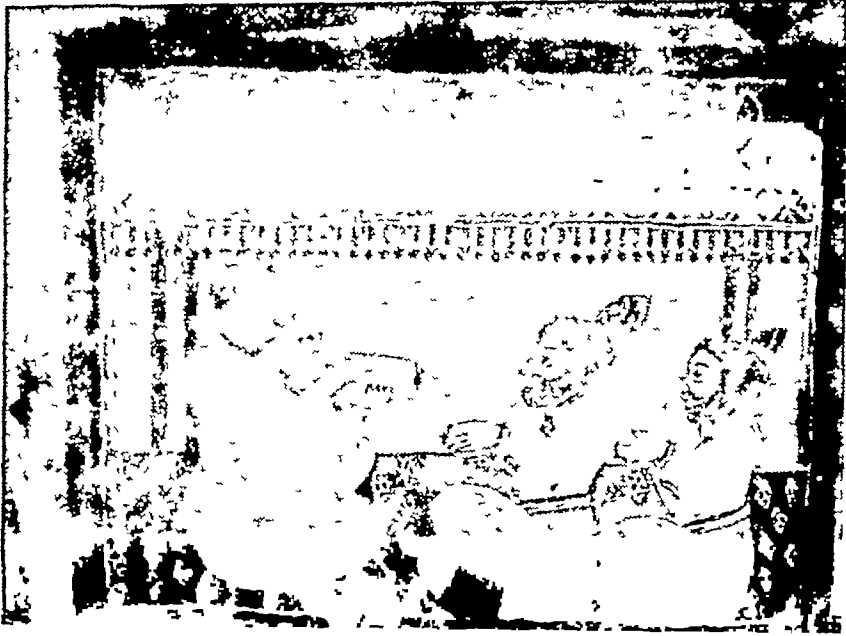
भक्तमाल-चित्रित
17वी शताब्दी
—सरस्वती भण्डार, उदयपुर

भक्तमाल-चित्रित
17वी शताब्दी
—सरस्वती भण्डार, उदयपुर

रपति नाल्ह है (13वी सदी) जो व्यास ब्राह्मरण था। लेखक ने अपनी रचना मे वातावररण को सुरम्य रीति से चित्रित कर काव्य मे सौन्दर्य, भावाभिव्यक्ति और स्वाभाविकता का वातावररण प्रस्तुत करने मे अपना कौशल प्रदर्शित किया है। 15वी और 16वी सदी मे भी रास, छन्द, फाग आदि के उत्कृष्ट लेखक थे जिनमे वपाल का श्रेणिकराजानोरास, ऋषिवर्धन सूरि का नलदमयन्तिराम, धर्म समुद्र-गरिण का रात्रि भोजनरास, सहजसुन्दर कृत परदेसीराजानोरास आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पद्मनाभ का डूगर बावजी की रचना नीति, व्यावहारिकता तथा आत्मदर्शन का अच्छा उदाहररण है। पार्श्वचन्द्रसूरि प्रभावशाली लेखक था जिसने पचासो रचनाओ द्वारा जैन धर्म और समाज की महान् सेवा की। छीहल की रचनाएँ तलस्पर्शी तथा लोकभाषा की अनूठी कृतियाँ हैं। "पंच सहेली" की शृंगार रचना मालिन, तमोलिन, छीपन, कलालिन और सुनारिन के विरह वेदना तथा आत्म-संतोष के भावो से परिपूर्ण है। सत्रहवी शताब्दी का कुशललाभ एक समर्थ कवि था। इनकी समस्त रचनाएँ राजस्थानी मे हैं। माधवानल चौपाई और ढोला मारवणी चौपाई लोक-कथानको पर आधारित सरस काव्य हैं और राजस्थानी साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। "ढोलामारु" मे तो नाटकीय गुणो का अच्छा समावेश है। इसी युग के हेमरत्नसूरि ने अपनी अनेक कृतियो से निरन्तर साहित्य साधना का परिचय दिया है। हेमरत्नसूरि चौपाई का गणमान्य कवि था। इसकी "गोरा बादलरी चौपाई" प्रधानत वीर रस और गौरण शृंगार की रचना है। कवि ने स्वामिधर्म और पद्मनी के शील की प्रशसा की है। भावो की सरलता और भाषा के सहज प्रवाह के कारण यह रचना निस्सन्देह अनूठी है। लोक प्रचलित कथा को कवि ने अत्यन्त आत्मीयता के साथ सीधे-सादे ढग मे कहा है। समयसुन्दर ने अपरिमेय सख्या के गीतो की रचना कर अपनी प्रौढ विद्वत्ता को सार्थक बनाया। इसके विशाल साहित्य मे भाषा शास्त्रीय अध्ययन आत्मोत्थान के मार्ग और लोक-तत्त्वो का अच्छा समावेश है।[1]

चारण साहित्य

चारण साहित्य का नाम चारण जाति से नही, चारण शैली से है, जिसकी रचना मुख्य रूप से चारणो तथा चारणेत्तर जातियाँ—ब्राह्मण, राजपूत, ढाढी, ढोली, राव, सेवक, मोतीसर आदि ने की थी। राजपूत युग के शौर्य तथा जनजीवन की झाकी इसी साहित्य की देन है। इसमे वीर तथा शृंगार रस की प्रधानता रही और इसके प्रसग युद्धो तथा शौर्य के आख्यानो पर आधारित है। इसमे नारी जीवन और उसके त्याग और बलिदान को बडे भावात्मक वेग से वरिणत किया गया है। बादर ढाढी कृत वीर भायरण चारण शैली की प्रारम्भिक रचना है जिसको

---

[1] थानी भाषा और साहित्य, पृ॰ 250–270

पन्द्रहवी शताब्दी मे लिखा गया था। इसमे रावल मल्लीनाथ जी और उनके ज्येष्ठ पुत्र जगमाल के वीर कृत्यो, राव वीरमजी का इतिहास और अन्त मे उनके पुत्र गोगादेव का अपने पिता की मृत्यु का बदला लेते हुए, युद्ध मे वीरगति को प्राप्त करना सविस्तार मे वर्णित है। इसमे इतिहास की अत्यन्त मूल्यवान सामग्री सुरक्षित है और भाषा ओजपूर्ण है, गाडण सिवदास कृत "अचलदास खींची की वचिनीका" तुकान्त गद्य और पद्य की रचना है। इसमे मांडू के सुलतान होसग गोरी और गागरोण के राजा अचलदास खीची के युद्ध तथा राजपूत स्त्रियो के जौहर का सजीव वर्णन है। पन्द्रहवी शताब्दी के कवियो मे पद्मनाभ का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिसने कान्हडदे प्रबन्ध की रचना की। इसमे कान्हडदे चौहान का अलाउद्दीन से युद्धो का सजीव वर्णन है। साथ ही लेखक ने उस समय के राजस्थान की भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति का सजीव वर्णन किया है। साहित्यिक दृष्टि से यह एक वर्णनात्मक सुन्दर कलाकृति है।[33]

चन्द्र बरदाई के पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज की वीरता एव शौर्य का अच्छा वर्णन है। इसका मूल लघु रूप पृथ्वीराज के निकट समय मे लिखा गया और 17वी सदी तक इसका विकास वृहत् रूप मे हो गया। इसमे कोई सन्देह नहीं कि राजस्थानी रासो मे इसकी गणना सर्वोपरि है। इसमे अनेक कथाओ और प्रसंगो को ऐसे रसो, छदो, अलकारो और उपमाओं मे सजाया गया है कि सभी प्रसग पाठक के सामने प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसमे कई स्थल व नाम तथ्यहीन हैं तथा तिथियाँ अशुद्ध हैं, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ वीर गाथा काल की अनमोल रचना है।[34]

16वी सदी के राजस्थानी साहित्य के चोटी के कवियो मे दुरसा आढा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह बीकानेर के राजा रायसिह, सिरोही के राव सुरतान, जोधपुर के चन्द्रसेन तथा महाराणा प्रताप के युग का था। अकबर के दरबार मे भी इसका विशिष्ट स्थान था। दुरसा हिन्दू सस्कृति और शौर्य का प्रशसक तथा भारतीय एकता का भक्त था। इन गुणो की ध्वनि कवि के गीतो, छन्दो, झूलणा, कवित्त तथा दोहो मे स्पष्ट है। दुरसा कवि होने के साथ कुशल योद्धा भी था।[35]

बाँकीदास (1838-1890) आशिया शाखा का चारण था और जोधपुर के महाराजा मानसिंह का काव्य गुरु। वह न केवल आशु कवि ही था वरन् गद्य-पद्य काव्य का लेखक तथा सस्कृत, बृज, राजस्थानी एव फारसी भाषाओ का अच्छा ज्ञाता था। इसके द्वारा रचे गए दोहो और गीतो में एक ओज था। बाँकीदास की

---

33 राजस्थानी साहित्य, पृ० 74-75, 83

34 मेनारिया—राजस्थानी साहित्य का इतिहास पृ० 61-76।

35 माहेश्वरी—राजस्थानी साहित्य पृ० 139-146।

ख्यात राजस्थानी इतिहास जानने का स्रोत ग्रन्थ है। इसकी काव्य रचना के अनेक ग्रन्थ आज भी बड़े चाव से पढे जाते है।[36]

सूर्यमल (1872–1920 वि०) आधुनिक काल का महाकवि था और बूंदी का राज्य कवि था। इसकी अनेक कृतियो में वंश भास्कर तथा वीर सतसई विशेष उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से वंश भास्कर बूंदी राज्य के इतिहास के लिए बडा उपयोगी है। वीर सतसई मे तो कवि प्रवर ने निष्क्रिय राजपूत नरेशो को स्वाधीनता संग्राम मे संगठित हो ब्रिटिश सत्ता का मुकाबला करने के लिए प्रेरित किया है। इन दोनो ग्रन्थो मे कवि का स्वाभिमान तथा स्वातन्त्र्य प्रेम झलकता है। इसी प्रकार स्वातन्त्र्य प्रेम के धनी केसरीसिंह बारहठ (1929–1998) ने "चेतावणी रा चूंगट्या" के दोहो मे स्वाभिमानी महाराणा फतहसिंह को 1912 के दिल्ली दरबार मे जाने से रोका था।[37]

गद्य लेखको मे नैणसी का नाम प्रमुख है। उसने नैणसी ख्यात तथा परम-नारी विगत लिखकर 17वी सदी की राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन कर मध्यकालीन इतिहास तथा गद्य साहित्य की बडी सेवा की है। गद्यो मे ताम्रपत्र, पट्टे, वंशावलियाँ, बात आदि भी अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं जिनसे न केवल भाषा की शैली तथा उसके विकास का पता चलता है अपितु इनके द्वारा राजस्थान की सामाजिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने मे बडी सहायता मिलती है। कई राजनीतिक घटनाओ एवं तिथिक्रम को निर्धारित करने मे ये बडे उपयोगी हैं।[38] इसी तरह राजस्थान मे मौखिक रूप से कही जाने वाली बातो मे नीति, कर्त्तव्य आदि विषयो को लेकर अनेक कथानक हैं जो शासक वर्ग और समाज के संस्कारो का निर्माण करने के माध्यम रहे हैं।[39]

जो राजस्थानी साहित्य की रचना की परम्परा यहा रही है उसको आधुनिक लेखक निभाने के प्रति सजग है। स्वाधीनता, देश-प्रेम तथा राजनीतिक अनेक वादो को लेकर गद्य और पद्यो मे कृतियाँ प्रकाशित हो रही हैं। नई पीढ़ी को प्रेरणा देने के लिए रानी पद्मनी, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, महाराणा प्रताप, महात्मा-गांधी, सुभाषचन्द्र बोस, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि विषयो के द्वारा महान् आत्माओ के चित्रण किये जा रहे है। पौराणिक और धार्मिक विषयो को भी कृतियो मे स्थान दिया जा रहा है। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना, अनुवाद आदि क्षेत्रो मे भी राजस्थान पीछे नही। इन विविध कृतियो और लेखको के नाम

36. मेनारिया—राजस्थानी साहित्य का इतिहास, पृ० 63-65
37. वही, पृष्ठ 116-119.
38. जी. एन. शर्मा—ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडिवल राजस्थान।
39. नारायणसिंह भाटी—राजस्थानी बात—संग्रह, पृ० 18।

स्थानाभाव से देना सम्भव नही पर वे प्रतिवर्ष अपनी रचनाओ को प्रकाशित कर लोकप्रिय हो रहे है ।

सन्त साहित्य

राजस्थान के जन मानस को प्रभावित करने वाला सन्त साहित्य बडा मार्मिक है । यहाँ के सन्तो ने अपने अनुभवो को वाणी और भजनो द्वारा प्रसारित कर नैतिक धरातल को अनुप्राणित करने मे बडा योग दिया है । इनके कथनो मे आत्मज्ञान, तत्त्वदर्शन, आत्मा की अनुभूति, व्यावहारिकता आदि विषयो को बडी सरलता से समझाया गया है । ऐसे सन्तो मे गुरु गोरखनाथ बडे प्रसिद्ध रहे है । इसी प्रकार पाबूजी, मल्लीनाथजी, रामदेवजी, हडबूजी, गोगाजी, तेजाजी आदि है जिनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव इतना कारगर रहा है कि आज भी उन्हे लोक-देव की सज्ञा मे माना जाता है और विशेष रूप से कृषक व शिल्पकार्य के वर्गो मे उनका स्थान अग्रणी है । उन्होने कोई कृतियाँ नही छोडी, परन्तु उनकी वाणियाँ जनजीवन की अग बन गई है और मुहावरो के रूप मे लोक-कल्याण का साधन बनी हुई हैं ।

गोरखनाथ तथा नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव राजस्थान मे प्रचुरमात्रा मे देखा जाता है । जाभोजी (16वी सदी) तथा जसनाथ इसके प्रमाण हैं । इनकी वाणियो मे हिन्दू-धर्म की विचारधारा प्रवाहित हुई है और उन्होने वेदान्त के निरूपण और प्रतिपादन का प्रयास किया है । इनकी वाणियो मे योग-साधना और समयानुकूल आचरण के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भी बल दिया गया है । वाणी-द्वारा प्रचलित इस भाषा साहित्य का एक पक्ष ऐसा है जिसने अनेक को पथ भ्रष्ट होने से बचाया और सद्मार्गगामी बनाया ।

यह वाणी-परम्परा दादू मे विवेक और व्यावहारिक रूप मे प्रस्फुटित हुई । वेदान्त, निर्गुण ब्रह्म और समन्वय की चर्चा इनके कथनो मे भरपूर है । आत्मानुभूति, सिद्धान्त और अनुभव का तारतम्य इनकी वाणी मे इतना भरा है कि विश्व कल्याण की बात सहज मे हृदय गम्य होती है । भेद-भाव, आडम्बर, स्वार्थ, कायरता आदि का खण्डन जगह-जगह कर इन्होंने प्रेम-भाव और सौहार्द्र का वातावरण उपस्थित करने मे अपनी ओर से कोई कसर नही रखी । ऐसी वाणियो की सख्या 3000 के लगभग बताई जाती है जो स्वत इनकी सफलता का प्रमाण है ।[40]

दादू के प्रमुख शिष्यो मे रज्जब का नाम सर्वोपरि है । इन्होने अपनी वाणियों मे दादू के विचारो का समर्थन करते हुए प्रेम, भक्ति, ज्ञान, सद्मार्ग आदि पर अधिक बल दिया है । इनके रचे हुए दो ग्रन्थ—वाणी और सरबगी—बडे प्रसिद्ध है ।[41]

---

40 उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० 421-422 हिन्दी साहित्य, पृ० 144, माहेश्वरी—राजस्थानी साहित्य, पृ० 284

41 माहेश्वरी, राजस्थानी साहित्य, पृ० 287-288

राठौड कुलोत्पन्न तथा सिसोदिया कुल मे विवाहित मीरा (1555–1603 वि० 2) का नाम बडा प्रसिद्ध है। जन-भावनाओ का प्रतिनिधित्व तथा आत्मबोध का दर्पण प्रतिबिम्बित करने वाली भक्त मीरा आज भी अपने भजनो के द्वारा जीवित है। मीरा की रचनाओ मे पदावली, और नरसीजीरोमाहेरो बडे सरस और प्रेम रस से प्लावित है। उनकी भक्ति और उपासना विशुद्ध वैष्णव धर्म से प्रभावित थी। उनकी कृतियो मे जगह-जगह आत्मानुभूति का दिग्दर्शन स्पष्ट है। इनके पदो मे दृढता और शक्ति रस का समुचित सामजस्य दिखाई देता है। मीरा की काव्य रचना स्वत एक साहित्य है। मीरा के नाम से गुजराती, पजाबी और ब्रज भाषाओ मे अनेक पद प्रचलित है।[42]

राज परिवार मे जन्मा पृथ्वीराज राठौड (1606 वि०) बीकानेर नरेश राव कल्याणमल का द्वितीय पुत्र था। अकबर के दरबार का प्रतिष्ठित मनसबदार होते हुए भी वह स्वतन्त्रता का प्रेमी और कृष्ण का भक्त था। साहित्यकार होने के नाते उसने प्रतिष्ठा प्राप्त की और पीथल नाम से जाना गया। महाराणा को जो पत्र पृथ्वीराज ने लिखा उससे उनको अधिक ख्याति मिली। इसकी "वेलि क्रिसन रुकमणी री" राजस्थानी साहित्य मे श्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इसी तरह चारण कवि सायाजी भूला (1632–1703) ने अपनी कृतिया—नागदमण तथा रुकमणी हरण से प्रसिद्धी प्राप्त की। रामस्नेही सम्प्रदाय मे भी रामचरणजी, हरिरामजी दरयावजी आदि अच्छे कवि हो गये है। इसी तरह हमारे काल के मेवाड़ के महाराज चतुरसिहजी (वि० 1936–1986) बडे विद्या विलासी और भगवद् भक्त हो गये है। राजपरिवार के होते हुए इन्होने सुखेर गाँव मे झोंपडी मे रहकर जनोपयोगी साहित्य का निर्माण किया और आत्मकल्याण के लिए योगाभ्यास और चिन्तन में व्यस्त रहे। वे सस्कृत, हिन्दी व राजस्थानी भाषाओ के अच्छे मर्मज्ञ थे जो उनकी कृतियो मे स्पष्ट है। इन्होने मेवाडी भाषा मे योग सूत्र, भगवद्गीता, साख्य कारिका, महिम्नस्तोत्र, चन्द्रशेखराष्ट्क, हनुमान पचक आदि टीका के रूप मे प्रस्तुत कर जन-मानस की धार्मिक प्रवृत्ति को बढावा दिया। इनकी अन्य रचनाओ मे अलख पचीसी, अनुभव प्रकाश और चतुरप्रकाश इनकी प्रौढता, महत्ता तथा गूढ चिन्तन का परिचय देती है। इनकी रचनाओ मे एक मागलिक और पावन प्रभाव है। मेवाड़ी की रचनाओ मे महाराज का योगदान बेजोड़ है।[43]

उपर्युक्त विविध गद्य और पद्य, जो सस्कृत और राजस्थानी भाषा मे उपलब्ध होते है, राजस्थान के अक्षय भण्डार और यहां के ज्ञान की प्रौढता और महत्ता के परिचायक है। गूढ़ से गूढ चिन्तन तथा कठिन से कठिन विषयो को प्रवाहपूर्ण भाषा मे इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है कि वे साधारण स्तर के व्यक्तियो को भी हृदयगम हो सकें। वैसे तो यहा की युग युगान्तर के साहित्य सृजन को, विशेष रूप

42. जी. एन. शर्मा—सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ० 230-235.

43. मेनारिया—राजस्थानी साहित्य का इतिहास, पृ० 91-93, 103, 120 और 121

से संस्कृत साहित्य की प्रगति को, मौलिक तो नही कह सकते, परन्तु संस्कृत के अनेक ग्रन्थो के देखने मे प्रगट होता है कि लगभग 8वी शताब्दी से 18वी शताब्दी तक संस्कृत का अध्ययन और अध्यापन का स्तर सन्तोषजनक था। राजदरबार एवं समाज मे संस्कृत के प्रति अनुराग था। इस भाषा के विद्वानो ने इसे राजस्थान की बोलचाल की भाषा तो नही बनाया परन्तु वेद, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र आदि प्राचीन साहित्य के मूल तत्त्वो तथा प्राचीन परम्पराओ को सुरक्षित रखने का अवश्य ही स्तुत्य प्रयास किया। संस्कृति, साहित्य और दर्शन की विवेचना की पद्धति जो स्थानीय साहित्य मे मिलती है वह परम्परा संस्कृत साहित्य की ही देन है।

जहा तक स्थानीय भाषा एवं साहित्य का प्रश्न है, 10वी शताब्दी से हमारे काल तक राजस्थानी भाषा और साहित्य का सन्तोषजनक विकास हुआ। इस निधि मे मौलिकता और उपादेयता भी हे। इस दृष्टि से यदि मध्ययुगीन काल को राजस्थानी साहित्य का स्वर्ण युग कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। इस साहित्य का विकास करने का योगदान हर कौम के साहित्यकार को है जिसमे संत, महाराजा, चारण, भाट, जैन, वैष्णव आदि सम्मिलित हैं। इसी तरह इसका रसास्वादन हर तबके के व्यक्ति ने किया जिससे इसकी लोकप्रियता बढी। किसी भी उत्सव को ले या किसी साधारण परिवार के कार्यक्रम को लें तो वहा राजस्थानी काव्य धारा का प्रवाह किसी न किसी रूप मे अवश्य दृष्टिगोचर होगा।

राजस्थानी साहित्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसका विकास जनसमूह की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो से हुआ है। इसका सीधा सम्बन्ध शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति से है। यदि समाज के आदर्शों की रचना का इतिहास देखना चाहे तो वह लोक-साहित्य, लोक-गीतो और कवियो तथा लेखको की वाणी मे मिलेगा। यहा के समाज की वेश-भूषा, ज्ञान-विज्ञान, व्यवहार, आचार, विचार तथा धार्मिक भावनाओ का मूर्तरूप हमे जैन संतो की वाणियो मे या धर्म धुरीण आचार्यों के लेखो मे या अन्य साहित्य सेवियो की कृतियो मे मिलेगा। सूरजमल मिश्रण की लेखनी मे इतना बल था कि उसने सोये हुए समाज को जगाया और उसे राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा दी। राजस्थानी नारी भी इस दिशा मे सक्रिय रही है। आज भी मीरा के भजन लाखो महिलाओ और पुरुषो को नवीन उत्साह और भक्ति मे ओत-प्रोत करने मे समर्थ है। नारी का त्याग और बलिदान लेकर अनेक लेखको ने प्रेरणास्पद साहित्य की रचना की। रूठीराणी उमादे, पद्मनी आदि आदर्श नारियो के चरित्र आज भी प्रेरणा के स्रोत है। मीरा की भक्ति और भावो का स्वरूप उनके पदो मे मिलता है जो मृदुल अभिव्यक्ति, स्वानुभूति और आत्मज्ञान की अनूठी रचनाएँ है।

इस सम्पूर्ण विवेचन मे सभवत सैकडो लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार और उनकी कृतिया का समावेश स्थानाभाव मे हम नही कर पाये है, अतएव जिनका उल्लेख इस प्रकार मे किया गया है वे विषय के गांभीर्य की ओर मात्र संकेत करने के लिए है। अन्यथा उल्लिखित विभूतियो की तुलना मे अन्य और साहित्यकारो की पंक्ति लम्बी और महत्त्वपूर्ण है। अत इस साहित्य विकास के दृष्टान्तपरक वर्णन मे समग्र पुरातन परम्पराए, सांस्कृतिक रचनात्मक वैभव का विवेचन निहित है जो राजस्थान का सर्वोपरि गौरव है।

□□□

अध्याय 8

राजस्थान का स्थापत्य और संस्कृति

मानव संस्कृति के इतिहास मे स्थापत्य का अपना स्वतन्त्र स्थान है। चाहे वह रोम का हो या मिश्र का, यूनान का हो या तूरान का, भारतीय हो या चीनी, स्थापत्य एक ऐसी शृखला है जो शताब्दियो की बिखरी हुई कडियो को जोडकर देश और जाति की सच्ची सास्कृतिक झाँकी उपस्थित करता है। जहाँ लिखित ऐतिहासिक साधनो की उपलब्धि नही हो सकती, वहाँ स्थापत्य के अवशेष अज्ञातकाल के इतिवृत्त के साक्षी बनते हैं तथा विस्मृत युगो की याद दिलाने मे सहायक होते हैं। किसी भी देश की युगीन प्रगति का समुचित अध्ययन बिना स्थापत्य की विविध परतो तथा खण्डहरो के अध्ययन के नही हो सकता, क्योकि उनमे देश की वास्तविक आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। उन्ही के माध्यम से कला और जीवन का सामजस्य एक दिव्य प्रकाश के रूप मे प्रस्फुटित होता रहा है। जहाँ भारत की स्थिति का प्रश्न है वहाँ हम अनुभव करते हैं कि यहाँ धार्मिक चिन्तन, भाव, प्रमाण और प्रगति का समूचा चित्रण स्थापत्य के अन्तर्गत निहित रहा है। यहाँ कला ने निरन्तर राष्ट्रीय अनुभूतिया और जनजीवन के विशिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति की है और साथ ही साथ सौन्दर्य और माधुर्य के विरल स्रोतो को बहाकर जीवन और आत्मा को स्थायी तत्त्वो द्वारा सुखमय बनाया है। स्थापत्य के ये सभी सास्कृतिक तत्त्व विकसित तथा समृद्ध परिमाण मे राजस्थान मे पाये जाते हैं, क्योकि यहाँ स्थापत्य की ओर रुचि सभी युगो मे और जन समुदाय मे सतत बनी रही है। इस स्थापत्य की अभिव्यक्ति गाँवो, नगरो, मन्दिरो, राजभवनो, दुर्गों, जलाशयो, उद्यानो तथा समाधियो के निर्माण द्वारा प्रमाणित होती है।

बस्तियाँ और स्थापत्य

राजस्थान के स्थापत्य का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव इतिहास का युग। प्रमाणो से ज्ञात है कि यहाँ का आदि-निवासी भारत के आदि-निवासी की भाँति पूर्व-प्रस्तर युगीन मानव था। यह बर्बर था एव नदियो के किनारे, वृक्षो के नीचे और पहाडो की उपत्यकाओ तथा कन्दराओ मे रहकर जीवन व्यतीत करता था। सरस्वती, चम्बल, बनास, गम्भीरी, आहड तथा लूनी नदियो तथा अरावली की श्रेणियो के किनारों और गड्ढो मे जमी हुई परतें तथा उनके आस-पास के क्षेत्रो मे मिलने वाले पत्थरो के औजार इस बात को प्रमाणित करते है कि यहाँ

का आदिम मानव इन नदियों के तटों और अरावली पर्वत की उपत्यकाओं में कम से कम एक लाख वर्ष पूर्व रहता था।

कालान्तर में इस पूर्व-प्रस्तर कालीन मानव ने उत्तर-प्रस्तरकालीन युग में प्रवेश किया। इस समय तक वह भौंडे औजारों के बजाय पैने तथा चमकीले औजारों को बनाना सीख चुका था। मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग तथा चमड़े एवं वल्कल के वस्त्रों का उपयोग उसे सम्भवतः अब ज्ञात हो चुका था। इसी प्रकार घास-फूस की झोपड़ियों में रहने की विधि वह जान गया था, जिसे वह स्वयं बनाता था। सारांश यह है कि पूर्व-प्रस्तर युगीन मानव से उत्तर प्रस्तरयुगीन मानव में कुछ अन्तर आ गया। वह कन्दराओं के बजाय नदी तटों के खुले भागों पर घास-फूस, बांस, लकड़ी, पत्ते आदि की झोपड़ियाँ बनाकर प्रागैतिहासिक स्थापत्य का जन्मदाता बना और वही उस युग की संस्कृति का द्योतक है। आज भी राजस्थान के घने जंगली, रेतीले और बीहड़ पहाड़ी भागों में रहने वाले आदिवासियों के समुदाय ऐसे स्थापत्य का प्रयोग करते हैं।[1]

कालान्तर में प्रस्तर-युगीन मानव प्रस्तर धातु युग में प्रवेश करता है। स्थापत्य की धुंधली एवं अन्धकारपूर्ण अवस्था अब समाप्त होती है और राजस्थान की संस्कृति की कहानी एक मंजिल की ओर आगे बढ़ती है। हमें यहाँ के स्थापत्य का एक विशेष रूप देखने को मिलता है। गंगानगर जिले में कालीबंगा और सौंथी में पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाइयों में जो भग्नावशेष मिले हैं उनसे प्रमाणित है कि ऋग्वेद काल में कई नदियों पूर्व सरस्वती और दृषद्वती, जिन्हें आजकल घग्घर और छुद्‌ग कहते हैं, के कांठे पर जीवन लहरें मारता था। इन कांठों की उपजाऊ स्थिति अच्छी होने से यहां की सभ्यता सक्रिय थी तथा यहाँ की संस्कृति उच्चकोटि की थी। अनुमान है कि इस प्रान्त के कई रेतीले ढेरों में कई उन्नत-सभ्यता के केन्द्र ढके पड़े हैं। कुछ एक टेरों के खनन परीक्षणों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सदियों तक यह प्रान्त एक विशिष्ट सभ्यता को जीवित रखता रहा। कालान्तर में बाढ़ या सूखा पड़ने के कारण ये नदी-सभ्यता के केन्द्र विलुप्त हो गये या वीरान हो गये। इन ढेरों की खुदाई से प्रमाणित है कि यह समृद्ध सभ्यता के केन्द्र किसी विशेष शैली के अनुरूप बने थे जिनमें हड़प्पा और स्थानीय स्थापत्य की विशेषताओं का समुचित समावेश था। यहां की चौड़ी सड़कें, सार्वजनिक नालियां, दुर्ग का प्राकार, गोल कुयें, निश्चित अन्तर वाली नालियां, गलियां, छोटे-बड़े सटे हुए मकान, वेदियां आदि इस युग के प्राचीन स्थापत्य के साक्षी हैं। दीवारें कच्ची और मोटी सूर्यतपी ईंटों की होती थीं, सड़कें, विशेष प्रकार के गारे मिट्टी व ढेला से कूटी की जाती थीं। मकानों के द्वार छोटे होते थे और घरेलू पानी निकलने की व्यवस्था रहती थी।

---

1 पी० टी० [illegible], दास, स्टोरी आफ इन्डिया, एच० डी० सांकलिया—बिगिनिंग आफ सिविलि- [illegible] इन राजस्थान, [illegible], उदयपुर, 1962, पृ० 1-2

खुदाई से उपलब्ध सामग्रियों—मिट्टी के चिकने चित्रित वर्तन, सुन्दर रेखाचित्रों वाली मुहरें, खिलौने, चूड़ियाँ आदि ने प्रमाणित कर दिया है कि सरस्वती तथा दृषद्वती सभ्यता के नागरिक मोहनजोदड़ो तथा प्राचीन यूनानियों की भाँति कला के प्रति जागरूक थे और नागरिक स्थापत्य के प्रति पूर्ण रुचि रखते थे। ऐसे भी चिह्न मिले हैं जिनसे कृषि की उन्नत स्थिति दीख पड़ती है और लगता है कि कृषि से सम्बन्धित अन्य व्यवसाय भी यहाँ समृद्ध रहे होंगे। दुर्ग, आँगन, प्राकार, वेदी आदि से सांस्कृतिक सम्पन्नता के अच्छे प्रमाण यहाँ देखने को मिलते हैं।

सरस्वती सभ्यता की गोधूलि के बाद दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान की संस्कृति का प्रभात हुआ। यह संस्कृति भी ऐतिहासिक काल तक अनेक रूपों के साथ विकसित होती रही। आहड़, गिलूड आदि केन्द्र इस सभ्यता के केन्द्र रहे। यहाँ के मकान, छतें द्वार, बाँस की दीवारें, मोटे पत्थरों के आँगन तथा दीवारें उस युग के स्थापत्य पर पूरा प्रकाश डालते हैं। चित्रित भांड, नक्काशी के वर्तन, विविध आकार के खिलौने तथा प्याले, तश्तरियाँ इस बात के द्योतक हैं कि उस युग के मानव को रूप तथा आकृति का सूक्ष्म ज्ञान था। मकानों में खिड़कियाँ, द्वार, बरामदे, खुले चौक आवास की पूरी इकाई बनाते थे जो यहाँ की समृद्ध अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। अन्न पीसने के पत्थर, ताँबे की चद्दरें आदि आहड़ की कृषि तथा व्यवसाय प्रधान बस्ती की ओर संकेत करते हैं। ताँबे की कतिपय खानों के निकट होने से खनन कार्य में लगे हुए मानव का बोध होता है। आज भी इसका पुराना नाम ताम्रवती नगरी से जाना जाता है। आहड़ के धूल में दबे हुए सम्पूर्ण भाग की यदि पूरी खुदाई की जाय तो यहाँ के विशिष्ट स्थापत्य के पहलुओं पर और अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।[2]

इसी प्रकार पौराणिक सभ्यता के युग में राजस्थान के कई सांस्कृतिक केन्द्रों का बोध होता है जिनमें पुष्कर, मरुधन्व, जांगल, मत्स्य, शाल्व, मरुकासार आदि प्रमुख हैं। इनसे सम्बन्धित उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्बुद, पुष्करारण्य, वागड़ आदि भागों में जहाँ-जहाँ नगरों का विकास हुआ, वहाँ नगर के चारों ओर खाइयाँ तथा प्राकारों के निर्माण हुए तथा नगर में प्रासाद, भवन, वापिकायें तथा उद्यानों की व्यवस्था रखी गई। पहाड़ी तथा जंगल में बसने वाली बस्ती में घास-फूस, बाँस, खपरेल के मकान बने जिन्हें काँटेदार झाड़ियों से सुरक्षित रखा जाता था। इस प्रकार के स्थापत्य में अनुमान है कि उस समय तक नागरिक एवं ग्रामीण

---

2 डॉ० सांकलिया, बिगनिंग आफ सिविलिजेशन इन राजस्थान, सेकण्ड सेमिनार आन दी हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, पृ० 6-16, आर्कियोलोजिकल रिमेन्स, मोन्युमेन्ट्स एण्ड म्यूजियम, भा. 1, पृ० 18-19

स्थापत्य का स्वरूप विकसित हो चुका था और उसके सामंजस्य मे एक उन्नत सभ्यता और संस्कृति सामने आई है।[3]

मौर्य-काल से लेकर उत्तर गुप्तकालीन युग मे भारतीय स्थापत्य की भाँति राजस्थान मे स्थापत्य के एक विशेष रूप का विकास हुआ। इस काल की कला केवल राजकीय प्रश्रय की ही पात्र न थी वरन् उसे जन-प्रिय बनने का भी सौभाग्य प्राप्त था। बैराट नगर, जो जयपुर जिले मे है, अशोककालीन सभ्यता का एक अच्छा उदाहरण है। यहाँ के भग्नावशेषो मे स्तम्भ लेख और बौद्ध विहार के खण्डहर प्रमुख है। स्तम्भ लेख राजकीय कला के प्रतीक है तो बौद्ध-विहार के अवशेष जनता के भाव और विश्वास के। इस युग मे तथा आगे आने वाले युग मे राजस्थानी स्थापत्य मे जैन, बौद्ध और हिन्दू विचारो को प्रतिष्ठित स्थान मिला। मध्यमिका मे, जिसे आजकल नगरी कहते है, और जो चित्तौड से आठ मील उत्तर मे बेडच नदी पर स्थित है, इन विविध प्रवृत्तियो के अच्छे नमूने उपलब्ध है। इस नगरी के भग्नावशेष नदी के किनारे-किनारे धूल के ढेर के रूप मे दूर-दूर तक फैले हुए है। यत्र-तत्र ईंटे, मन्दिर के अवशेष तथा भवनो के अवशेषो के प्राकार दिखाई देते हैं जिससे स्पष्ट है कि यह नगरी तीसरी सदी ईसा पूर्व से छठी सदी ईस्वीकाल तक एक समृद्ध नगर था। वर्तमान नगरी से कुछ ही दूर आज भी विशाल प्रस्तर खण्ड प्राकार के रूप मे मिलते है जो तीसरी सदी ईसा पूर्व के स्थापत्य की विशालता और विलक्षणता प्रमाणित करते है। नगरी के दक्षिण की ओर एक नहर के अवशेष मिलते है जो नदी की बाढ से नगर को सुरक्षित रखने तथा कृषि के उपयोगार्थ बनाई गई थी। यहाँ से मिलने वाली ईटे, प्रस्तर खण्ड, प्राकार के लम्बे और ऊँचे पत्थर उस युग के स्थापत्य कौशल के अद्वितीय उदाहरण है तथा प्रमाणित करते है उस समय धार्मिक तथा सार्वजनिक भवनो की निर्माण-कला उच्च स्तर की थी, जो आगे आने वाले युग के लिए एक अद्वितीय देन थी।[4]

इसी तरह इस युग के उत्तर-पूर्वी तथा दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान, जयपुर तथा कोटा के आसपास के क्षेत्र वास्तुकला की दृष्टि से महत्त्व के है। उदाहरणार्थ, नान्दसा (225 ई०) रूंकाटनगर रंगमहल आदि अपने धर्म, कृषि, वाणिज्य, व्यापार तथा शिल्प की समृद्ध स्थिति के कारण अच्छी बस्ती के स्थान थे। पुरमण्डल, हाडौती, शेखावाटी और जांगल प्रदेश मे भी स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने देखने को मिलते है। परन्तु जब हम गुप्तकाल और गुप्तोत्तरकाल मे प्रवेश करते है तो

---

3 वाल्मिकी रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग 22, महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय 54, श्लो 7, महाभारत विराट पर्व, अध्याय 24-38, भागवत, अध्याय 47, ओझा, राजपूताने का इतिहास, जि 1, पृ० 94-98

4 आर्कियोलोजिकल सर्वे [illegible], 10 4, 1920।

राजस्थान के स्थापत्य मे एक शक्ति और दक्षता का सचार दिखाई देता है। मेनाल, अमझेरा, डबोक आदि कस्बो के भग्नावशेष परवर्ती शताब्दी के नगर निर्माण के अच्छे नमूने है। कुण्ड, वापिकाये, सडके, मन्दिर, नालियाँ आदि का प्रामाणिक सन्तुलन इन खण्डहरो मे मिलता है। इसी तरह कल्याणपुर का वीरान नगर हमे स्थापत्य के क्षेत्र मे नयी दिशा मे सोचने की ओर आकृष्ट करता है। यह नगर निकटवर्ती दो धाराओ वाली नदी के बीच मे बसा हुआ था जिसके किनारे-किनारे मन्दिर और बीच-बीच मे बस्ती, खेत आदि के खण्डहर दिखाई देते है। इस समूचे काल के सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक चेतना ने भवन निर्माण तथा नगर विकास योजनाओ को ईंटो तथा पत्थर के आकार और प्रकार मे आभारित किया। कल्याणपुर तथा बसी आदि नगरो से मिलने वाली ईंटो को देखकर हम आश्चर्य किये बिना नही रहते कि उस युग मे सस्कृति कितनी पल्लवित थी।[5]

जब हम सातवी शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी के स्थापत्य का पर्यवेक्षण करते हैं तो हम पाते हैं कि वह एक नये राजनीतिक परिस्थिति के अनुरूप ढल जाता है। इसी अवधि मे अर्बुदाचल प्रदेश मे परमार, मेवाड और वागड मे गुहिल, शाकम्भरी मे चौहान, ढूँढाड मे कच्छपघाट, जागल व मरु मे राठौड़, मत्स्य व राजगढ मे गुर्जर-प्रतिहार आदि राज्यो का उदय होता है। ये राजवश बल और शौर्य को प्रधानता देते थे और विस्तार की ओर अग्रसर थे। यही कारण है कि इस काल की वास्तुकला मे शक्ति, विकास तथा जातीय सगठन की भावना स्पष्ट झलकती है। उदाहरणार्थ नागदा, चीरवा, लोद्रवा, अर्थूणा, चाटसू आदि कस्बो को घाटियो, पहाडियो या जगल तथा रेगिस्तान से आच्छादित स्थानो मे बसाया गया और इनमे वे सभी साधन जुटाये गये जो युद्धकालीन स्थिति मे सुरक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते थे। इन कस्बो को राजकीय निवास का केन्द्र भी बनाया गया जिससे राजवशो को आसपास के भागो पर अपना अधिकार स्थापित करने मे कोई कठिनाई न हो। इन कस्बो मे राजकीय अधिकारियो के आवास की व्यवस्था तथा धर्मगुरुओ के रहने की व्यवस्था भी की गई थी। नागदा, जो गुहिलो की राजधानी थी, सफेद पत्थर से मढी हुई सड़को और नालियो से सुशोभित थी। वही सडक आज बाघेला तालाब मे छिपी हुई उस युग की दुहाई दे रही है।[6]

इस काल मे नगरो मे बस्तियाँ किस प्रकार विभाजित थी और उनकी योजना का सम्पूर्ण ढाँचा कैसा था उसका पूरा चित्रण करना तो बडा कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नगर निर्माण मे प्रयुक्त स्थापत्य का प्रमुख

---

5. एपिग्राफिया इण्डिका, भा-30, अक 2; अजमेर म्यूजियम रिपोर्ट, 1929, पृ० 1-2; मजूमदार व अल्टेकर, वाकटक गुप्ता एज, पृ. 25-26.

6 मेरा लेख, मॉडर्न रिव्यू, मई, 1946; भट्टिवश; प्रशस्ति (पाण्डुलिपि)· मण्डनेश्वर प्रशस्ति, वि सं. 1636 फाल्गुन शु. 7।

मराठा आदि। पहाड़ो और घने जगलो मे आदिवासियो की बस्तियाँ छोटी-छोटी टेकरियो पर दो-चार झोपड़ियो के रूप मे बसी मिलती हैं, जिनके चारो ओर कॉटे की बाड़ें लगी रहती हैं जिससे जगली जानवरो से सुरक्षा भी बनी रहे और एक परिवार दूसरे परिवार से अपनी विलगता भी बनाये रख सके। मेवात के ऐसे गाँवो का जिक्र जोहर ने अपनी पुस्तक "तजकिरात" मे किया है। रेगिस्तानी गाँवो को पानी की सुविधा को ध्यान मे रख कर बसाया जाता है। इसीलिए बीकानेर और जैसलमेर के गाँवो के आगे "सर" अर्थात् जलाशय का प्रयोग बहुधा पाया जाता है, जैसे बीकासर, जेतसर, उदामर आदि। गाँवो की वास्तुकला मे बड़े इकाई वाले मकान का मुख्य द्वार बिना छत का होता है या बड़े छप्पर के बरामदे से जुड़ा रहता है। बीच मे खुला आँगन एव पशुओ की शाल एव निवास गृह के कच्चे मकान होते हैं जिन्हें कवेलू या घास-फूस से छा दिया जाता है, साधारण स्थिति के ग्रामीण एक ही कच्चे मकान मे गुजर करते हैं जो अन्न सग्रह, रसोई घर और पशु बाँधने के काम आता है। ऐसे मकानो के द्वार छोटे रहते हैं जिनमे रोशनदान या खिड़कियो का प्रावधान नही होता। जन-जीवन के विकास के साथ राजस्थान मे ग्रामीण स्थापत्य की स्थिति बदल रही है और राज्य सरकार खुले, पक्के व हवादार मकानो के बनवाने की व्यवस्था जगह-जगह कर रही है। इसी तरह नगरो के स्थापत्य मे भी बड़ी द्रुत गति मे बदलाव आ रहा है। प्राचीन नगरो मे जो ग्रामीण और नागरिक स्थापत्य का सामजस्य था, वह विलीन प्राय होता जा रहा है और आधुनिक सस्कृति प्राचीनता के तत्त्वो को कम करती जा रही है।[12]

किलो का स्थापत्य

राजस्थान मे महाराष्ट्र की भाँति पद-पद पर किले मिलते हैं। यदि हम इस राज्य के एक भाग से दूसरे भाग मे पद यात्रा करें तो हमे लगभग 10 मील के बाद कोई-न-कोई किला अवश्य मिल जायेगा। चाहे राजा हो या सामन्त वह अपने किले को निधि के रूप मे समझता था। वे अपने निवास के लिए, सुरक्षा के लिए, सामग्री सग्रह के लिए, आक्रमण के समय अपनी प्रजा को सुरक्षित रखने के लिए, पशु-धन को बचाने के लिए और सम्पत्ति को छिपाने के लिए किले बनाते थे। प्राचीन काल के लेखको, मडन सूत्रधार एव सदाशिव ने किलो को राज्य का अनिवार्य अग बताया है। इसीलिए किलो की अधिक सख्या अपने-अपने अधिकार मे रखना एक महत्त्व की बात मानी जाती थी।[13]

राजस्थान मे किले के स्थापत्य के विकास का प्रथम सूत्र कालीबगा की

---

12 धारयारेख, वि स 1330, तबकाते नासिरी (मूल) पृ. 181, गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ, पृ 34-39, गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ. 541

खुदाई मे मिलता है। उत्तर और दक्षिणी धूल के ढेरो को खोदने से स्पष्ट है कि ये भाग सम्भवत किले के भाग रहे हैं। हाडौती, वागड, आमेट आदि भागो मे धूल से आच्छादित दीवारे मिली हैं, वे भी इस ओर सकेत करती हैं कि कुछ छोटी-छोटी बस्तियो को सुरक्षित रखने के लिए ऐसी दीवारो का निर्माण कराया गया हो। आज भी आदिवासी इलाको मे झोपडियो की सुरक्षा के लिए कॉटो की झाडियाँ बाहर की ओर बना दी जाती है जो प्राचीन कालीन सुरक्षा-दीवार के सरल रूप हैं। इस परम्परा को देखते हुए लगता है कि रेगिस्तानी भागो मे तथा पर्वतीय प्रान्तो मे प्राचीन मानव झाडियाँ लगाकर या खाइयाँ खोदकर सुरक्षा की व्यवस्था करता था।

इस अतीत काल मे आगे बढने पर जब हम मौर्य, गुप्त तथा परिवर्तित युग मे जाते है तो हमे कुछ किलो के स्वरूप के निश्चित आधार उपलब्ध होते हैं। पीर-सुल्तान और बडोपल मे, जो गगानगर जिले मे हैं, किलो के अवशेष दिखाई देते हैं जिनमे सुदृढ प्राचीर, इमारतें, द्वार और गोल बुर्जे अनुमानित की जाती हैं। चित्तौड़ के अन्तिम छोर वाले भाग मे सुदृढ दीवारो के खण्डहर सातवी शताब्दी के किले के स्थापत्य के साक्षी है।[14]

तेरहवी सदी से तो आगे के युग तक किले बनाने की परम्परा एक नया मोड लेती है। इस काल मे ऊँची-ऊँची पहाडियाँ जो ऊपर से चौडी हो और जिनमे खेती और सिंचाई के साधन हो, किले बनाने के उपयोग मे लाई जाने लगीं या यहाँ प्राचीन काल मे बने हुए किलो को आवश्यकतानुसार पुन निर्माण करा दिया गया। चित्तौड, आबू, कुम्भलगढ, माण्डलगढ आदि स्थानो के किले पुराने काल के थे, उनको फिर से मध्ययुगीन युद्ध शैली को ध्यान मे रखकर बना दिया गया। उदा-हरणार्थ, महाराणा कुम्भा ने चित्तौड किले की प्राचीर, द्वारो की शृखला तथा बुर्जो ने अधिक सुदृढ बनाया। कुम्भलगढ के किले को पहाडी शृखलाओ से घिरे हुए होने से आकार द्वारा अधिक सुरक्षित किया गया। किले के भीतर ऊँचे से ऊँचे भाग का प्रयोग राजप्रासाद के लिये तथा नीचे से नीचे भाग को जलाशयो के लिए और समतल भाग को खेती के लिए रखा गया। बची हुई भूमि का उपयोग मन्दिरो तथा मकानो के निर्माण मे किया गया। किले के चारो ओर दीवारें चौड़ी और बडे आकार की बनाई गई जिन पर कई घोडे एक साथ चल सकते थे। प्राकार की दीवार का ढाल इस तरह रखा गया कि उस पर सरलता से चढना कठिन था। कही-कही दीवारो के नीचे गहरे पहाडी गड्टे ऐसी स्थिति मे रखे गये कि हमलावर फौजो का दुर्ग मे घुसना कठिन हो। अचलगढ तथा जोधपुर के किले मे चौडा भाग न होने से पानी का प्रबन्ध कृत्रिम टकियो द्वारा किया गया। इसी तरह जब जालोर

---

14 गोत्ज, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ बीकानेर, पृ 67-70

व नागौर के किले तुर्कों व मुगलो के अधीन हो गये तो उनमे गोली चलाने और तोपखाने मे आक्रमण को रोकने की विधि का प्रयोग किया गया। बीकानेर का किला समतल मैदान मे होने से ऊँची प्राचीर बनाई गई और उसके चारो ओर खाई का प्रबन्ध रखा गया। युद्ध काल मे किले के फाटको को बन्द करके लडने के लिये यह किला बडे उपयोग का था।[15]

राजप्रासाद और स्थापत्य

स्थापत्य का विशिष्ट रूप राजप्रासाद है। चन्द्रगुप्त मौर्य के राजप्रासादो की मेगेस्थनीज ने भूरि-भूरि प्रशसा की है जो भारतीय सस्कृति का एक विशिष्ट अग था। वैसे प्राचीन काल के राजप्रासादो के खण्डहर पूरे उपलब्ध नही होते परन्तु यह तो निश्चित है कि जब से राजस्थान मे राजपूतो के राज्य स्थापित होने लगे तब से राजभवनो का भी निर्माण होने लगा। मेनाल, नागदा, आमेर आदि स्थानो मे पूर्व मध्यकालीन काल के राजभवनो के अवशेष देखने को मिलते हैं जिनमे छोटे-छोटे कमरे, छोटे-छोटे दरवाजे तथा खिडकियो का अभाव प्रमुख रूप से होता रहा है। दो किनारो के कमरो को बरामदे से जोडा जाना भी राजभवन के स्थापत्य की प्रमुख विशेषता रही है।

मण्डन शिल्पी ने राजभवनो को बनाने का स्थान या तो नगर के बीच मे या नगर के एक कोने के ऊँचे स्थान पर ठीक माना है। उसने राजभवनो के ढाँचे मे दुर्गों की भाँति प्राकार तथा कुओ का होना आवश्यक माना है। उसने अन्त पुर और पुरुष कक्षो को सकडे ढके हुए भागो से जोडना अच्छा समझा है। उसने महलो मे दरबार लगाने, आम जनता एव दरबारियो से मन्त्रणा करने के कक्षो पर बल दिया है। राजभवन के अन्तर्गत रसोई घर, शस्त्रागार, धान्यभडार, मन्दिर, राजकुमारो के कक्षो को मान्यता दी है जो भारतीय शास्त्रीय पद्धति के अनुरूप है। वैसे राजभवन साधारण गृहस्थ के मकानो का वृहद् रूप मात्र है, जिसमे सादगी की मात्रा अधिक देखी गई है। नीची छतें, छोटे-छोटे आवास, पतली गेलेरियाँ, छोटे-छोटे दालान इन राजभवनो की विशेषता रही है। महाराणा कुभा जैसे शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ने जिसने कई विशाल दुर्गों का निर्माण करवाया था, अपने लिए कुम्भलगढ़ मे सादे मकान अपने रहने के लिए बनवाए जो साधारण व्यक्ति के मकान से अधिक विशेषता नहीं रखते है।[16]

परन्तु जब राजपूतो का सम्बन्ध मुगलो से जुडा तथा उनमे आदान-प्रदान का क्रम प्रारम्भ हुआ तो इन राजभवनो को भव्य, रोचक तथा क्रमबद्ध बनाने की

---

15 गोपीनाथ शर्मा सोशल लाइफ, पृ 69-72, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ 542-43

16 राजवल्लभ, सर्ग 4, श्लो 8, सर्ग 5, श्लो 36-38, सर्ग 9, श्लो 18-23, नैणसी की ख्यात, भा 2, उदयपुर आदि ग्रन्थ, हकीकत बही 1821-54

दुर्ग जोधपुर
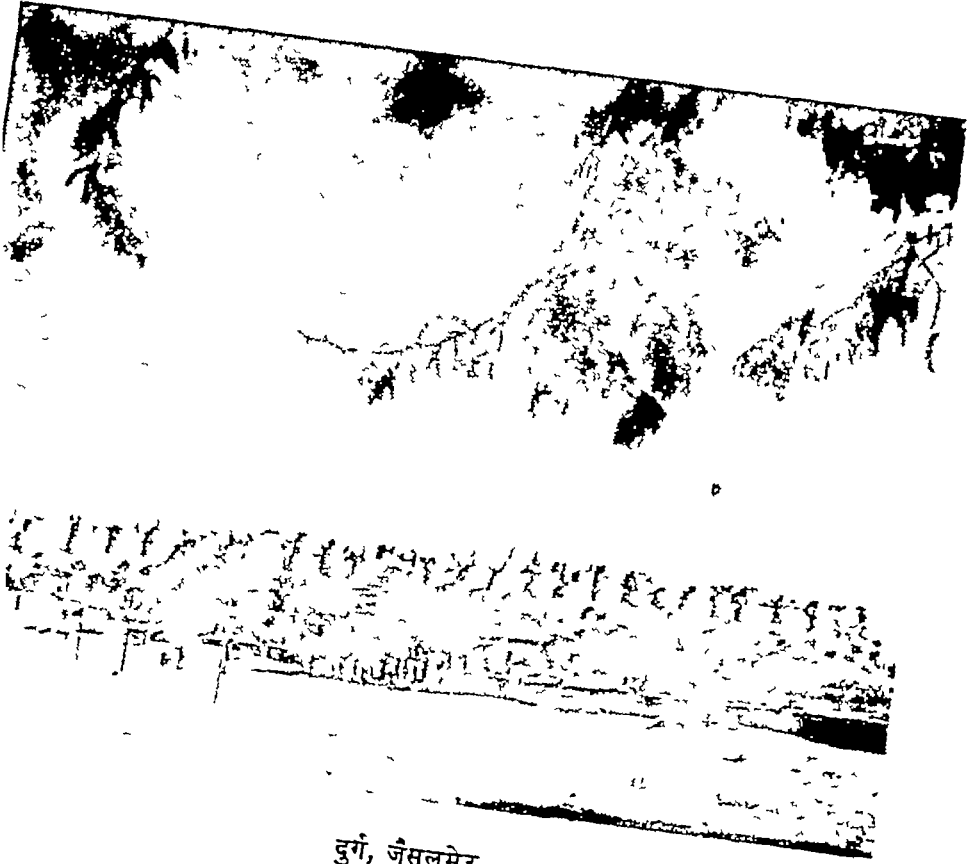
दुर्ग, जैसलमेर
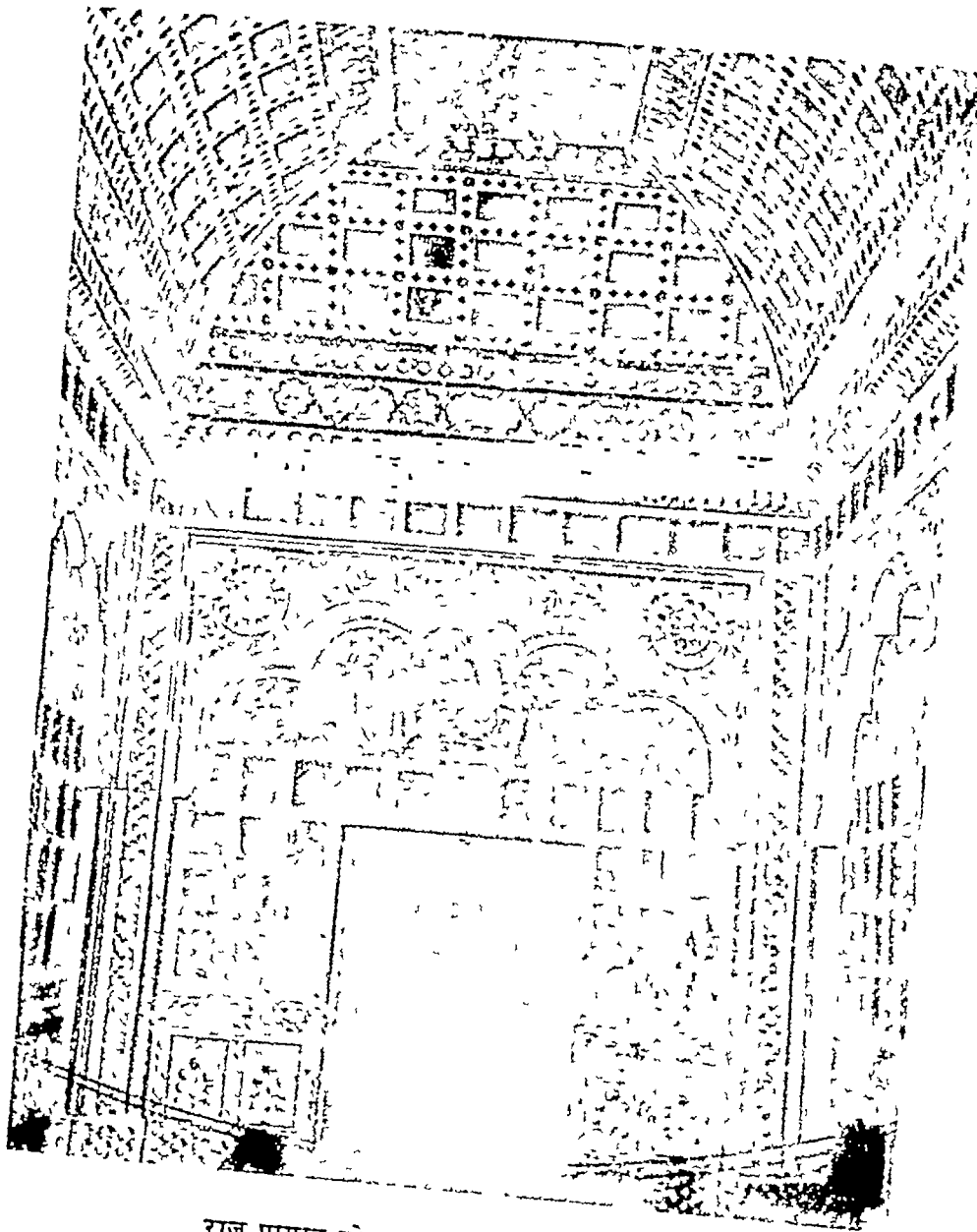
राज प्रासाद जोधपुर का एक द्वार और छत

दुर्ग, बीकानेर प्रवेश द्वार व महल
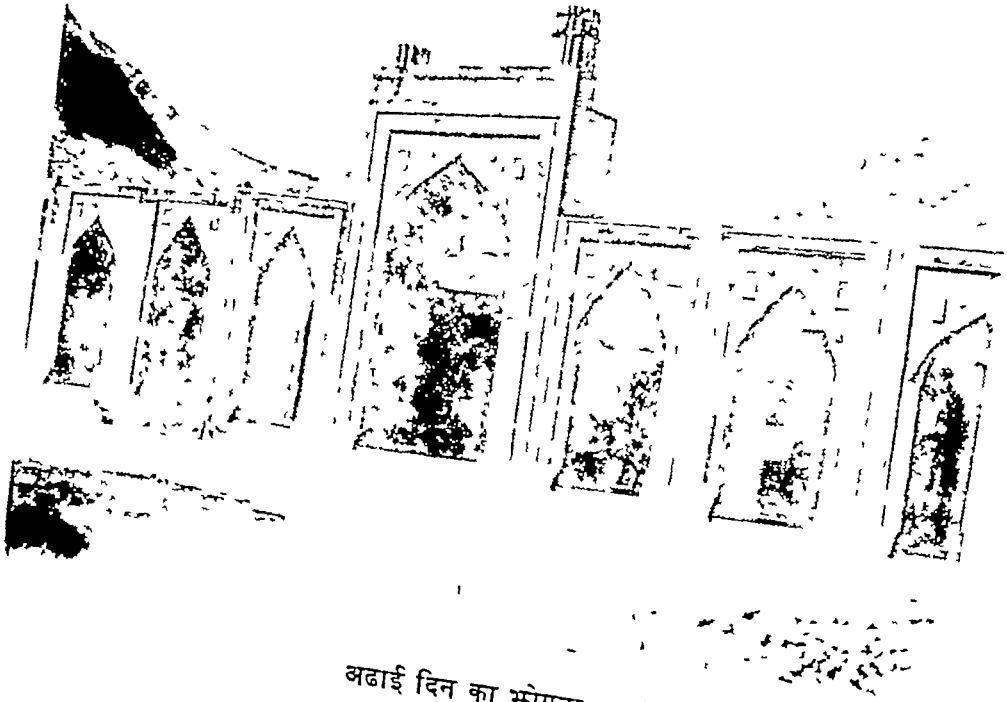
अढाई दिन का झोपडा, अजमेर

जैसलमेर की हवेली की उत्कीर्ण कला
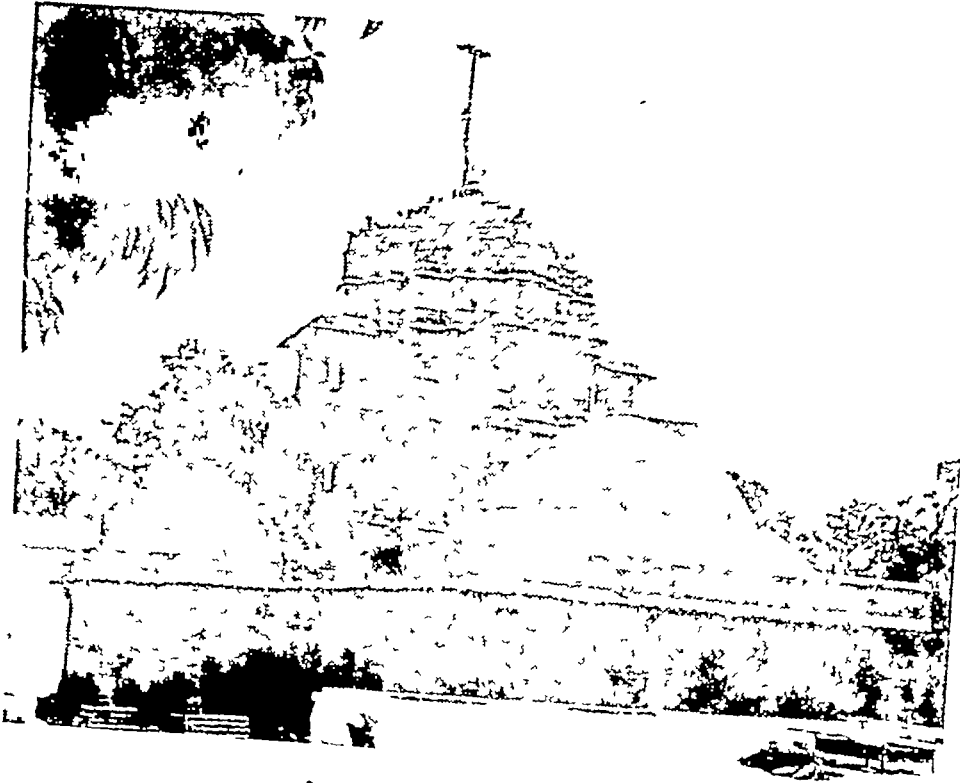
देलवाड़ा का जैन मन्दिर, आबू
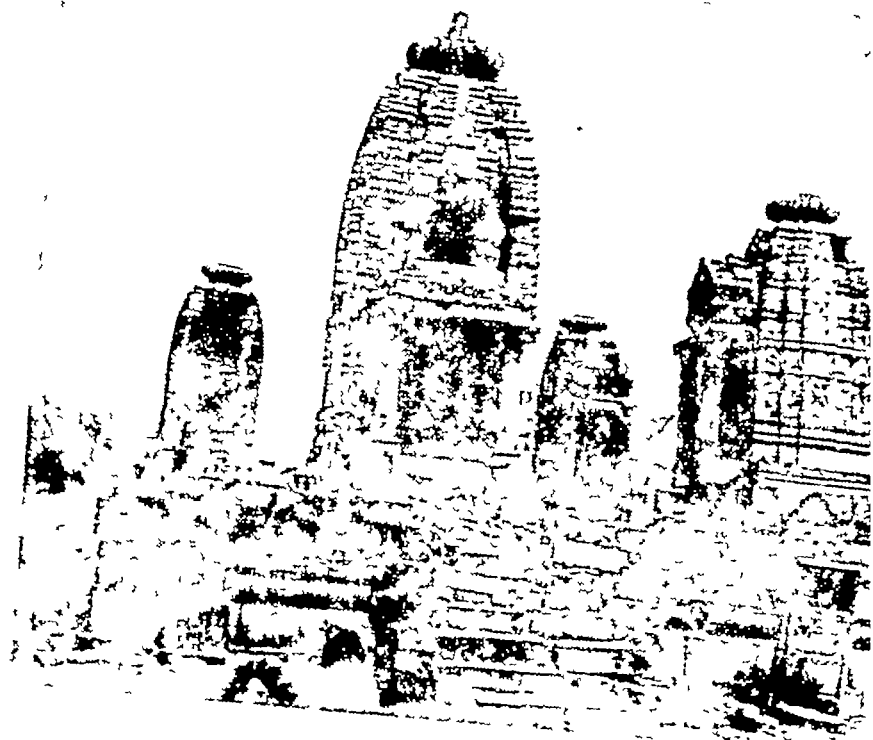
ओसिया के एक मन्दिर का ध्वस्त भाग

प्रक्रिया आरम्भ हुई। इनमे फव्वारे, छोटे बाग, पतले खम्भे, दीवारों पर वेल बूँटे के काम, सगमरमर का प्रयोग आदि का समावेश हो गया। उदयपुर के अमरसिंह के महल, जगनिवास, जगमन्दिर, जोधपुर के फूल महल, आमेर व जयपुर के दीवाने-खास व दीवाने आम, बीकानेर के रगमहल, कर्णमहल, शीशमहल, अनूपमहल आदि मे राजपूत तथा मुगल पद्धति का समुचित समन्वय है। बूँदी, कोटा तथा जैसलमेर के महलो मे मुगल शैली क्रमश· बलवती दिखाई देती है। कारण यह है कि ज्यो-ज्यो राजपूत सरदार मुगलो के दरबार में अधिकाधिक जाने लगे त्यो-त्यो कलात्मक विचारो का आदान-प्रदान भी होने लगा तथा उनमे मुगल शान के अनुरूप अपने राज्य मे व्यवस्था लाने की भी रुचि बढने लगी। मुगलो के पतन के पश्चात् तो मुगल-आश्रित कई कलाकारो के परिवार राजस्थान मे आकर राजपूत दरबार के आश्रित बन गये। यहाँ तक कि सामन्तो तथा समृद्ध परिवारो के भवनो मे भी यह समन्वय की प्रक्रिया बढती गई। राजभवनो का निर्माण समन्वय परक हो गया। आज महलो पर पारिवारिक स्थापत्य का स्वरूप समन्वय के माध्यम से ही परखा जा सकता है।[17]

मन्दिरों का निर्माण और स्थापत्य

स्थापत्य कला का प्रवाह न केवल नगर निर्माण, भवन एव दुर्ग-निर्माण तक ही सीमित रहा वरन् कला की गति और कला की शक्ति के अनुरूप उसका प्रवेश मन्दिरो के निर्माण द्वारा भी अभिव्यक्त हुआ। भारत मे मानसिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के साथ कला की प्रगति भी होती रही जिससे युग का रूप स्थापत्य के ढाँचे मे ढलता चला गया। राजस्थान के कलाकार जो आदिम जाति की वेदिया बनाते थे उनकी सन्तति मन्दिरो के निर्माण की ओर लगी और उन्होने अपनी कला के नैपुण्य से कलाकृतियो मे नवजीवन का सचार किया। सबसे प्राचीनतम मन्दिरो के निर्माण का वर्णन पुराणो मे मिलता है जिनमे पुष्करारण्य तथा अर्बुदाचल के देवालय मुख्य है। इनके सम्बन्ध मे दिये गये उल्लेखो से स्पष्ट है कि उस काल का मन्दिरो का स्थापत्य भावना और कलात्मक उपकरणो की सफल सृष्टि था।

मौर्य काल से लेकर उत्तर-गुप्तकालीन युग तक भावना और कलात्मक प्रवृत्ति ने शक्ति, सौन्दर्य और आराधना की अभिव्यक्ति द्वारा मन्दिरो के स्थापत्य को अनुपम आदर्श के रूप मे प्रस्तुत किया। इस युग के प्रारम्भिक काल के वैदिक वास्तुकला के प्रतीक, जो धर्म से सम्बन्धित हैं, अधिक उपलब्ध नहीं होते, परन्तु कुछ एक जो विद्यमान हैं वे कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। ऐसे अवशेषो मे नगरी के मैदान मे पत्थरो के खण्डों का एक वृहत् स्तम्भ है जिसकी ऊँचाई 36 फुट और नीचे मे चौडाई 15 फुट है। अकबर ने अपने 1567 ई० के चित्तौड के आक्रमण के समय

17. ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, अध्याय—राजप्रासाद।

राजस्थान के प्रमुख मंदिर व कला
पाकिस्तान
पंजाब
उत्तर प्रदेश
सिंध
गुजरात
मध्य प्रदेश

इस स्तम्भ को मध्यमिका की नारायण वाटिका से हटाकर इस मैदानी भाग मे लगाया था जहाँ उसकी फौजो का पडाव था । इस स्तम्भ का प्रयोग खीमे मे रोशनी के प्रबन्ध के लिए किया गया था । इस पर जलाई जाने वाली रोशनी सैनिको के 'शिविर' मे प्रकाश करने का काम करती थी । यह स्तम्भ अपने प्रारम्भिक स्थान मे, सम्भवत , पूजा या यज्ञ वेदी का काम देता रहा हो । इसके चारो ओर के शिला प्राकार के विशाल प्रस्तर खण्ड आज भी तीसरी सदी ई०पू० की धर्माश्रित वास्तुकला की विलक्षणता को प्रमाणित कर रहे हैं । जिस प्रकार नगरी मे वैष्णव धर्म सम्बन्धी अवशेष मिलते हैं उसी प्रकार यहाँ जैन तथा बोद्ध धर्म के पुरातन अवशेष भी मिलते हैं । इनके आकार और प्रकार से स्पष्ट है कि ये अवशेष किसी धर्मस्थान से सम्बन्धित थे जिनमे जैन और बौद्ध धर्म की विचार पद्धति और सास्कृतिक तत्त्वों को समर्थन मिलता है । इनके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि कला केवल कला के लिए ही नही थी वरन् उसका सम्बन्ध धार्मिक जीवन से भी था । बौद्ध-स्तूप, जिसका एक खण्ड मैंने उदयपुर के इतिहास विभाग की गेलेरी मे सुरक्षित किया है, उस सदी के कलात्मक एव सास्कृतिक लक्षणो को तथा बुद्ध की स्मृति को स्थायित्व देने का प्रयास का अच्छा उदाहरण है ।[18]

मध्यमिका (नगरी) तीसरी शताब्दी ई० पू० से 5–6 शताब्दी ई० तक एक समृद्ध नगर रहा । इस अवधि मे वहा विविध धर्म सम्बन्धी मन्दिरो का निर्माण हुआ । इन मन्दिरो के अवशेप, देवी, देवता, यक्ष, यक्षिणी, पीठिका, कलश, स्तम्भ, दहेलिका, आदि के रूप मे चारो ओर बिखरे या मकानों के साथ जुडे हुए मिलते हैं । यहाँ से लाए गए ये अवशेष चित्तौड के निर्माण के लिए भी काम मे लाये गये, जैसा चित्तौड के मन्दिरो तथा भवनो मे यत्र-तत्र लगाई गई उभरी हुई मूर्तियो से स्पष्ट है । नगरी की खुदाई मे मिलने वाली ईंटें धार्मिक और सार्वजनिक भवनो की निर्माण की परम्परा की ओर सकेत करती हैं । इन सभी वस्तुओ को देखने से यह प्रतीत होता है कि नगरी मे धार्मिक व सामाजिक सस्थाओ तथा भवनो के निर्माण द्वारा स्वाभाविक कला की अभिव्यक्ति एक लम्बे समय तक होती रही और यह धर्म प्रधान कला जनता के नैतिक स्तर को ऊपर उठाती रही ।[19]

इसी कला के अन्तर्गत जब भारतीय इतिहास का चरण शुग तथा कुशल युग मे प्रवेश करता है तो राजस्थान के मन्दिरो के स्थापत्य मे एक नई गति दीख पडती है । मालव, यौधेय, अर्जुनायन आदि गणराज्यो मे बनने वाले मन्दिरो मे एक सोम्य और समृद्ध कला की परम्परा परिलक्षित होती है । नान्दसा का यूपलेख (225 ई०) तथा बडवा गाँव का यूपलेख (239 ई०) तत्कालीन तक्षण कला तथा

---

18. आर्कियोलोजिकल सर्वे जि. 4. 1920; स्मिथ, अकबर, पृ. 86-87; ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 54-56.
19 जे. एन एस. आई पृ 127, प्लेट 1920; मार्ग, राजस्थान स्कल्पचर्स पृ. 25.

धार्मिक भावनाओ को व्यक्त करते हैं। उस युग की स्थापत्य कला में जनता के विनय और आराधना की भावना झलकती है।[20]

इस युग के अनन्तर जब हम गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तरकाल मे प्रवेश करते हैं तो हम पाते हैं कि राजस्थान की स्थापत्यकला सूक्ष्मता तथा दक्षता की चरमसीमा को भी पार करती है। इस युग की कला की विशेषता यह है कि उसके द्वारा चित्रण, मूर्तितक्षण और मन्दिरो के निर्माण की शैली मे एक समन्वय स्थापित होता है जिससे स्थापत्य को एक नव चेतना मिलती है। इस काल मे बने हुए मन्दिर, जैसे छोटी सादडी का भ्रमरमाता का मन्दिर, परम्परा के अध्ययन के अच्छे साधन हैं। वे विशालता तथा प्रसारिता की दृष्टि से सास्कृतिक विजय के उज्ज्वल प्रमाण हैं। मानव के धार्मिक विकास और सरक्षण मे शिल्पी ने, दार्शनिक एव कलाकार की हैसियत से, इस युग के स्तर को ऊपर उठाने में बडा योग दिया है।[21]

जब हम परवर्ती शताब्दी में प्रवेश करते हैं तो मेनाल, डबोक आदि स्थानो के मन्दिर, कुड तथा धार्मिक स्थान लोकोत्तर आनन्द, दया और प्रेम के भाव के द्योतक दीख पडते हैं। इस समूचे काल के सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक चेतना ने मन्दिरो के द्वारा देवालय निर्माण योजना को अपने स्पर्श से आभारित सा कर दिया। इन मन्दिरो और उनके आसपास के वातावरण तथा साज-सज्जा को देखने से उस युग के सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास का क्रमिक इतिहास स्पष्ट होता है। इनको देखने से सौन्दर्य और शाति की आभा प्रस्फुटित होने लगती है।[22]

इस परवर्ती शताब्दी के मन्दिरो मे चित्तौड का सूर्य मन्दिर एव बाडौली के शिव मन्दिर बडे महत्त्व के हैं। इनको देखने से लगता है कि निर्माण-कर्त्ता कलाकारों ने पारलौकिक जगत का स्पष्ट रूप हमारे सामने रख दिया है। विविध स्तरो मे उभारी गई रेखाएँ तथा यक्षी मूर्तियाँ मुद्रा तथा शारीरिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा है।[23]

जब हम 7वीं शताब्दी से लेकर 13वी शताब्दी के स्थापत्य का पर्यवेक्षण करते हैं तो हम पाते हैं कि राजस्थान एक नए राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करता है। मालव, अवन्ति और अर्बुदाचल प्रदेशो मे परमार, मेवाड तथा वागड मे गुहिल शाकम्भरी मे चौहान, ढूंढाड मे कछवाह, जागल और मरु मे राठौड, मत्स्यराजोगढ मे गुर्जर-प्रतिहार आदि राजवशो का प्राबल्य बढा जिन्होने परम्परागत स्थापत्य को

20 स्मि के का ई म्यू जि-1, पृ 161, 171-173, मजूमदार अल्टेकर, वाकटक गुप्ता एज, स-2, पृ 25-46

21 प्रो रि पे सर्कल, 1915-16, पृ. 56; ए इ. ना 34, भक 2, पृ 53-58। जी. एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास भाग 1, पृ 546-547.

22 अजमेर म्यू रिपोर्ट 1929, पृ 1-2, ए-इ भा 35, अंक 2

23 नागं, राजस्थानी स्थापत्य।

एक नया मोड दिया। जो शक्ति, विकास और संगठन की भावना राज्यो के सस्थापन मे आवश्यक थी वह भावना स्थापत्य मे भी प्रस्फुटित हुई। इस काल मे बनने वाले मन्दिरो मे, चाहे वे विष्णु के हो अथवा शिव के, शक्ति के हो या सूर्य के, बल और शौर्य का उन्मीलन प्रगाढ रूप से दिखाई देता है। एकलिंगजी के अरण्यवासिनी के मन्दिर, कुण्डाग्राम के कैटभ रिपु के मन्दिर, चित्तौड के सूर्यमन्दिर, आम्बानेरी के हर्षमाता के मन्दिर मे भागवत एकत्व और शौर्य का मिलन स्पष्ट है। ये ही तत्त्व आहड़ के आदिवराह मन्दिर और जगत् के अम्बिका के मन्दिर मे उभरते हैं।[24]

इन मन्दिरो के स्थापत्य मे जहाँ शौय और बल दिखाई देता है वहाँ धर्म का वातावरण भी प्रचुर मात्रा मे है। जैन धर्म मे सम्बन्धित मन्दिरो मे आबू का विमलशाह का मन्दिर (1032 ई०) और वस्तुपाल और तेजपाल द्वारा निर्मित 1231 ई० के मन्दिर बड़े महत्त्व के हैं। चित्तौड़ के कीर्ति स्तम्भ, जिसे बघेरवशीय शाह जीजा ने बनवाया था, कला का भव्य प्रतीक है। इन प्रतीको और मन्दिरो मे आचार प्रतिपादक दृश्य और परम्परागत शिल्प सिद्धान्तो मे वैविध्य और वैचित्र्य दिखाई देता है। तोरण द्वारो, गुम्बजो तथा मण्डपो आदि विविध स्तरो मे ऐसा मेल दिखाई देता है कि समूचा प्रासाद भावसूचक शिल्प का उत्कृष्ट नमूना है। इसी प्रकार अथूर्णा, ओसियाँ, बाडौली, नागदा आदि स्थानो के मन्दिरो के शिल्प मे आत्मोत्थान के भाव स्पष्ट प्रतिबिम्बित होते हैं। यहाँ के कलाकारो ने अपनी बारीक छैनी से भारतीय जीवन और सास्कृतिक चिन्तन के अमर तत्त्वो का उन्मीलन कर जनजीवन पर अद्भुत प्रकाश डाला है। यहाँ परमात्मा की आराधना, साधुओ की वाणी का श्रवण, अर्चन आदि गभीरतम भावो को अंकित कर कलाकार ने उच्चतम कल्पना का स्तर निर्धारित करने मे सफल प्रयत्न का प्रदर्शन किया है। इन मन्दिरो मे जहाँ हम अनेक दलीय कमल की पखुड़ियाँ पाते हैं, वहाँ हम यह अनुभव करते है कि हममे सहसा भगवान के साक्षात्कार के भाव जाग्रत हो रहे हैं।[25]

ऊपर जहाँ दुर्गो मे स्थापत्य को 14वी से 16वी शताब्दी मे सुरक्षा के अर्थ मे मोडा गया था वही प्रवाह मन्दिरो के स्थापत्य मे भी आया। इस युग मे बनने वाले मन्दिरो को बाहर से किले के रूप मे बनाया जाने लगा। कुम्भलगढ के नीलकण्ठ के मन्दिर, बाणमाता के मन्दिर, एकलिंगजी के मन्दिर, कुम्भश्यामा तथा रणकपुर के मन्दिर आदि के चारो ओर बनी हुई दीवारें, बुर्जें, द्वार आदि मे दुर्ग-स्थापत्य का अवलम्बन लिया गया है।[26]

वैसे चित्तौड का कीर्तिस्तम्भ मन्दिर की सज्ञा मे तो नही आता, परन्तु मूर्तिकला के विचार से वह मन्दिरो के स्थापत्य के निकट है। शास्त्रीय अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा तत्कालीन सस्कृति तथा कला का कैसे अध्ययन किया

24. ए. इ. भा-12, पृ 16-23, वियाना ओरियन्टल जनरल, भाग 2
25. कनिंगघम, आ. सर्वे रि. भा 23.
26. राजपूताना म्यू. रि 1921; जी एन. शर्मा; राजस्थान का इतिहास, पृ. 548-50.

जाना चाहिये हमे मूक भाव से कीर्तिस्तम्भ वतलाता है। इसके बनाने में नीचे से चौडाई तथा ऊपर से भी चौडाई ली गई है जो शिल्पकला की एक अनोखी सन्तुलन प्रणाली है।[27]

कुभा के समय के पश्चात् राजस्थान मे मन्दिरो के स्थापत्य मे एक नया मोड आया। यहाँ के राजा महाराजाओ ने दिल्ली शासको से प्रभावित प्रणाली को अपनाना आरम्भ किया जिससे क्रमश हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य मे सामजस्य की स्थिति बल पकडने लगी। इसका एक विशिष्ट रूप अकबर के काल मे बन चुका था। उदाहरणार्थ, बीकानेर के प्रत्येक मन्दिर में कमल, तोते, मोर आदि के अकन हिन्दू पद्धति ने हैं तो सितारे, कुजे तथा मिहराव वाले द्वारो की बनावट में लाहोर शैली की ओर झुकाव दिखाई देता है। बीकानेर दुर्ग मे देवी के मन्दिर के खम्भे मुगल-राजपूत शैली के हैं। बीकानेर के लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के शिखर तथा मण्डप आदि भागो मे जो नुकीलापन है वह मेहरावी शैली सा है। मण्डपो का अधिक खुले हुए रूप मे बनना भी नई पद्धति तथा स्थानीय पद्धति का सम्मिश्रण मात्र है। जोधपुर के घनश्यामजी के मन्दिर तथा आमेर के जगत्शिरोमणिजी के मन्दिर मे अलकरण और मडप का ढाँचा मुगल शैली से प्रभावित है। यहाँ तक कि विहार से आने वाले वैष्णव आचार्यों के मठ या मन्दिर जो कोटा, नाथद्वारा, उदयपुर आदि मे हैं वे भी मुगली प्रभाव से वचित न रह सके। यह तथ्य दालानो, गलेरियो अथवा तिवारियो की शैली से स्पष्ट झलकता है।[28]

□□□

---

27 हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ–253, टाड, एनाल्स, भा. 2, पृ 761

28 गोइट्ज, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर बीकानेर स्टेट, पृ 58-641 जी एन शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 550-551.

अध्याय 9

मूर्ति-कला और संस्कृति

स्थापत्य जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है मूर्ति-कला से सम्बद्ध है। मन्दिर हो या महल, स्तम्भ हो या खम्भा सभी मे कुछ न कुछ तराशा जाता है जिसमे पल्लव, फूल, वृक्षावली, नर-नारी, देव-देवी, यक्ष-यक्षिणी आदि सम्मिलित हैं। ये वास्तु के सौन्दर्यवर्धक प्रकरण हैं। शिल्प में जो भावना और कल्पना है वही मूर्ति-कला है जो शास्त्रबद्ध प्रक्रियाओ द्वारा मनुष्य जीवन समझने का माध्यम बनता है। यही कला देश की सांस्कृतिक प्रगति का प्रतिबिम्ब बनती है। मनुष्य या देश ने धार्मिक चिन्तन या भावनाओ के प्रवाह मे कितनी उन्नति की उसका नाप मूर्ति-कला है।

राजस्थान के कृतित्व की प्रतिभा मूर्ति-कला मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इससे सम्बन्धी सामग्री यहाँ अनन्त और अद्‌भुत है। इसका इतिहास आज से प्राय. 5,000 वर्ष पूर्व कालीबगा और उसके अनन्तर बनास, बेडच आदि नदियो की घाटियो की सभ्यता से प्रारम्भ होता है। इस सभ्यता के क्षेत्रों से मुहरें तथा माणु और खिलौने जो उत्खनन से प्रकाश मे आये हैं, इस बात के प्रमाण है कि इन क्षेत्रो के निवासी मूर्ति-कला से परिचित थे और उसमें रुचि रखते थे। उनके कलशो पर जानवरो तथा फूल पत्तो के चित्र इस बात के प्रमाण हैं कि उन्हे रूप और आकृति का सूक्ष्म बोध था। यही ज्ञान चित्र और मूर्ति बनाने का साधन बना।[1]

राजस्थान मे मूर्ति-कला की व्यवस्थित प्रगति मौर्य और मौर्योत्तर काल मे उभरती है। रेड के उत्खनन से प्राप्त कतिपय मुद्राएँ तथा मृण-मूर्तियाँ इस बात की साक्षी है कि मूर्ति-कला, शैली के विचार से आकृति और अभिराम को अभिव्यक्ति मे दक्षता प्राप्त कर चुकी थी। मातृदेवी की मूर्तियो के कमर और कधे के आवरण तथा गले के हारो तथा कानो के आभूषणो मे मौर्यकालीन कला की शक्ति, गति और गुरुता झलकती है। इसी तरह शिवपार्वती की नृत्य-मुद्रा और उनकी वेश-भूषा तथा मिट्टी के खिलौनो मे कला की सूक्ष्मता मे एक अद्‌भुत दक्षता प्रकट होती

---

1 थापर, कालीबगा, विकास, 1979, पृ. 196–202 साकलिया, एक्सकेवेशन एट आहड़, पृ. 13; 18-25.

है। इन मृण्मयी मूर्तियो के भावो और अगो की गतिविधि का विन्यास बड़ा रमणीय प्रतीत होता है। इनके देखने से ऐसा लगता है कि केवल उच्चकोटि के कलाकार ही मूर्तिया नही बनाते थे अपितु बालक और साधारण लोग भी मूर्तियो का निर्माण करते थे और इसमें रुचि रखते थे। बैराट् के उत्खनन से प्राप्त तक्षण सामग्री मे भी बारीकी और कौशल के लक्षण सर्वोपरि हैं। इस कला की श्रेणी जन-कला से अधिक जुडी हुई थी क्योंकि वह साधारण जनता की आवश्यकता, उसकी भावना और विश्वास से अनुप्राणित थी।[2]

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे इस जन-कला ने अद्‌भुत प्रगति की। जिस प्रकार भारतीय कला का प्रवाह, भारहुत, साची, अमरावती एव गाधार मे दिखाई देता है। उस प्रवाह से राजस्थान भी प्रभावित हुआ। इस दौर मे शुग कालीन संस्कृति ने धार्मिक प्रभाव और जन विश्वास के सयोग से मूर्ति-कला को नया मोड दिया। बुद्ध, महावीर, वासुदेव, सकर्षण और वसुन्धरा देवी तथा जीव-जन्तु और फूल, पत्ते मन्दिरों और स्तूपो की सजावट के विषय बन गये। मध्यमिका, जो चित्तौड से 8 मील की दूरी पर है, इस कला के पोषण का स्थान बना। यहाँ के उत्कीर्ण बौद्ध स्तूप तथा नारायण वाटिका की वैष्णव प्रतिमाएँ उस युग की कला और धार्मिक जीवन का सन्देश देती हैं। कई जैन मन्दिरो के अवशेष आज चित्तौड के स्थापत्य का भाग बने हुए हैं। इसी प्रकार रगमहल (बीकानेर के पास) से प्राप्त पशु और वल्लरी जगत् की आकृतियाँ तथा नर-नारी के स्वरूप जो विविध परिधानो और आभूषणो से अलकृत हैं तथा जिनके घुंघराले बाल और तनी हुई मूछें हैं सजीवता और स्वाभाविकता के अच्छे उदाहरण हैं। इनको देखने से लगता है कि वन-सम्पदा और जन-जीवन का कितना सयोग उस काल के कलाकार ने इन मूर्तियो मे समन्वित कर दिया था। जानवरो की भी अनेक आकृतियाँ है जिनमे सजीवता और स्वाभाविकता उभारी गई है। इस काल की बनी हुई बुद्ध, महावीर शकर और वासुदेव की मूर्तियाँ जो मृण्मयी और पत्थरों की हैं तत्कालीन जन-विश्वास की द्योतक है। वे इस बात के प्रमाण भी है कि राजस्थान मे धार्मिक सहिष्णुता जन-जीवन का एक विशिष्ट अग थी।[3]

ज्यो ही हम गुप्त एव उससे आगे के युग मे प्रवेश करते हैं तो राजस्थानी कला मे एक नया दृष्टिकोण और चेतना का प्रादुर्भाव होता है। इस कला के पीठो मे रगमहल, नगरपुर, बैराट, रेढ, कल्याणपुर, डूगरपुर आदि प्रमुख हैं। यहा शिव, विष्णु, देवी आदि की मूर्तियाँ निर्मित हुई। तोरण द्वारो को भी बनाया जाने लगा।

---

2 [illegible] पुरी, एक्सकेवेशन एट रेढ, पृ 20-30, 45-48

3 [illegible], पृ 10-11, [illegible]-रगमहल, पृ 104, 146, 157 गोएट्ज ओर [illegible], पृ 24-25
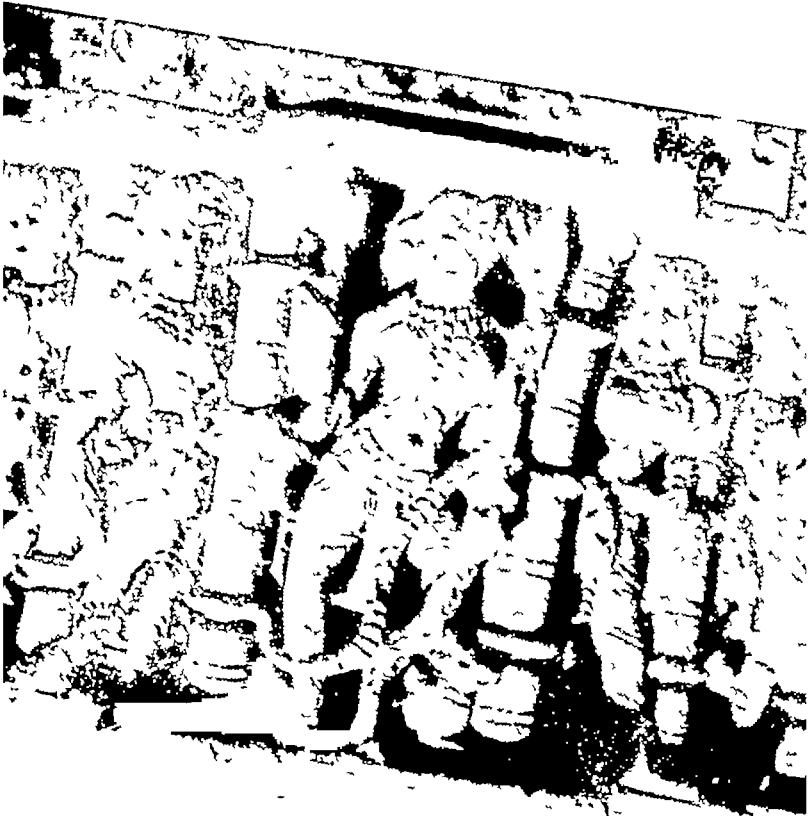
किराडू की मूर्तिकला

आबानेरी गांव जो जयपुर जिले में है चांद बावडी तथा नवमी शताब्दी के हर्षमाता मन्दिर की मूर्तियो के अवशेषो के लिए बडा महत्त्वपूर्ण है। इन मूर्तियो मे नागराज एव दम्पति की मूर्तियां बडी रोचक है। दोनो मे प्रेम लालसा तथा उसमे प्रेम चितवन से पत्नी द्वारा आनाकानी की भावना का उत्कीर्णन उल्लेखनीय है। इसी तरह अर्धनारीश्वर एव नृत्य करती हुए मात्रिकाएँ गम्भीर और भव्यता प्रदर्शित करती हैं। अद्रू के शिव मन्दिर के अवशेपो मे खम्भो की तराशी तथा पार्वती की मूर्ति सुन्दर, भावपूर्ण और सजीव है। यहां के अवशेपो को देखने से लगता है कि मन्दिर के निर्माण मे भव्यता और अकन मे बारीकी को प्रधानता दी गई थी। यहां की कला अपनी सानी नही रखती।[5]

आबू पर्वत पर चार हजार फुट की ऊँचाई पर देलवाडा नामक ग्राम के निकट बने दो जैन मन्दिर भारतीय कला-जगत् की एक नवीन लोकोत्तर चेतना के उदाहरण हैं। इनमे से एक विमलशाह का 1032 ई० मे बनवाया हुआ और दूसरा तेजपाल का 1232 ई० का है। ये दोनो ही आशिखरात सगमरमर के है। राय कृष्णदास[6] ने इनकी कला के प्रसग में ठीक ही कहा है कि "यद्यपि इनके अलकरणो मे अत्यधिकता के साथ-साथ यह दोष भी है कि अलकरण और मूर्तियां बिलकुल एकसी है, अर्थात् वही वही अलकरण और वही वही रूप घडी घटी दुहराया गया है, फिर भी इनमे ऐसी विलक्षण जालियां, पुतलियां, बेलबूटे और नक्काशियां बनाई गई हैं कि देखने वाला दग रह जाता है। मन्दिरो मे एक इच स्थान खाली नही छोडा गया है। सगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है, मानो किसी कुशल सुनार ने रेती से रेत-रेत कर आभूषण बनाए हो, या यो कहिए कि बुनी हुई जालियां और झालरे पथरा गई है। यहां की छतो की सुन्दरता का कहना ही क्या! इनमे बनी हुई नृत्य की भावभगीवाली पुतलियो और सगीत मडलियो के सिवाय बीच मे सगमरमर का एक झाड भी लटक रहा है जिसकी एक-एक पत्ती मे बारीक कटाव है। यहां पहुँच जाने पर ऐसा मालूम होता है कि स्वप्न के अद्भुत लोक मे आ गए। आज दिन तक आगरे के ताज की शोभा के इतने गुण गाए जाते हैं किन्तु यदि इन दोनो मन्दिरो की ओर थोडा भी ध्यान दिया जाता तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इनकी सुन्दरता ताज से कहीं अधिक है।"

चम्बल नदी के घाटे बाडोली का शिव मन्दिर है जिसकी पट्टी मे युगल प्रेमियो का अपन प्रेम और उल्लास के अद्वितीय नमूने है। नारियो के भोले मुख इस प्रकार तराशे गये है कि उन पर आंख हटाए नही हटती। खम्भो की उत्कीर्णकला अजोड है। नारियो के अलकरण और उनका शारीरिक ढांचा सुन्दरता मे जकडे हुए

5 कला-राजस्थानी स्मारिका, पृ 28-32

6 राय कृष्णदास— भारतीय मूर्तिकला, पृ 133-134

है। चन्द्रावती नदी के ऊपर चन्द्रावती मन्दिरो का समूह है जिसकी छतो की नक्काशी और नारी का सुन्दर अकन अन्यत्र नही मिलता। इसी प्रकार जोधपुर के अन्तर्गत किराड के मन्दिरो की मूर्तियाँ जिनमे नर्तृका, वशीधर कृष्ण और यौवनोन्मत्त नारी अपने समय की कला के अच्छे नमूने है। ये मन्दिर वाहर और भीतर वडे अलकृत हैं। प्राय पौराणिक देव और देवता और पौराणिक कथाएँ इन पर अकित है जिनमे शेषशायी विष्णु तथा अमृतमथन की पट्टियाँ वडी रोचक हैं। यहाँ एक मातृममता की बडी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। माता अपने शिशु को प्यार करने मे मानो अपने हृदय को निकाल कर धर देती हुई अकित की गई है। इसके ग्रामीण आभूषण व हाव भाव स्थानीय सभ्यता को समझने मे वडे उपादेय हैं।[7]

नागदा जो उदयपुर से 15 मील उत्तर मे है सास-वहू मन्दिर की तक्षण कला के लिए वडा प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण मन्दिर तोरणद्वार के वीच से वडा सुन्दर लगता है। इसमे खम्भो व छत मे तथा परिक्रमा के चारो ओर लगी हुई पट्टियो के दृश्य, जालियाँ, पुतलियाँ, वेलवूटे और नक्काशियो को देखकर दर्शक दग रह जाता है। हाथी घोडे के तथा योद्धाओ के आक्रमणार्थ प्रस्थान की पट्टियो मे शौर्य और गति का अच्छा सम्मिश्रण है। इहलोक और परलोक सम्वन्धी पट्टी आध्यात्मिक चिंतन का तो यक्षि की पुतली सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का अनुपम नमूना है।[8]

जोधपुर जिले मे ओसियाँ नामक स्थान मे वारह वडे-वडे मन्दिर है जिनमे भीतर और वाहर विविध प्रकार की मूर्तियो तथा वेलवूटो का अकन है, जो रेगिस्तानी कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ के तक्षण मे गुप्तकाल की कला के गुण और दोष है और ये स्थानीय कला की विशेषता से भरपूर हैं। कुछ मन्दिर इतने अधिक अलकृत होते हुए भी देखने मे निरर्थक नही लगते। एक मन्दिर मे आमीर कन्या की मूर्ति हल के कपडे के साथ बिना आभूपण के ऐसी उत्कीर्ण की गई है कि चेहरे से सुरम्यता और भोलापन सरलता से टपकते है। इसकी वल खाती हुई देह मे स्वाभाविकता सहज मे पहिचानी जा सकती है। एक मन्दिर मे त्रिविक्रम की मूर्ति जो पृथ्वी और राहु को दवाती हुई बनाई गई है गति और शौर्य के अकन का अच्छा नमूना है। एक मन्दिर की वेदिका पर अकित नारी वृक्ष के नीचे अगड़ाई ले रही है जो अपनी क्षीण कटि और पीन स्तनो से देवताओ को भी वशीभूत करने मे समर्थ है।[9]

अर्थूणा नगर जो ग्यारहवी एव वारहवी शताव्दी मे वागड प्रान्त के परमार राजाओ की राजधानी था अपने युग की मूर्तिकला का अच्छा केन्द्र रहा है। यहाँ के

---

7 मार्ग—राजस्थानी स्कल्पचर्स, पृ. 35-50,
8. वही, पृ. 52-53.
9. मार्ग—राजस्थानी स्कल्पचस, पृ 56-57.

की नर्तकाओ का त्रिभग और चरण की मुद्रा को कलाकार ने बडी सुन्दरता से उत्कीर्ण किया है जो स्वाभाविकता लिए हुए है ।[15]

इस मध्यकालीन मूर्तिकला और विशेषत नारी अकन, रतिमग्न युगल, विषय चयन, तथा राजपूत-मूर्तिकला के सम्बन्ध मे राधाकमल मुकर्जी[16] की समालोचना के उद्धरणो मे मूर्तिकला के सांस्कृतिक पहलुओ पर अच्छा प्रकाश पडता है । वे लिखते हैं—

"नारी-सौन्दर्य के प्रति मानव की शाश्वत प्रसन्नता को अभिव्यक्ति देने वाले मध्ययुगीन मूर्तिकारो को नारी को अनेकानेक उत्तेजक मुद्रा मे अकित करने मे रस मिलता था ।

भारतीय भूमि की मूर्तियो मे स्वाभाविकता से उत्पन्न और तान्त्रिक पौराणिकता द्वारा विकसित नारी का भारतीय कला मे वही स्थान है जो यूरोपीय कला मे वीनस और प्राइमावीरा का । उत्तेजक सौन्दर्य से दीप्त ये देव-नारियाँ अनेक भाव-भगिमाओ मे प्रदर्शित हैं । अपने ही सौन्दर्य में लीन वे अपने मे ही डूबी तथा ससार से परे है । ध्यान देने की बात है कि अन्तराभिमुखता को व्यक्त करने के उद्देश्य से अक्सर आंखो की पुतलियाँ बनाई ही नही गई । प्रत्येक आले, प्रत्येक स्तम्भ तथा मदिर की सभी दीवारो पर ये स्वर्गिक सुन्दरियाँ अकित हैं । आखिर यह सुरसुन्दरी अथवा नायिका अज्ञात मानवीय आत्मा के अतिरिक्त और क्या है जो अपनी प्रवृत्ति एव गति मे ईश्वर के समान है ।"

"दूसरे, प्रत्येक मन्दिर मे और विशेषत शैव मन्दिरो मे हमे रतिमग्न युगल मिलते हैं, जिन्हे अद्‌भुत शुद्धता, कोमलता और मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता के साथ तराशा गया है । इसका कारण है तान्त्रिक साधन माला, जो उच्चतर व आदर्श अनुभूतियो तथा इन्द्रियगत व सवेगात्मक जीवन के अन्तर को इस प्रकार पाटती हैं कि वह पश्चिमी देशवासियो को कुछ विचित्र मालूम पड सकता है । विश्व कला के इतिहास मे कही पर भी असासारिकता तथा इन्द्रिय सुख, अमूर्त तथा सौन्दर्य का ऐसा सयोग प्राप्त नही है जैसा मध्ययुगीन कला के तराशे हुए युगलो मे है । इस सयोग का रहस्य है तान्त्रिक कल्पना एव धर्म द्वारा उपलब्ध इन्द्रियो का रूपान्तर तथा जीवन के प्रति पूर्ण विकसित एव गम्भीर जागरूकता, मिथुन वास्तव मे आध्यात्मिक सत्य, द्वैतता मे एकता, अस्ति और नास्ति (जो प्रकृति और पुरुष मे नर और नारी की विरोधी शक्तियो को व्यक्त करते हैं) की अविभाज्यता के प्रतीक हैं ।"

तीसरे, बुर्जो को छोडकर मन्दिर के सभी भागो पर सेना की टुकडियो, प्रदर्शनों त्योहारो, खेल-कूद और युद्ध, नृत्य तथा ऐश्वर्यशाली दरबारी जीवन के

---

15 जी एन शर्मा—मेवाड एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ 197-198, जी एन शर्मा—ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान पृ 30-41

16 राधाकमल मुकर्जी—भारत की संस्कृति और कला, पृ 272-275

लौकिक दृश्यो का अकन है। दृश्य इस युग की शान-शौकत और जोश के प्रमाण हैं, जब युद्ध एक स्वाभाविक बात थी तथा शाति का अर्थ था—युद्ध की जोरदार तैयारी।"

"अन्तिम विशेपता यह थी कि मध्ययुगीन मन्दिरो मे शिव नटराज की ताडवनृत्य की मुद्रा मे कुछ सुन्दरतम मूर्तियां हैं। मृत्यु और जीवन, दु ख और सुख, शाति और युद्ध के अविनाशी चक्र का निरीक्षण स्वय शिव नटराज करते है, जिनके ताडवनृत्य का एक-एक पद सचालन प्रत्येक क्षण मे और प्रत्येक युग मे होने वाली गति और अगति, सृजन और सहार के अनन्त क्रम का एक-एक मनका है। मध्ययुगीन विष्णु कथा और कला में सर्पराज पर विजय प्राप्त करने की प्रसन्नता मे नृत्यलीन कालीय कृष्ण का चित्र भी है। यह भी मध्ययुगीन मन्दिर वास्तु की सुपरिचित विपयवस्तु है।"

"राजपूत सस्कृति मे उपस्थित जीवन और नृत्य सुख और दु ख की पारस्परिक प्रक्रिया की सगत अभिव्यक्ति शिव, काली, अथवा चामुंडा, कृष्ण और गणेश की इन "कास्मिक" नृत्य मूर्तियों मे हुई है। शिव नटराज की असीम अतिमानवीय सुख और सौन्दर्य से परिपूरित मूर्ति विश्वव्यापी लय और आध्यात्मिक कल्पना तथा प्रकृति और मानव-जीवन के उल्लास की प्रतीक है, तथा वंशीवादन करते हुए नृत्यलीन कृष्ण की मानवीय सुन्दरता तथा सुकुमारता से परिपूर्ण मूर्ति मे भी उसी "कास्मिक" गति की अभिव्यक्ति है। ये दोनो "मोटिफ" जीवन के प्रति दो विरोधी दृष्टिकोणो—कोमल और कठोर, वीरतापूर्ण और निर्दय के प्रतीक हैं। इन्ही विरोधी दृष्टिकोणो का विचित्र समावेश राजपूतो के व्यवहार मे था। अनुशासन के अवयवो—आध्यात्मिक शाति तथा सैनिक उत्साह के पारस्परिक विरोध के फलस्वरूप ही प्रेम और क्रोध, सहृदयता और निर्दयता जैसे राजपूत समाज के पूरक तत्वो का निर्माण हुआ है।"

"पुरुषार्थी और वीर राजपूत जाति ने दुर्भाग्य और विपत्ति का सामना असीम श्रम, धैर्य और निष्ठा के साथ किया। राजपूतो के ये गुण उस युग के वास्तुक और शिल्पिक वाहुल्य मे अभिव्यक्त हैं और प्रतीक रूप मे उपस्थित हैं। वास्तव मे, उस युग की वास्तुकला एव मूर्तिकला का आधार ही तत्कालीन अशान्त सवेगात्मक जीवन था। सभी जगह वास्तुक एवं शिल्पिक निरूपण मे वाहुल्य ही सौंदर्य है और प्राचुर्य ही शृगार।"

17वी शताब्दी के पश्चात् भारतीय मूर्तिकला का एक प्रकार से अन्त ही समझना चाहिये। यो तो अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे मूर्तियां बहुत सी गढी गई, पर उनमे कला का चमत्कार नही के बराबर है। इनमे न तो कोई नवीनता है और न ये किसी प्रकार की कलाकार की प्रतिमा का ही परिचय देती हैं। यहाँ मूर्तिकला का ह्रास उच्चतोत्तर बढता ही जा रहा है। पाश्चात्य जगत् के

तकनीक से तथा नवयुग के जीवन के पक्ष से अब जो मूर्तियाँ आज बन रही है भद्दी, ठिगनी और प्राचीन परम्परा के विपरीत हैं। ऐसा लगता है कि पाश्चात्य ढग की मूर्तिकला के अनुकरण पर तो अपने यहाँ की इस कला का पुनरुद्धार असम्भव है, क्योकि दोनो के सिद्धान्तो मे आमूल अन्तर है। हाँ, अलबत्ता चित्रकला और मूर्तिकला मे जो पुनरुत्थान की लहर चली है उससे इस कला के पुन सस्थापित होने की आशा है। इस दिशा मे जयपुर के मूर्तिकार शास्त्रीय पद्धति से राम, कृष्ण, विष्णु, पार्वती, हनुमान आदि देवताओ की मूर्तियो का निर्माण करते हैं। ये मूर्तियाँ देश और विदेशो के मन्दिरो मे प्रतिष्ठित भी होती है। साथ ही यहाँ का कलाकार मतो तथा देश के नेताओ की कृतियो को भी बनाने मे सिद्धहस्त है। कभी-कभी नवीन धारा और परम्परा के सम्मिश्रण से जयपुर के कलाकार जो मूर्तियाँ बनाते है उनमे रोमाचक गति, सौंदर्य, सम्मोहक ध्वनि और माधुर्य भी ऐसे समावेशित होते हैं कि मूर्ति एक अद्भुत कृति बन जाती है।

ओसिया मे हरिहर मन्दिर

तकनीक से तथा नवयुग के जीवन के पक्ष से अब जो मूर्तियाँ आज बन रही है भद्दी, ठिगनी और प्राचीन परम्परा के विपरीत हैं। ऐसा लगता है कि पाश्चात्य ढग की मूर्तिकला के अनुकरण पर तो अपने यहाँ की इस कला का पुनरुद्धार असम्भव है, क्योकि दोनो के सिद्धान्तो मे आमूल अन्तर है। हाँ, अलबत्ता चित्रकला और मूर्तिकला मे जो पुनरुत्थान की लहर चली है उससे इस कला के पुन सस्थापित होने की आशा है। इस दिशा मे जयपुर के मूर्तिकार शास्त्रीय पद्धति से राम, कृष्ण, विष्णु, पार्वती, हनुमान आदि देवताओ की मूर्तियो का निर्माण करते हैं। ये मूर्तियाँ देश और विदेशो के मन्दिरो में प्रतिष्ठित भी होती है। साथ ही यहाँ का कलाकार मतो तथा देश के नेताओ की कृतियो को भी बनाने मे सिद्धहस्त है। कभी-कभी नवीन धारा और परम्परा के सम्मिश्रण से जयपुर के कलाकार जो मूर्तियाँ बनाते है उनमे रोमाचक गति, सौंदर्य, सम्मोहक ध्वनि और माधुर्य भी ऐसे समावेशित होते हैं कि मूर्ति एक अद्भुत कृति बन जाती है।

ओसिया मे हरिहर मन्दिर

गोमियां के सूर्य मन्दिर के पीछे लगी महिषासुर मर्दिनी की मूर्ति

घोडा-गाडी की गति, जैसलमेर

किराडू के मन्दिर की मूर्तियां

अध्याय 10

चित्रकला और राजस्थान

चित्रण की प्रवृत्ति मानव मे प्राचीनकाल से चली आ रही है। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिए उसने संस्कृति के जिन अंगो का विकास किया था उनमे चित्रकला भी एक थी। यही कारण है कि गुहा-गृही मानव ने भी मानव व वन्य पशु सम्बन्धी चित्रों को बनाया और अपनी अमूर्त भावनाओ को मूर्त रूप प्रदान किया।

भारतीय चित्रकला का प्राधान्य अनेक विद्वानो ने माना है और विश्व मे उसकी एक विशिष्ट मान्यता है। परन्तु खेद का विषय है कि भारतीय चित्रकला में राजस्थान की चित्रकला का क्या स्थान है इस पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। कुछ वर्षों पूर्व श्री कुमार स्वामी[1] ने अवश्य हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि राजस्थान मे भी चित्रकला का एक सम्पन्न स्वरूप है, परन्तु जिस स्तर तक राजस्थान की चित्रकला विकसित हुई उसका समुचित चित्रण करने मे उक्त विद्वान असमर्थ रहे। कुछ एक चित्रो के नमूनो के आधार पर उक्त विद्वान तथा ब्राउन[2] आदि लेखको ने यह धारणा बनाई कि राजस्थानी शैली राजपूत शैली है और नाथद्वारा शैली[3] के चित्र उदयपुर शैली के हैं। इनका यह फल हुआ कि राजस्थान शैली का स्वतन्त्र महत्त्व स्वीकार न किया जा सका। फिर भी अधिक समय तक यह स्थिति नही रही। अधिकारी विद्वानो की गवेषणा से राजस्थानी शैली के चित्र प्रचुर संख्या मे अनेक स्थानों से उपलब्ध होने लगे जिससे क्रमशः यह सिद्ध होता चला गया कि राजस्थानी शैली के अन्तर्गत अनेक शैलियो का समन्वय किया जा सकता है। उत्तरोत्तर एक शैली के बाद दूसरी शैली प्रकाश मे आने लगी और आज उन शैलियो को मेवाड, मारवाड़, बूंदी, किशनगढ, जयपुर अलवर, बीकानेर, कोटा नाथद्वारा आदि

---

1 कुमार स्वामी—राजपूत पेन्टिंग।

2 ब्राउन—इन्डियन पेन्टिंग पृ० 51

श्री एन सी मेहता अपनी पुस्तक स्टडीज इन इन्डियन पेन्टिंग पृ० 5 मे [illegible] करते हैं।

3 [illegible] बड़ौदा [illegible] म्यूजियम भाग 1 पृ 51।

शैलिया के नाम से सम्बोधित किया जाता है। हाल ही मे कुंवर संग्रामसिंह[4] जी को अपने संग्रह मे कुछ ऐसे चित्रो को स्थान देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, कि जिन्हे वे उणियारा शैली[5] और अजमेर शैली[6] कहते है। लेखक को भी इनही दिनो मे कुछ ऐसे चित्र तथा ग्रन्थो को देखने का अवसर मिला है जिन्हे डूंगरपुर[7] और देवगढ[8] की उपशैलियां कहा जा सकता है। यह ठीक है कि ये शैलियाँ उस भाग की शैलियो के रूपान्तर है, परन्तु अध्ययन की दृष्टि से उनका लाक्षणिक वर्गीकरण करना आवश्यक तथा युक्ति संगत दिखाई देता है। इस वर्गीकरण का सबसे बडा लाभ यह है कि हम राजस्थानी शैली का अध्ययन वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा कर सकते है और उसका एक स्वतन्त्र स्वरूप निर्धारित कर सकते है। यही मनन और वर्गीकरण हमे इस तथ्य पर भी पहुँचाता है कि राजस्थानी चित्रकला मे विशेष महत्त्व है।

यह तो निर्विवाद है कि राजस्थान मे कलात्मक प्रवृत्ति विशिष्ट रूप से प्रचलित थी और उसका सम्बन्ध भारतीय कला से घनिष्ठ था। जब हमारे देश मे अनेक राजनीतिक उथल-पुथल होने लगी तो भौगोलिक कारण से राजस्थान इन परिवर्तनो से अधिक समय बचा रहा, जिसके फलस्वरूप यहा की कला अधिक समय तक मौलिक बनी रही। इस कला को अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रखने मे विशेष सहायता मिली। दुर्भाग्य वश हमारे सामने इस मौलिक स्वरूप के चित्र नही है, फिर भी प्राचीन काल के भग्नावशेषो तथा तक्षण कला, मुद्राकला और मूर्तिकला के कुछ एक नमूनो द्वारा यह स्पष्ट है, कि राजस्थान मे चित्रकला का एक सम्पन्न स्वरूप रहा है। वि० स० के पूर्व के कुछ राजस्थानी सिक्को[9] पर अकित मनुष्य, पशु, पक्षी,

सूर्य, चन्द्र, धनुष, बाण, स्तूप, स्वास्तिक, वज्र, पर्वत, नदी आदि के जो धार्मिक चिह्न मिलते हैं उनमे यहा की चित्रकला की प्राचीनता स्पष्ट होती है। वीर सम्वत 84 का वर्ली गाव का शिलालेख[10] तथा वि० स० पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्यमिका (नगरी) के दो शिलालेख तथा उसके परिवर्तित रूप जो हमे गुप्त लिपि और कुटिल लिपि मे देखने को मिलते हैं यह बतलाते हैं कि राजस्थान मे चित्रकला का समृद्ध रूप रहा है। वैराट, रगमहल तथा आहड[11] मे प्राप्त सामग्री पर वृक्षावली तथा रेखावली तथा रेखाओ का अकन भी इसका समर्थन करते है कि प्राचीन काल मे राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से वैभवशाली था।

जब राजस्थान इस अवस्था से गुजर रहा था, उस समय अजन्ता-परम्परा भारतवर्ष की चित्रकला मे एक नव-जीवन का सचार कर रही थी, विशेष रूप से उस समय जब अरब आक्रमण मे पश्चिमी भारतीय भाग आक्रान्त होने लगा। इन आक्रमणो के झपेटो से बचने के लिए अनेक श्रीमन्त परिवार और कलाकार, अपने निवास स्थान, गुजरात, लाट आदि प्रान्तो को छोडकर अन्य भारतीय भागो मे जाकर बसने लगे। उन्होंने बगाल, बिहार, जौनपुर, मध्यप्रदेश, उत्तर-प्रदेश आदि भागो मे बसना शुरु किया। जो चित्रकार इधर आये थे उन्होने भी अजन्ता परम्परा की शैली को स्थानीय शैलियो से आबद्ध किया और चित्रकला के क्रम को परिवर्धित किया। इस क्रम के तत्त्वावधान मे अनेक चित्रपट तथा चित्रित ग्रन्थ[12] बनने लगे जिनमे निशीथचूर्णि, पुरुष चरित्र, नेमिनाथ चरित्र, कथा सरित सागर, उत्तराध्ययन सूत्र, कल्पसूत्र और कालका कथा विशेष उल्लेखनीय है। इनके चित्रण का उपक्रम 11वी सदी से 15वी सदी तक माना जाता है।

राजस्थान जहाँ पहिले से ही चित्रकला अच्छे विकसित रूप मे थी, इस अजन्ता परम्परा से प्रभावित होने से न बचा। निकट होने के नाते इस परम्परा के गुजरात के कलाकार मेवाड और मारवाड मे सर्वप्रथम पहुँचे और उन्होने इन भागो मे बसना आरम्भ किया। इस सम्मेलन ने राजस्थान की मौलिक विधि के साथ मिलकर एक नवीनता उत्पन्न की जिसके चित्रित नमूने तो उपलब्ध नही है, परन्तु इस विधि के चिह्न मण्डोर[13] द्वार के गोवर्धन धारण मे, बाडोली के तथा मेवाड के नागदा[14] गाँव की मूर्तिकला मे स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस कला की विशेषता ध्यान के एक निश्चित रूप मे अगो व मुद्राओ की अकड मे देखी जाती है।

---

10 एपिग्राफिआ इन्डिका, जि. व 19, पृ. 210-58 आदि।
11 मेरा लेख "धूल कोट मे खोदी गई दो खाइयों पर प्रकाश" शोधपत्रिका, 1952।
12 रामकृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृ. 38-39।
13. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1909-10, पृ. 102-31
नागरीप्रचारिणी पत्रिका स. 2013 पृ 22-40।
14 मेरा लेख द फोरगोटन कैपिटलेटस आफ मेवाड-मार्डन रिव्यू 1956।

इस शैली को, जो भारतवर्ष मे एक व्यापक रूप बना चुकी थी, अनेक नामो से पुकारा जाता है। क्योकि इस शैली के अन्तर्गत अनेक जैन ग्रन्थ चित्रित किये गये और यह माना गया कि इन्हें जैन साधुओ ने बनाया था, उसे जैन शैली कहने लगे, लेकिन यह धारणा ठीक न उतरी। जब यह पता चला कि इन ग्रन्थो को अजैन चित्रकारो ने भी तैयार किया था और अनेक अजैन ग्रन्थ, जैसे बालगोपाल स्तुति, दुर्गासप्तशती, गीतगोविन्द आदि चित्रित किये गये थे, तो जैन शैली के नामकरण मे सन्देह किया जाने लगा। इसी प्रकार जब प्रथम बार अनेक जैन ग्रन्थ गुजरात मे प्राप्त हुए, तो जैन शैली को गुजरात शैली कहा जाने लगा। पर इस नाम मे भी बाधा उपस्थित हुई। जब गुजरात के बाहर पश्चिमी भारत मे उस युग के अनेक चित्रित ग्रन्थ मिलने लगे। इस स्थिति के कारण गुजरात शैली के स्थान पर पश्चिम भारत शैली का प्रयोग किया जाने लगा। शीघ्र ही शोधको ने पश्चिम भारतीय शैली के चित्रो को मालवा, माण्डु, जौनपुर, नेपाल आदि पश्चिमीय भागो मे प्रचुर मात्रा मे पाया तो इस शैली का नाम बदलने की आवश्यकता हुई। क्योकि उस समय के साहित्य को अपभ्रंश साहित्य कहते हैं और चित्रकला भी काल और स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य से मेल खाती दिखाई देने लगी तो इस शैली को "अपभ्रंश शैली" कहा जाने लगा। इस मत से चित्रकला की भारतीय व्यापकता की मर्यादा की रक्षा हो गई।[15]

राजस्थान मे फैलने वाले इस प्रभाव को हम "जैन शैली", "गुजरात शैली", "पश्चिम भारतीय शैली" या 'अपभ्रंश शैली" आदि कुछ भी कह दें, इसमे सन्देह नही कि 7वी सदी मे 15वी सदी तक अविरल रूप से राजस्थान मे मौलिक कला तथा अजन्ता परम्परा की कला के सामञ्जस्य से पैदा होने वाले सिद्धान्तो के अनुकूल मूर्तिकला तथा शिल्पकला की प्रगति होती रही। इस दृष्टि से गुजरात और राजस्थान मे कोई भेद भी न रहा। वागड तथा छप्पन के भाग मे गुजरात से अनेक कलाकार आकर बस गये जो आज भी "सोमपुरा" कहलाते है। महाराणा कुम्भा के समय का मण्डन[16] शिल्पी गुजरात मे आकर यहा बसा था। मण्डन का नाम आज भी राजस्थानी कला मे एक सम्मान का स्थान रखता है।

ऊपर के वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि राजस्थान-चित्रकला का प्रारम्भिक और मौलिक रूप, जो सामञ्जस्य के फलस्वरूप बनने पाया था, मेवाड शैली मे पाते

---

15. भारतीय चित्र-1945
जर्नल ऑफ इण्डियन म्यूजियम भाग 9
राय कृष्णदास–भारत की चित्रकला—40-4[illegible]।
[illegible] मेहता–स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग
16. ओझा–उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 पृ 315।
[illegible] 1951।

हैं। वल्लभीपुर से गुहिलवशीय राजाओ के साथ ये कलाकार वहा से सर्व प्रथम मेवाड मे आये और उन्होने अजन्ता परम्परा को प्राधान्यता देना शुरू किया। स्थानीय विशेषताओ से मिलकर यह परम्परा अपना स्वतन्त्र रूप बना सकी, जिसे हम "मेवाड शैली" कहते हैं। 1260 ई० का श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी[17] नामक चित्रित ग्रन्थ इसी शैली का प्रथम उदाहरण है।

इसकी वेशभूषा नागदा के मन्दिर[18] और चित्तौड के मोकल के मन्दिर की तक्षण-कला के समान है। इस शैली की विशेषताओ मे गरुड, नासिका, परवल की खडी फाक से नेत्र, घुमावदार व लम्बी उगलिया, लाल-पीले रंग की प्रचुरता, अलकार बाहुल्य, चेहरो की जकडन, आदि हैं। यही शैली 1423 ई० की देलवाडे मे लिखी गई, सुपासना चर्यू[19] पुस्तक मे दिखाई देती है। इसी शैली की लड़ी को 1536 का कल्पसूत्र,[20] जो सरस्वती भडार मे सुरक्षित है, पूरा करता है। इसमे श्रमण, पाठक, मल्लयुद्ध, मज्जन आदि के जो चित्र हैं वे उस समय की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इसमे चित्रित वेशभूपा कुम्भा के विजय स्तम्भ की मूर्तियो की वेशभूषा के अनुरूप है।

मेवाड शैली का समृद्ध रूप हमे चित्तौड के प्राचीन महलो[21] के रगो तथा फूल की पखुडियो की रेखाओ में दिखाई देता है जो सदियो के बीत जाने पर और अरक्षित होते हुये भी आज भी नवीन और सजीव दिखाई देती है। इस शैली का एक रागिनी चित्र[22] श्री गोपीकृष्ण कानोडिया के सग्रह मे है, जो 1605 मे चावड़[23] मे बनवाया गया था। रोचकता और मौलिकता की दृष्टि से ये चित्र अपने ढग के अनूठे हैं।

जब मुगलो के साथ मेवाड वालो ने राणा अमरसिंह के समय 1615 ई० मे सन्धि[24] की, तब से उत्तरोत्तर मेवाड़ शैली मे मुगली विशेषताओ का समावेश

---

17. डब्ल्यू-एच-ब्राउन-स्टोरी आफ कुल कप्लेट, न. 2; 1933।
    कुमार स्वामी, ईस्टर्न आर्ट, भाग 2 पृ. 236-240।
    सारा भाई जैन प्रकाश, 1936। शोधपत्रिका भाग 5 मार्च 54. मेरा लेख मेवाड़ पेन्टिग प. एजेज, जर्नल ऑफ युनिवर्सिटीज आफ उत्तर प्रदेश, 1959, भाग 5 पृ. 60।
18. मेरा लेख ' चित्तौड़ एण्ड मोनुमेन्ट्स"—उदयपुर कॉलेज मेगजीन, 1946।
19. श्री विजय वल्लभ स्मारक ग्रन्थ, बम्बई 1956।
20. मेरा लेख "सोसाइटी इन वेस्टर्न इण्डिया एज रिवील्ड इन कल्पसूत्र" जर्नल ऑफ इण्डियन म्यूजियम, भाग 12, 1956।
21. मेरा लेख मेवाड स्कूल आफ पेन्टिग इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस 1954।
22. डॉ. मोतीचन्द मेवाड पेन्टिग, ललित कला अकादमी-प्राक्कथन।
23. मेरा लेख—"महाराणा प्रताप की उजडी हुई राजधानी शोध पत्रिका, 1956 मेरा लेख—फोर्गोटन कैपिटल ऑफ राणा प्रताप", कॉलेज मेगजीन; जोधपुर, 1955.
24. तुजुकए—जहांगिरी (फारसी) भाग 1 पृ. 134; काम्बू अमल-ए-सलीह, भाग 1 पृ. 60-61 नेणसी की ख्यात (मूल प्रति) पत्र-8, अमरकाव्य वंशावली पत्र 48, मेरी पुस्तक मेवाड एन्ड मुगल एम्परर्स पृ 136-37,

इस शैली को, जो भारतवर्ष मे एक व्यापक रूप बना चुकी थी, अनेक नामो से पुकारा जाता है। क्योकि इस शैली के अन्तर्गत अनेक जैन ग्रन्थ चित्रित किये गये और यह माना गया कि इन्हें जैन साधुओ ने बनाया था, उसे जैन शैली कहने लगे, लेकिन यह धारणा ठीक न उतरी। जब यह पता चला कि इन ग्रन्थो को अजैन चित्रकारो ने भी तैयार किया था और अनेक अजैन ग्रन्थ, जैसे बालगोपाल स्तुति, दुर्गासप्तशती, गीतगोविन्द आदि चित्रित किये गये थे, तो जैन शैली के नामकरण मे सन्देह किया जाने लगा। इसी प्रकार जब प्रथम बार अनेक जैन ग्रन्थ गुजरात मे प्राप्त हुए, तो जैन शैली को गुजरात शैली कहा जाने लगा। पर इस नाम मे भी बाधा उपस्थित हुई। जब गुजरात के बाहर पश्चिमी भारत मे उस युग के अनेक चित्रित ग्रन्थ मिलने लगे। इस स्थिति के कारण गुजरात शैली के स्थान पर पश्चिम भारत शैली का प्रयोग किया जाने लगा। शीघ्र ही शोधको ने पश्चिम भारतीय शैली के चित्रो को मालवा, माण्डु, जौनपुर, नेपाल आदि पश्चिमीय भागो मे प्रचुर मात्रा मे पाया तो इस शैली का नाम बदलने की आवश्यकता हुई। क्योकि उस समय के साहित्य को अपभ्रंश साहित्य कहते है और चित्रकला भी काल और स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य से मेल खाती दिखाई देने लगी तो इस शैली को "अपभ्रंश शैली" कहा जाने लगा। इस मत से चित्रकला की भारतीय व्यापकता की मर्यादा की रक्षा हो गई।[15]

राजस्थान मे फैलने वाले इस प्रभाव को हम "जैन शैली", "गुजरात शैली", "पश्चिम भारतीय शैली" या 'अपभ्रंश शैली" आदि कुछ भी कह दें, इसमे सन्देह नही कि 7वी सदी मे 15वी सदी तक अविरल रूप से राजस्थान मे मौलिक कला तथा अजन्ता परम्परा की कला के सामञ्जस्य से पैदा होने वाले सिद्धान्तों के अनुकूल मूर्तिकला तथा शिल्पकला की प्रगति होती रही। इस दृष्टि से गुजरात और राजस्थान मे कोई भेद भी न रहा। वागड तथा छप्पन के भाग मे गुजरात से अनेक कलाकार आकर बस गये जो आज भी "सोमपुरा" कहलाते है। महाराणा कुम्भा के समय का मण्डन[16] शिल्पी गुजरात से आकर यहा बसा था। मण्डन का नाम आज भी राजस्थानी कला मे एक सम्मान का स्थान रखता है।

ऊपर के वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि राजस्थान-चित्रकला का प्रारम्भिक और मौलिक रूप, जो सामञ्जस्य के फलस्वरूप बनने पाया था, मेवाड शैली मे पाते

---

15 भारतीय विद्या-1945
जर्नल ऑफ इण्डियन म्यूजियम भाग 9
[illegible]—40-1[illegible]।
[illegible]
16 ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास भा 1, पृ 315।
[illegible] 1954।

उसके पश्चात मारवाड मे यही परम्परा वृद्धि पाती है जिसके फलस्वरूप लगभग 1000 से 1500 ई० तक अनेक जैन ग्रन्थो को चित्रित किया जाता है। इस युग के कुछ ताडपत्र, भोजपत्र आदि पर चित्रित कल्पसूत्रो[28] व अन्य ग्रन्थो का प्रतिया जोधपुर पुस्तक प्रकाश मे तथा जैसलमेर जैन भण्डार मे सुरक्षित है।

ठीक इस युग के बाद कुछ समय तक मारवाड पर मेवाड का राजनीतिक प्रभुत्व[29] रहा और लगभग महाराणा मोकल के काल से लेकर राणा सागा के समय तक मारवाड मे मेवाड शैली के चित्र बनते रहे। मालदेव के सैनिक प्रभाव ने (1532–68 ई०) इस प्रभाव को कम कर मारवाड शैली का फिर स्वतन्त्र स्वरूप बनाया। इस प्रणाली के आधार पर उत्तराध्यान सूत्र[30] का 1591 ई० मे चित्रण किया गया जो बड़ोदा सग्रहालय मे सुरक्षित है। मालदेव की सैनिक रुचि की अभिव्यक्ति चोखेला महल, जोधपुर की वल्लियो और छतो के चित्रो से स्पष्ट है जिसमे राम-रावण युद्ध तथा सप्तशती के अनेक अवतरणो को चित्रित किया गया है। चेहरो की बनावट भावपूर्ण दिखाई गई है।

जब मारवाड का सम्बन्ध मुगलो से बढता गया तो मारवाड शैली का बाह्य रूप मुगली होता गया। इस अवस्था का दिग्दर्शन 1610 के भागवत्[31] से होता है। इसमे अर्जुन-कृष्ण आदि की वेशभूषा मुगली है, परन्तु उनके चेहरो की बनावट स्थानीय है। इसी प्रकार गोपिकाओ की वेश भूषा मारवाडी ढग की है परन्तु उनके गले के आभूषण मुगली है। इस ग्रन्थ मे पाठशाला और आंख मिचौनी के दिखाव स्थानीय है परन्तु चित्रो के शीर्षक नागरी लिपि मे गुजराती भाषा मे दिये गये है।

औरगजेब और अजीतसिह के काल मे मुगली विषयो को भी प्रधानता दी जाने लगी। ऐसे विषयो मे अन्त पुर की रगरेलिया, स्त्रियो के स्नान, होली के खेल, शिकार आदि को चित्रित किया जाने लगा। विजयसिह और मानसिह के काल मे भक्तिरस और शृंगाररस के अधिक चित्र तैयार किये गये, जिनमे नाथ चरित्र, भागवत् शुकनसिका चरित्र, पचतन्त्र आदि प्रमुख है। ये चित्र महाराजा के पुस्तक प्रकाश पुस्तकालय मे सुरक्षित है।[32]

---

28. डॉ. मोतीचन्द जैन मिनेचर पेंटिग्स।
29 बुलटिन बड़ौदा म्यूजियम, भाग–4 पृ. 31 ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 पृ 265, 273, 302 आदि; ब्रिग्ज फरिश्ता भाग 5 पृ 223, 24 हिस्ट्री आफ गुजरात पृ 48, 49 कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति श्लोक 18-19।
30 बुलेटिन बड़ौदा म्यूजियम भाग 5, पृ 46।
31. इस भागवत् मे स्थानीय शैली की प्राधान्यता है।
32. जर्नल आफ इण्डियन सोसाइटी आफ ओरियन्टल आर्ट, भाग 4, 1948। टीका निर्मित—रविशंकर देरो पृ 36। इनके अतिरिक्त वि. स. 1860 ढोलामारु, रामायण और सूर प्रकाश के बड़े सुन्दर चित्र देखे गए है, जो इस शैली के है।

होने लगा जो 1625–1652 ई० तक परिपक्व हो गया। इस अवधि में मेवाड़ में जितने सुन्दर चित्रों का सृजन हुआ, वैसा किसी युग में न हो सका।

इस शैली के ग्रन्थ मेवाड़ और मेवाड़ बाहर के अन्य राजस्थानी भागों में चित्रित किये जाने लगे। महावदी द्वारा चित्रित मेवाड़ के का भागवत् (1648 ई०) जोधपुर और कोटे के भागवत की प्रतियां, मनोहर द्वारा चित्रित प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम का रामायण (1691) सिहावदी द्वारा चित्रित सरस्वती भंडार, उदयपुर का रामायण (1691 ई०) नेशनल म्यूजियम की रागमाला, बीकानेर की रसिक प्रिया, 1650 का प्रिन्स आफ वेल्स का गीत गोविन्द, श्री गोपीकृष्ण कानोडिया के संग्रह का सूर सागर आदि चित्रित ग्रन्थ इस युग की मेवाड़ी शैली के अनुपम उदाहरण हैं। इस शैली में मुगल ठाठ अधिक बढ़ता गया। राजसिंह के और उसके उत्तराधिकारियों के काल में राग माला भागवत (श्री गोपीकृष्ण कानोडिया के संग्रह) सूकर क्षेत्र महात्म्य (1712 वि०) कादम्बरी, एकादशी महात्म्य, पञ्चतन्त्र, मालती माधव, सुन्दर शृंगार (1782 वि०) आदि ग्रन्थ इस शैली में चित्रित किये गये।[25]

इस शैली के चित्रों में चमकीले पीले रंग और लाख के लाल रंग की प्रधानता देखी जाती है। पुरुषों और स्त्रियों की आकृति में लम्बे नाक, गोल चेहरे, छोटा कद और मीनाक्षी आंखें रहती हैं। पुरुषों की वेश-भूषा में जहांगीरी पटका, अटपटी पगड़ी और चाकदार जामा रहता है, जो मुगली प्रभाव है। इसी प्रभाव का स्वरूप बारीक कपड़ों के दिखाव में भी पाया जाता है। गुम्बजदार मकानों का चित्रण मुगली शैली का प्रभाव है। पहाड़ी दिखावों में फारस-कला, जो गुजरात-कला के साथ यहां आई, स्पष्ट झलकती है। इस शैली के चित्रों में आम तौर से कदली वृक्षों का चित्रण स्थानीय परम्परा पर आधारित है।

मेवाड़ की भांति मारवाड़ में भी अजन्ता परम्परा लगभग इसी काल में प्रविष्ट हुई, जिस काल में वह मेवाड़ की ओर चली थी। इसी शैली का पूर्व रूप मण्डोर के द्वार[26] की कला में आंका जा सकता है। ताराचन्द के कथनानुसार इस शैली का सम्बन्ध शृंगधर[27] से है जिसने मारवाड़ शैली को स्थानीय तथा अजन्ता परम्परा के सामंजस्य द्वारा जन्म दिया। इसी शैली के आधार पर 687 ई० में [illegible] धातु की मूर्ति तैयार की जो पिण्डवाड़ा में है। कला की दृष्टि से यह बड़ी सुन्दर है, और यह सिद्ध करती है कि मारवाड़ चित्रकला और मूर्तिकला में इस समय तक अच्छी प्रगति कर चुका था।

---

25 [illegible], भाग 4, [illegible] 3 [illegible] 1959।

26 [illegible], 16-87।
[illegible] पृ 1021
[illegible] 1956।

27 [illegible] पृ 63 [illegible] पृ 29।

इसके पश्चात मारवाड मे यही परम्परा वृद्धि पाती है जिसके फलस्वरूप लगभग 1000 से 1500 ई० तक अनेक जैन ग्रन्थो को चित्रित किया जाता है। इस युग के कुछ ताडपत्र, भोजपत्र आदि पर चित्रित कल्पसूत्रो[28] व अन्य ग्रन्थो का प्रतिया जोधपुर पुस्तक प्रकाश मे तथा जैसलमेर जैन भण्डार मे सुरक्षित है।

ठीक इस युग के बाद कुछ समय तक मारवाड पर मेवाड़ का राजनीतिक प्रभुत्व[29] रहा और लगभग महाराणा मोकल के काल मे लेकर राणा सागा के समय तक मारवाड मे मेवाड शैली के चित्र बनते रहे। मालदेव के सैनिक प्रभाव ने (1532–68 ई०) इस प्रभाव को कम कर मारवाड शैली का फिर स्वतन्त्र स्वरूप बनाया। इस प्रणाली के आधार पर उत्तराध्यान सूत्र[30] का 1591 ई० मे चित्रण किया गया जो बडोदा सग्रहालय मे सुरक्षित है। मालदेव की सैनिक रुचि की अभिव्यक्ति चोखेला महल, जोधपुर की बल्लियो और छतो के चित्रो से स्पष्ट है जिसमे राम-रावण युद्ध तथा सप्तशती के अनेक अवतरणो को चित्रित किया गया है। चेहरो की बनावट भावपूर्ण दिखाई गई है।

जब मारवाड का सम्बन्ध मुगलो से बढता गया तो मारवाड शैली का बाह्य रूप मुगली होता गया। इस अवस्था का दिग्दर्शन 1610 के भागवत्[31] से होता है। इसमे अर्जुन-कृष्ण आदि की वेशभूपा मुगली है, परन्तु उनके चेहरो की बनावट स्थानीय है। इसी प्रकार गोपिकाओ की वेश भूपा मारवाडी ढग की है परन्तु उनके गले के आभूपण मुगली है। इस ग्रन्थ मे पाठशाला और आंख मिचौनी के दिखाव स्थानीय है परन्तु चित्रो के शीपक नागरी लिपि मे गुजराती भापा मे दिये गये है।

औरगजेब और अजीतसिह के काल मे मुगली विपयो को भी प्रधानता दी जाने लगी। ऐसे विपयो मे अन्त पुर की रगरेलिया, स्त्रियो के स्नान, होली के खेल, शिकार आदि को चित्रित किया जाने लगा। विजयसिह और मानसिह के काल मे भक्तिरस और शृगाररस के अधिक चित्र तैयार किये गये, जिनमे नाथ चरित्र, भागवत् शुकनासिका चरित्र, पचतन्त्र आदि प्रमुख है। ये चित्र महाराजा के पुस्तक प्रकाश पुस्तकालय मे सुरक्षित है।[32]

---

28. डॉ. मोतीचन्द जैन मिनेचर पेन्टिग्स।
29. बुलेटिन बडोदा म्यूजियम, भाग–4 पृ. 31 ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 पृ 265, 273, 302 आदि, ब्रिग्ज फरिश्ता भाग 5 पृ 223, 24. हिस्ट्री आफ गुजरात पृ 48, 49. कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति श्लोक 18-19।
30. बुलेटिन बडोदा म्यूजियम भाग 5, पृ 46।
31. इस भागवत् मे स्थानीय शैली की प्राधान्यता है।
32. जर्नल ऑफ इण्डियन सोसायटी आफ ओरियन्टल आर्ट, भाग 4, 1948। चौना चित्रनिल—रविन्द्रनाथ टैगोर पृ 36। इसके अतिरिक्त वि. स. 1860 ढोलामारु, रामायण और मृगावत के बडे सुन्दर चित्र भी सेट है, जो इस शैली मे है।

इस शैली मे लाल और पीले रग का प्रयोग अधिक किया गया है जो स्थानीय विशेषता है। परन्तु बारीक कपडो का प्रयोग गुम्बज तथा नोकदार जामे का चित्रण मुगली है। इस शैली के पुरुष और स्त्रिया गठीले आकार की हैं और पुरुषो के गलमुच्छ, ऊँची पगडी तथा स्त्रियो के लिये लाल फूदने का प्रयोग किया जाता है। इस शैली मे सामाजिक जीवन के हर पहलू के चित्र 18वी सदी से ज्यादा मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ पचतन्त्र तथा शुकनासिका चरित्र आदि मे कुम्हार, धोबी, मजदूर, लकडहारा, चिडीमार, नाई, भिश्ती, सुनार, सौदागर, पनिहारी, ग्वाला, माली, किसान आदि से सम्बन्धित जीवन घटनाओ के चित्र मिलते हैं। 18वी सदी के चित्रो मे सुनहरी रग का प्रयोग मुगली ढग मे खूब किया गया है।

मारवाड शैली से सम्बन्धित बीकानेर शैली भी है जिसका समृद्ध रूप अनूपसिंह के राज्यकाल मे दिखाई देता है। उसके समय के प्रसिद्ध कलाकारो मे रामलाल, अलीरजा, हसन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस शैली मे पजाब की कलम का भी प्रभाव देखा गया है क्योकि भौगोलिक स्थिति से बीकानेर उत्तरी भाग से भी प्रभावित रहा है। दक्षिण से दूर होने पर भी यहा फव्वारो, दरबार के दिखावो आदि मे दक्षिणी शैली का प्रभाव दिखाई देता है क्योकि यहा के शासको की नियुक्ति दक्षिण मे बहुत रही है।[33]

राजस्थान शैली के अन्तर्गत बूदी शैली का भी बडा महत्त्व है। प्रारम्भिक काल मे राजनीतिक अधीनता के कारण बूदी कला पर मेवाड शैली का बहुत प्रभाव रहा है। इस स्थिति को व्यक्त करने वाले 1625 ई० के लगभग के दो चित्र, जिनमे एक रागमाला[34] और दूसरा भैरवी रागिनी,[35] बडे उपादेय हैं। इन चित्रो मे पटोलाक्ष, नुकीली नाक, मोटे गाल, छोटा कद और लाल पीले रग की प्रचुरता स्थानीय विशेषताओ के द्योतक हैं। इनमे गुबज का प्रयोग और बारीक कपडो का दिखावा मुगली है। स्त्री का वेश भूषा मेवाडी शैली की है। इस शैली मे राव सुर्जन के काल मे (1554-1585) जिसने मुगलिया अधीनता स्वीकार करली थी, एक नया मोड आता है जिससे चित्र बनाने की पद्धति मे मुगलीपन बढ़ता जाता है। राव रतन के समय मे जो जहांगीर का कृपापात्र था, और राव माधोसिंह के समय मे जो शाहजहा का कृपा पात्र था, मुगली ठाठ का दौर अधिक बढ गया। चित्रो मे बाग, फव्वारे, फूलो की कतार, तारो की राते, आदि का समावेश मुगली ढग से किया जाने लगा। इस शैली की विशेषताओ के चित्र कार्ल खडालवाला द्वारा

---

33 [illegible] आर्ट एण्ड आर्टिस्ट्स आफ बीकानेर।
[illegible]—पृ 63 आदि।
[illegible]—अनूपसिंह [illegible]।

34 [illegible]।

35 [illegible]।

कल्प सूत्र-चित्रित
16वी शताब्दी
—सरस्वती भण्डार, उदयपुर

एकादशी महात्म्य-चित्रित
17वी शताब्दी
—सरस्वती भण्डार, उदयपुर
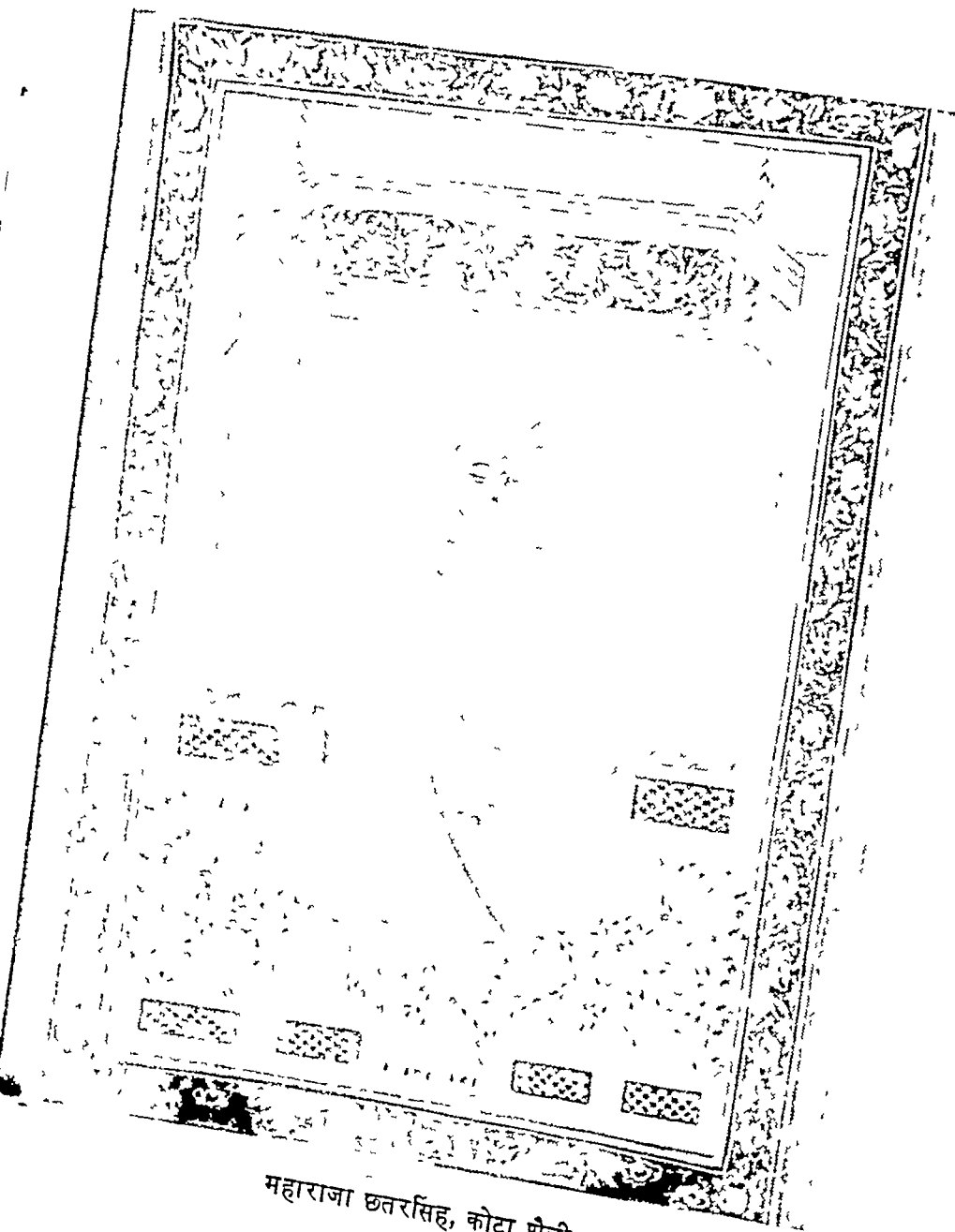
महाराजा छतरसिंह, कोटा शैली

सम्पादित बूदी चित्रावली मे तथा कोटा के जालिम सिह की हवेली मे है । इन चित्रो मे स्त्रियो के चेहरे मेवाडी है और फल फूल, पानी और वृक्षावलियो का चित्रण बूदी का है । चित्रो के चेहरे कुछ लाल रहते है तथा गाल, आँख और नाक के पास कुछ परछाई सी दिखाई जाती है । कोटा की भी स्वतन्त्र शैली है परन्तु बूदी शैली के आधार पर ही वह चलती है । बूदी पेटिंग मे नायिका के स्नान के चित्र की हूबहू नकल जालिमसिह की हवेली के ऊपर वाले बायें हाथ के कमरे के द्वार के पास की भित्ति पर बनी हुई है जो उक्त चित्र के सभी विषयो मे समान सी है । इसी प्रकार कोटा सग्रहालय मे ऐसे अनेक चित्र है जो कोटा मे बने थे फिर भी उन्हे बूदी शैली से अलग नही किया जा सकता ।[36]

सुन्दरता की दृष्टि से किशनगढ शैली[37] के चित्र बडे रोचक है । जोधपुर से वशीय सम्बन्ध और जयपुर से निकट होते हुए भी किशनगढ मे स्वतन्त्र शैली बनी, यह एक बडे महत्त्व की वस्तु है । अन्य स्थानो की भाँति यहा भी चित्र प्राचीन काल से बनते रहे परन्तु किशनगढ शैली का समृद्ध काल सावतसिह (1706–1748) से आरम्भ होता है जिसमे नागरीदास की वैष्णव धर्म के प्रति श्रद्धा, चित्रकला मे रुचि और अपनी प्रेयसी बणी ठणी से प्रेम का बडा हाथ रहा है । इस काल के चित्रो के सृजन का श्रेय भी उनके समकालीन कलाकार निहालचन्द का है । नागरीदास को वैष्णव धर्म से इतनी भक्ति थी और उनका प्रेम बणी ठणी से उस कोटि का था कि वे अपने पारस्परिक प्रेम मे राधा-कृष्ण की अनुभूति करते थे और उन दोनो के चित्र इसी भाव को व्यक्त करते थे । कला, प्रेम और भक्ति का सर्वांगीण सामजस्य हम किशनगढ शैली मे पाते है । इस समय चित्र के विषयो का आधार भी बृज भाषा की कविताए बताई गई है और वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक चित्र बनाये गये है । इस शैली के चेहरे लम्बे, कद लम्बा और नाक नुकीला रहती है । स्थानीय गोदाला तालाब तथा किशनगढ के नगर का दूर से दिखाया जाना भी इस शैली की विशेषताओ मे है । इस शैली की वेश-भूषा फरूखसियर-कालीन है । इन विशेषताओ को हम वृक्षो की घनी पत्रावली वाले दिखावो, अट्टालिकाओ तथा रात के दरबारी जीवन की झाकियो, साझी के चित्रो तथा नागरीदास तथा बणी-ठणी के वृन्दावन सम्बन्धी चित्रो मे पाते है । पीछे के चित्रो मे नगराम और रामनाथ ने भी इस शैली का उपयोग किया था ।

राजस्थानी शैली मे यदि मुगल शैली का कही आधिक्य रहा है तो वह जयपुर तथा अलवर शैली मे है । इसका कारण भी स्पष्ट है । इन राज्यो का मुगलो से सम्बन्ध निकट का बना रहा है, विशेष रूप से मुगल जीवन और नीति पर जयपुर

---

36. बूदी पेन्टिग–ललित कला अकादमी ।
37. जयपुर पोथीखाना के दो चित्र पट जिसमे नागरीदास और बणी ठणी बने है । अन्य चित्रो के लिये दृष्टव्य रंधालवाला द्वारा सम्पादित किशनगढ पेन्टिग, ललित कला अकादमी ।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से बडा समृद्ध प्रान्त है। भारतीय चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इस चित्रकला की निधि को, जो अनेक राजप्रासादो की भित्तियो तथा सग्रहालयो में सुरक्षित है, टटोला जाय, और उनका वैज्ञानिक विश्लेपण किया जाय। पोथीखाना जयपुर, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर सरस्वती भण्डार, उदयपुर और स्थानीय महाराजाओ तथा सामन्तो के सग्रहालयो मे चित्रकला का ऐसा समृद्ध साहित्य उपलब्ध है जो न केवल राजस्थान को धनी बनाये हुए है वरन् भारत की अकथ कला निधि का एक कोप है। इसी प्रकार राजस्थान के कुछ एक कलात्मक सामग्री के सग्रह कर्त्ताओ के हम ऋणी है जिनमे कुवर श्री सग्रामसिहजी, श्री मोतीचन्दजी खजाची तथा श्री रामगोपालजी विजयवर्गीय के नाम विशेप उल्लेखनीय है जिन्होने विशेप रूप से प्राचीन तथा मध्य कालीन चित्रो का वहुत उपयोगी सग्रह किया है। इन्ही दिनो मुझे इन कला प्रेमियो के सग्रहो को देखने का अवसर मिला जिसमे मैंने देखा कि इनकी रुचि और उदारता के कारण ही आज राजस्थान से निकलने वाली कला की समृद्धि यहा रह सकी, अन्यथा इनके बारे मे जानकारी प्राप्त करना कठिन था। श्री खजाचीजी के सग्रह मे मेवाड, बीकानेर, जयपुर, किशनगढ, बूदी दखिनी और मुगल शैली के अनेक चित्र उपलब्ध हैं जो तत्कालीन समाज और सस्कृति पर बडा प्रकाश डालते हैं। इनमे किशनगढ शैली के नौका-विहार, दीपावली, होली आदि के चित्र, मेवाड शैली का दास-प्रथा पर प्रकाश डालने वाला चित्र तथा अमरसिह और शाहजादी का चित्र विशेष उल्लेखनीय है। इसी तरह कुवर श्री सग्रामसिहजी के सग्रह के बारामास, रागरागिनी, गीत गोविन्द, भागवत् मुगल सम्राट तथा नागौर शैली के फकीर और स्त्रिया के चित्र, शिकार के विविध प्रकार के चित्र तथा दरबारी जीवन के चित्र सामाजिक स्थिति पर अपूर्व प्रकाश डालते है।

अत यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति न होगी कि राजस्थानी चित्रकला युग-युगान्तर की सस्कृति का माप दण्ड है। जब मानव गुहा-गृही था, तब राजस्थान मे चट्टानो पर मानव सघर्ष, आखेट वन्य जीवन के चित्र बने। शुग व गुप्तकालीन भित्ति चित्रो के अवशेप भी यहा खोजे गये है जिनमे सौन्दर्य और सजीवता टपकती है। अपभ्रंश शैली, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, भी भित्ति, पुस्तक और चित्रपट के रूप मे देखी गई है जो उस काल के सास्कृतिक उत्थान का अच्छा उदाहरण है। मुगल काल मे सास्कृतिक नव चेतना राजस्थानी शैली मे प्रविष्ट कर चुकी थी जिसको हम बारामासा व रागरागिनियो के चित्रो मे खूब पाते है। इनमे चित्रकार प्रत्येक रागिनी के निर्दिष्ट भावो को इस प्रकार व्यक्त करता है कि चित्र स्वत सगीतमय बन जाते है। बारामासा के चित्र तो लोक जीवन तथा प्रकृति चित्रण के अनूठे उदाहरण है। चित्रकार राजपूत योद्धा तथा उसकी प्रेयसी के भावो को इस खूबी से चित्रित करता है कि [illegible] इनमा [illegible] प्राकृतिक [illegible] [illegible] सास्कृतिक पर्वो के आदर्शो द्वारा [illegible] मे ही [illegible]

लेती है। कभी-कभी कलाकार वियोग के चित्रण मे सयोग और सुख को मूर्त रूप प्रदान कर जीवन को जीता जागता बना देता है। इनमे सामन्ती जीवन, लोक-जीवन, नारी जीवन, आमोद-प्रमोद के साधन आदि ऐसे चित्रित किये गये हैं कि उस काल की सस्कृति दर्पण की भाँति स्पष्ट हो जाती है।

इसी तरह राजस्थानी कलाकार ने अनेक चित्रो द्वारा राजस्थानी गीत और पर्व, उत्सव तथा मेलो का ऐसा सयोग विठाया है कि वे सभी उस युग की सस्कृति के साधन बन जाते है। बारामासा तथा राग-रागिनियो के चित्र जो राजस्थान के सग्रहालयो मे मिलते है इस अद्वितीय सयोग के समुचित उदाहरण हैं।

इन सभी शैलियो के चित्रो को देखने से लगता है कि राजस्थान का कलाकार सहृदय प्राणी है जिसकी प्रत्येक कृति मे कला का वह चमत्कार दिखाई देता है कि इसमे इह लौकिक और पारलौकिक जीवन की अनुभूति प्रकट होती है। भारतीय चित्रकला की भाँति यहा की कला मे शारीरिक सौष्ठव उतना नही मिलता क्योकि इस प्रकार की कला का उद्भव स्थान हृदय है। यह कला भाव प्रधान है, रूप प्रधान नही। उसका सास्कृतिक महत्त्व इसमें है कि कलाकार ने रग और रेखा द्वारा भावो को सजीव किया और धार्मिक चेतना को जगाया।

राजस्थान में विपयो को लेकर इतने चित्र उपलब्ध हैं कि वे सभी एक जीवित ससार प्रस्तुत करते हैं जिनमे नगर, वन, गाम जीव, जन्तु, झोपडी, महल, दुर्ग, युद्ध, वनस्पति, उत्सव, रति, भोग, सयोग, विरह आदि सम्मिलित हैं। जहा राजा-रानी चित्रित हैं, वहा कलाकार की तूलिका ने ऋषि, मुनि, अमीर-गरीव और कंगाल को भी चित्रित किया है। इन चितारो ने विलासी और आध्यात्मिक जीवन की विविध स्थितियो का सही अकन कर राजस्थान की सस्कृति को मूर्त रूप प्रदान करने मे कोई कसर नही रखी है। यहा का चित्रकार इतना सुवोध भी रहा है कि कही-कही पौराणिक कथाओ और लोक गीतो को अकित कर जन साधारण के लिए उच्च आदर्शो और विशुद्ध आचरणो के मार्ग को भी निर्दिष्ट किया है। राधा-कृष्ण के चित्रो द्वारा तो गार्हस्थ जीवन की सभी स्थितिया स्पष्ट कर दी गई हैं। जहा राजपूत नारी के जीवन के अकन हैं वहा भारतीय हिन्दू नारी का आदर्श जीवन झलकता है। डाक्टर, कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि "राजपूत चित्रकारो की कृत्तियो का सम्मान ससार के सुन्दरतम चित्रण की पक्ति मे होना चाहिये। वास्तव मे इन चित्रो के विषय जनता के हृदय और उनके काव्य सगीतादि से सम्बन्धित हैं।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल[31] राजस्थानी चित्रकला की विशेपता वतलाते हुए लिखते हैं कि "राजस्थानी चित्र शैली स्त्रियो की सुन्दरता की खान है। भारतीय नारी के आदर्श सौन्दर्य की उनमे पूरी छटा है। कमल की तरह उत्फुल्ल वडे

---

31. वासुदेव शरण अग्रवाल—राजस्थानी चित्रकला, राजस्थान साहित्य और सस्कृति, पृ. 122-124

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से बडा समृद्ध प्रान्त है। भारतीय चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इस चित्रकला की निधि को, जो अनेक राजप्रासादो की भित्तियो तथा सग्रहालयो मे सुरक्षित है, टटोला जाय, और उनका वैज्ञानिक विश्लेपण किया जाय। पोथीखाना जयपुर, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर सरस्वती भण्डार, उदयपुर और स्थानीय महाराजाओ तथा सामन्तो के सग्रहालयो मे चित्रकला का ऐसा समृद्ध साहित्य उपलब्ध है जो न केवल राजस्थान को धनी बनाये हुए है वरन् भारत की अकथ कला निधि का एक कोष है। इसी प्रकार राजस्थान के कुछ एक कलात्मक सामग्री के सग्रह कर्त्ताओ के हम ऋणी हैं जिनमे कुवर श्री सग्रामसिंहजी, श्री मोतीचन्दजी खजाची तथा श्री रामगोपालजी विजयवर्गीय के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं जिन्होंने विशेप रूप से प्राचीन तथा मध्य कालीन चित्रो का बहुत उपयोगी सग्रह किया है। इन्ही दिनो मुझे इन कला प्रेमियो के सग्रहो को देखने का अवसर मिला जिसमे मैंने देखा कि इनकी रुचि और उदारता के कारण ही आज राजस्थान से निकलने वाली कला की समृद्धि यहा रह सकी, अन्यथा इनके बारे मे जानकारी प्राप्त करना कठिन था। श्री खजाचीजी के सग्रह मे मेवाड, बीकानेर, जयपुर, किशनगढ, बूदी दखिनी और मुगल शैली के अनेक चित्र उपलब्ध हैं जो तत्कालीन समाज और सस्कृति पर बडा प्रकाश डालते हैं। इनमे किशनगढ़ शैली के नौका-विहार, दीपावली, होली आदि के चित्र, मेवाड शैली का दास-प्रथा पर प्रकाश डालने वाला चित्र तथा अमरसिंह और शाहजादी का चित्र विशेप उल्लेखनीय है। इसी तरह कुवर श्री सग्रामसिंहजी के सग्रह के बारामास, रागरागिनी, गीत गोविन्द, भागवत् मुगल सम्राट तथा नागौर शैली के फकीर और स्त्रियो के चित्र, शिकार के विविध प्रकार के चित्र तथा दरबारी जीवन के चित्र सामाजिक स्थिति पर अपूर्व प्रकाश डालते हैं।

अत यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति न होगी कि राजस्थानी चित्रकला युग-युगान्तर की स कृति का माप दण्ड है। जब मानव गुहा-गृही था, तब राजस्थान मे चट्टानो पर मानव सघर्ष, आखेट वन्य जीवन के चित्र बने। गु। व गुप्तकालीन भित्ति चित्रो के अवशेप भी यहा खोजे गये हैं जिनमे सौन्दर्य और सजीवता टपकती है। अपभ्रश शैली, जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, भी भित्ति, पुस्तक और चित्रपट के रूप मे देखी गई है जो उस काल के सास्कृतिक उत्थान का अच्छा उदाहरण है। मुगल काल मे सास्कृतिक नव चेतना राजस्थानी शैली मे प्रविष्ट कर चुकी थी जिसको हम बारामासा व रागरागिनियो के चित्रो मे [illegible] पाते हैं। इनमे कलाकार प्रत्येक रागिनी के निर्दिष्ट भावो को इस प्रकार व्यक्त करता है कि चित्र स्वत मार्मिक बन जाते हैं। बारामासा के चित्र तो लोक जीवन तथा प्रकृति चित्रण के अनूठे उदाहरण हैं। कलाकार राजपूत योद्धा तथा उसकी प्रेयसी के [illegible] को [illegible] ते चित्रित करता है कि उसकी प्रियतमा उसे प्राकृतिक [illegible] [illegible] मे [illegible] सास्कृतिक पर्वो के आकर्षणो द्वारा नायक को घर मे ही रख

ती है। कभी-कभी कलाकार वियोग के चित्रण मे सयोग और सुख को मूर्त रूप प्रदान कर जीवन को जीता जागता बना देता है। इनमे सामन्ती जीवन, लोक-जीवन, नारी जीवन, आमोद-प्रमोद के साधन आदि ऐसे चित्रित किये गये है कि उस काल की संस्कृति दर्पण की भाँति स्पष्ट हो जाती है।

इसी तरह राजस्थानी कलाकार ने अनेक चित्रो द्वारा राजस्थानी गीत और पर्व, उत्सव तथा मेलो का ऐसा सयोग विठाया है कि वे सभी उस युग की संस्कृति के साधन वन जाते हैं। वारामासा तथा राग-रागिनियो के चित्र जो राजस्थान के पुस्तकालयो में मिलते है इस अद्वितीय सयोग के समुचित उदाहरण हैं।

इन सभी शैलियो के चित्रो को देखने से लगता है कि राजस्थान का कलाकार सहृदय प्राणी है जिसकी प्रत्येक कृति में कला का वह चमत्कार दिखाई देता है कि इसमे इह लौकिक और पारलौकिक जीवन की अनुभूति प्रकट होती है। भारतीय चित्रकला की भाँति यहा की कला मे शारीरिक सौष्ठव उतना नही मिलता क्योकि इस प्रकार की कला का उद्भव स्थान हृदय है। यह कला भाव प्रधान है, रूप प्रधान नही। इसका सास्कृतिक महत्त्व इसमें है कि कलाकार ने रग और रेखा द्वारा भावो को सजीव किया और धार्मिक चेतना को जगाया।

राजस्थान मे विषयो को लेकर इतने चित्र उपलब्ध है कि वे सभी एक जीवित ससार प्रस्तुत करते हैं जिनमे नगर, वन, ग्राम जीव, जन्तु, झोपडी, महल, दुर्ग, युद्ध, वनस्पति, उत्सव, रति, भोग, सयोग, विरह आदि सम्मिलित हैं। जहा राजा-रानी चित्रित हैं, वहा कलाकार की तूलिका ने ऋषि, मुनि, अमीर-गरीव और कंगाल को भी चित्रित किया है। इन चितारो ने विलासी और आध्यात्मिक जीवन की विविध स्थितियो का सही अकन कर राजस्थान की सस्कृति को मूर्त रूप प्रदान करने मे कोई कसर नही रखी है। यहा का चित्रकार इतना सुबोध भी रहा है कि कहीं-कहीं पौराणिक कथाओ और लोक गीतो को अकित कर जन साधारण के लिए उच्च आदर्शो और विशुद्ध आचरणो के मार्ग को भी निर्दिष्ट किया है। राधा-कृष्ण के चित्रो द्वारा तो गार्हस्थ जीवन की सभी स्थितिया स्पष्ट कर दी गई है। जहां राजपूत नारी के जीवन के अंकन हैं वहा भारतीय हिन्दू नारी का आदर्श जीवन झलकता है। डाक्टर, कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि "राजपूत चित्रकारो की कृतियो का सम्मान ससार के सुन्दरतम चित्रण की पक्ति मे होना चाहिये। वास्तव मे इन चित्रो के विषय जनता के हृदय और उनके काव्य सगीतादि से सम्बन्धित है।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल[41] राजस्थानी चित्रकला की विशेषता वतलाते हुए लिखते हैं कि "राजस्थानी चित्र शैली स्त्रियो की सुन्दरता की खान है। भारतीय नारी के आदर्श सौन्दर्य को उसमें पूरी छूटा है। कमल की तरह उत्फुल्ल वडे

41. [illegible] शरण अग्रवाल–राजस्थानी चित्रकला [illegible]

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से बड़ा समृद्ध प्रान्त है। भारतीय चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इस चित्रकला की निधि को, जो अनेक राजप्रासादो की भित्तियो तथा सग्रहालयो मे सुरक्षित है, टटोला जाय, और उनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। पोथीखाना जयपुर, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर सरस्वती भण्डार, उदयपुर और स्थानीय महाराजाओ तथा सामन्तो के सग्रहालयो मे चित्रकला का ऐसा समृद्ध साहित्य उपलब्ध है जो न केवल राजस्थान को धनी बनाये हुए है वरन् भारत की अकथ कला निधि का एक कोष है। इसी प्रकार राजस्थान के कुछ एक कलात्मक सामग्री के सग्रह कर्त्ताओ के हम ऋणी है जिनमे कुवर श्री सग्रामसिहजी, श्री मोतीचन्दजी खजाची तथा श्री रामगोपालजी विजयवर्गीय के नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने विशेष रूप से प्राचीन तथा मध्य कालीन चित्रो का बहुत उपयोगी सग्रह किया है। इन्ही दिनो मुझे इन कला प्रेमियो के सग्रहो को देखने का अवसर मिला जिसमे मैंने देखा कि इनकी रुचि और उदारता के कारण ही आज राजस्थान से निकलने वाली कला की समृद्धि यहा रह सकी, अन्यथा इनके बारे मे जानकारी प्राप्त करना कठिन था। श्री खजाचीजी के सग्रह मे मेवाड, बीकानेर, जयपुर, किशनगढ, बूदी दखिनी और मुगल शैली के अनेक चित्र उपलब्ध है जो तत्कालीन समाज और सस्कृति पर बड़ा प्रकाश डालते है। इनमे किशनगढ़ शैली के नौका-विहार, दीपावली, होली आदि के चित्र, मेवाड शैली का दास-प्रथा पर प्रकाश डालने वाला चित्र तथा अमरसिंह और शाहजादी का चित्र विशेष उल्लेखनीय है। इसी तरह कुवर श्री सग्रामसिहजी के सग्रह के बारामास, रागरागिनी, गीत गोविन्द, भागवत् मुगल सम्राट तथा नागौर शैली के फकीर और स्त्रियो के चित्र, शिकार के विविध प्रकार के चित्र तथा दरबारी जीवन के चित्र सामाजिक स्थिति पर अपूर्व प्रकाश डालते है।

अत यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति न होगी कि राजस्थानी चित्रकला युग-युगान्तर की सस्कृति का माप दण्ड है। जब मानव गुहा-गृही था, तब राजस्थान मे चट्टानो पर मानव सघर्ष, आखेट वन्य जीवन के चित्र बने। शुग व गुप्तकालीन भित्ति चित्रो के अवशेष भी यहा खोजे गये है जिनमे सौन्दर्य और सजीवता टपकती है। अपभ्र श शैली, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, भी भित्ति, पुस्तक और चित्रपट के रूप मे देखी गई है जो उस काल के सास्कृतिक उत्थान का अच्छा उदाहरण है। मुगल काल मे सास्कृतिक नव चेतना राजस्थानी शैली मे प्रविष्ट कर चुकी थी जिसका हम बारामासा व रागरागिनियो के चित्रो मे देख पाते है। इनमे चित्रकार प्रत्येक रागिनी के निर्दिष्ट भावों को इस प्रकार व्यक्त करता है कि चित्र स्वत सामिक बन जाते है। बारामासा के चित्र तो लोक जीवन तथा प्रकृति चित्रण के अनूठे उदाहरण है। चित्रकार राजपूत योद्धा तथा उसकी प्रेयसी के भावों को इन चित्रों मे चित्रित करता है कि उसकी प्रियतमा उसे प्राकृतिक सौन्दर्य के [illegible] सास्कृतिक पर्वों के आकर्षणों द्वारा [illegible] घर मे ही रोक

ाती है। कभी-कभी कलाकार वियोग के चित्रण मे सयोग और सुख को मूर्त रूप दान कर जीवन को जीता जागता बना देता है। इनमे सामन्ती जीवन, लोक-ीवन, नारी जीवन, आमोद-प्रमोद के साधन आदि ऐसे चित्रित किये गये हैं कि उस ाल की सस्कृति दर्पण की भाँति स्पष्ट हो जाती है।

इसी तरह राजस्थानी कलाकार ने अनेक चित्रो द्वारा राजस्थानी गीत और र्व, उत्सव तथा मेलो का ऐसा सयोग बिठाया है कि वे सभी इस युग की सस्कृति े साधन बन जाते हैं। बारामासा तथा राग-रागिनियो के चित्र जो राजस्थान के ग्रहालयो मे मिलते है इस अद्वितीय सयोग के समुचित उदाहरण है।

इन सभी शैलियो के चित्रो को देखने से लगता है कि राजस्थान का कला-ार सहृदय प्राणी है जिसकी प्रत्येक कृति मे कला का वह चमत्कार दिखाई देता है के इसमे इह लौकिक और पारलौकिक जीवन की अनुभूति प्रकट होती है। भारतीय चत्रकला की भाँति यहा की कला मे शारीरिक सौष्ठव उतना नही मिलता क्योकि स प्रकार की कला का उद्भव स्थान हृदय है। यह कला भाव प्रधान है, रूप ्रधान नही। इसका सास्कृतिक महत्त्व इसमे है कि कलाकार ने रग और रेखा द्वारा ावो को सजीव किया और धार्मिक चेतना को जगाया।

राजस्थान मे विषयो को लेकर इतने चित्र उपलब्ध हैं कि वे सभी एक जीवित ससार प्रस्तुत करते हैं जिनमे नगर, वन, ग्राम जीव, जन्तु, झोपडी, महल, दुर्ग, युद्ध, वनस्पति, उत्सव, रति, भोग, सयोग, विरह आदि सम्मिलित हैं। जहा राजा-रानी चित्रित हैं, वहा कलाकार की तूलिका ने ऋषि, मुनि, अमीर-गरीब और कगाल को भी चित्रित किया है। इन चितारो ने विलासी और आध्यात्मिक जीवन की विविध स्थितियो का सही अकन कर राजस्थान की सस्कृति को मूर्त रूप प्रदान करने मे कोई कसर नही रखी है। यहा का चित्रकार इतना सुबोध भी रहा है कि कही-कही पौराणिक कथाओ और लोक गीतो को अकित कर जन साधारण के लिए उच्च आदर्शों और विशुद्ध आचरणो के मार्ग को भी निर्दिष्ट किया है। राधा-कृष्ण के चित्रो द्वारा तो गार्हस्थ जीवन की सभी स्थितिया स्पष्ट कर दी गई हैं। जहा राज-पूत नारी के जीवन के अकन हैं वहा भारतीय हिन्दू नारी का आदर्श जीवन झलकता है। डाक्टर, कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि "राजपूत चित्रकारो की कृत्तियो का सम्मान ससार के सुन्दरतम चित्रण की पक्ति मे होना चाहिये। वास्तव मे इन चित्रो के विषय जनता के हृदय और उनके काव्य सगीतादि से सम्बन्धित हैं।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल[1] राजस्थानी चित्रकला की विशेषता बतलाते हुए लिखते हैं कि "राजस्थानी चित्र शैली स्त्रियो की सुन्दरता की खान है। भारतीय नारी के आदर्श सौन्दर्य की उसमे पूरी छटा है। कमल की तरह उत्फुल्ल बडे

---

1 शरण अग्रवाल—राजस्थानी चित्रकला, राजस्थान साहित्य और सस्कृति, पृ 122-124.

मे आयोजित किये जाते है, जिनसे पात्र और दर्शक भली प्रकार परिचित रहते हैं। यहाँ तक कि एक गाँव या गाँव समूह मे प्रस्तुत होने वाले लोक नाट्यो मे वेशभूषा, ढाल, नृत्य, सवाद आदि मे बडी समानता रहती है। हर गाँव मे इसके कोई न कोई पात्र रहते है जो इसको व्यवसाय के रूप मे नही अपनाते, अपितु इसके प्रसगो को रुचि से याद रखते है और जिन्हें बडे सम्मान की दृष्टि से खेला जाता है और देखा जाता है। सभी प्रदर्शन साधारण जीवन के अग होते हैं और अपने आप मे लोक कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। प्रदर्शको मे नाई, कुम्हार, बैरागी, भील, भाट, सरगडे, ब्राह्मण आदि सम्मिलित होते हैं।

अलबत्ता कई लोक नाटक व्यवसायियो के द्वारा भी खेले जाते हैं। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थानो मे जाते हैं और रासलीला, ख्याल एव स्वाग के द्वारा लोगो का मनोरजन करते है तथा सास्कृतिक पक्षो का प्रदर्शन करते है। कभी-कभी नाटक, ख्याल आदि के कथानक शास्त्रीय या पौराणिक तत्त्वो मे ओत-प्रोत रहते है। ऐसे मौलिक सिद्धान्तो के कुछ अशो को सवाद, हास्यास्पद या भावात्मक नृत्यो मे भी प्रदर्शित कर दर्शको को सम्मोहित किया जाता है। जब ऐसे सामुदायिक नाटको का स्वरूप व्यवसाय प्रधान हो जाता है तो लोक नाटको की धुन और प्रदर्शन मे आधुनिकता भी प्रवेश कर जाती है और उसके लौकिक स्वरूप मे गिरावट आ जाती है।

लीलाएँ

अब हम कुछ एक स्थानीय लोक नाटको की विशेषता पर प्रकाश डालते हैं जो सामुदायिक एव व्यावसायिक हैं और जिनके द्वारा लोक सस्कृति के धार्मिक एव सामाजिक जीवन के पक्ष उजागर होते हैं। रामलीला व रासलीला के खेल विशेष रूप मे मेवाड, भरतपुर और जयपुर क्षेत्रो मे बडे लोकप्रिय है। रामायण और भागवत पर आधारित कथाओ के साथ लोक जीवन को इस तरह प्रदर्शित किया जाता है कि राम व सीता अथवा कृष्ण और राधा एक साधारण व्यक्ति के रूप मे आते है और उनकी पोशाकें भी लोक परिपाटी के अनुकूल होती है। इन प्रदर्शनो मे धर्म, नैतिकता, मनोरजन और व्यावहारिकता को इस तरह सजोया जाता है कि लोक जीवन का सच्चा स्वरूप प्रकट हो जाता है। आज अलबत्ता इन लीलाओ के प्रति पात्र और दर्शक उदासीन है और उनका प्रचलन कम हो चला है, फिर भी दशहरे के अवसर पर यत्र-तत्र इनका आयोजन होता रहता है। भरतपुर, अलवर, करौली आदि भागो मे रासलीला का प्रचलन अद्यावधि भी देखा गया है। इन खेलो की भाषा स्थानीय रहती है और कई प्रसगो को सवाद अथवा गीतो के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। बीच-बीच मे हास्यास्पद मनोरजक होते है।

रम्मत

[illegible] लोक नाटको मे "रम्मत" सामुदायिक स्वाग

को निभा रही हैं। रम्मत मे सभागी सभी जाति के लोग होते है और सभी समुदाय के लोग इसमे रस लेते हैं। भाषा और क्षेत्रीय रगत के कारण "रम्मत" की लोकप्रियता अन्य क्षेत्रो मे नही है। प्रारम्भ मे ही समस्त पात्र रंगमच पर बैठे मिलते हैं और अपना-अपना करतब दिखा कर स्थान ग्रहण करते हैं। इसमे टेरियो और गायको की प्रमुखता रहती है।

ख्याल

ख्याल सम्पूर्ण राजस्थान मे अपनी क्षेत्रीय रगत के लिए बडे लोकप्रिय है। इनमे अनेक वीरो की कहानियाँ इस तरह समाविष्ट है कि वे वीर रस प्रधान होते हुए भी अन्य रसो को व्यक्त करने मे पीछे नही रहते। जब इन ख्यालो को व्यावसायिक होने का अवसर मिला तो विषय एव रगत की विशेपता ने इन्हें राजस्थान से बाहर भी लोकप्रिय बनने का अवसर दिया। ये ख्याल कभी-कभी धार्मिक कथानको को गायन, वादन और सवाद मे सम्मिश्रित कर इनकी उपयोगिता को बढा देते हैं। धर्म और वीर-रस प्रधान ख्यालो मे एकरूपता तो नही दिखाई देती, परन्तु ध्येय की दृष्टि मे अपने-अपने क्षेत्र मे इनमे विविधता आ जाती है, फिर भी इनकी लोकप्रियता बनी रहती है। इन ख्यालो को क्षेत्रीय भाषाओ और स्थानीय परिवेश मे रखे जाने से यह नही समझना चाहिए कि इनकी सास्कृतिक इकाई मे कोई व्यवधान है। वे ख्याल परम्परा के अग हैं। अमरसिंह को ख्याल, रूठी राणी रो ख्याल, पद्मिनी रो ख्याल, पार्वती रो ख्याल आदि भिन्न-भिन्न रगत प्रस्तुत करने पर भी सास्कृतिक आधार मे समान है।[2]

भवाई नाट्य

राजस्थान मे भवाई नाट्य अपने ढग का अनूठा नाट्य है। इसमे पात्र व्यग्यवक्ता होते हैं। तात्कालिक सवाल-जवाब तथा सामयिक समस्याओ पर चोट करना इनका प्रमुख काम है। इनके खेल परम्परा पर आधारित रहते है परन्तु पात्र स्थानीय एव सामयिक समस्या को लेकर व्यग्यो का निरूपण कर दर्शकों को दग कर देते है। इनका कोई रंगमच नही होता, परन्तु कुशाग्र सवाद से इनके प्रदर्शन मे समा बध जाता है। भवाइयो के नाटको के मूल लेख परिवर्तित होते रहते हैं। इनमे गायकी के गायन और भवाइयो की हंसी-मजाक और सवाद तथा नृत्य बडे रोचक होते हैं। इनमे कथानक तो गौण हो जाते हैं और गायन, हास्य और नृत्य पूरे तौर पर छा जाते है।

गवरी

वादन, सवाद, प्रस्तुतीकरण और लोक सस्कृति के प्रतीको मे मेवाड की 'गवरी" निराली है। इसमे कई तरह की नृत्य नाटिकाएँ होती है जो पौराणिक

---

2 लोक नाट्य परम्परा और प्रवृत्तियां, प्रस्तावना, देवीलाल सामर, पृ० 12।

कथाओं, लोक गाथाओं और लोक-जीवन की विभिन्न झांकियो पर आधारित होती है। गवरी का उद्भव शिव भस्मासुर की कथा से तथा किवदन्तियो पर आधारित है। ऐसी मान्यता है कि भस्मासुर ने अपनी तपस्या से शिवजी को प्रसन्न कर भस्म करने की शक्ति प्राप्त कर ली। उसने पार्वती को लेने के लिए शिव पर ही उसका प्रयोग करना चाहा। अन्त मे विष्णु भगवान ने अपनी शक्ति से शिव को बचाया और भस्मासुर का उसी के हाथ को सिर पर रखवा कर अंत किया। इसी सन्दर्भ मे शिवजी ने भीलो के साथ नृत्य किया जो आगे चलकर गवरी के रूप मे प्रचलित हुआ।

गवरी का आयोजन रक्षा बन्धन के दूसरे दिन मे शुरू होता है। खेडा देवी से भोपा भादवा कृष्ण एकम् को आज्ञा लेता है। इसके बाद पात्रो के कपडे बनते हैं। पात्र मन्दिरो मे "धोक" देते है और नव-लाख देवी-देवता, चौसठ योगिनी और बावन भैरू को स्मरण करते हैं। दो चार गांवो के समझौते के बाद गवरी आरम्भ होती है, जिसके पात्र व्रत और संयम रखकर इसको स्थान-स्थान पर जाकर खेलते है।

गवरी का मुख्य पात्र बूढिया भस्मासुर का रूप होता है और अन्य मुख्य पात्र "राया" होती है जो स्त्री वेष मे पार्वती और विष्णु की प्रतीक होती है। झामट्या नाम का पात्र लोकभाषा मे कविता बोलता है और खट्कड्या उसको दोहराता है और बीच-बीच मे जोकर का काम करता है। बूढिया भी खट्कड्ये के समय-समय पर संवाद मे पूरक बनता है। शेष सभी पात्र "खेला" कहलाते है। गवरी मे पुरुष पात्र होते हैं। पात्रो के खेलो मे गणपति, ममरिया, भेआवड, मीणा, कान-गूजरी, जोगी, लाखा बणजारा, नटडी तथा माता और शेर के खेल होते हैं। कान्ह-गुजरी के खेल मे मजीरा और चीमटे बजते हैं और अन्य खेलो मे मादल और थाली बजती है। खेल के पात्रो मे जादू, टोना और तान्त्रिक प्रयोग किये जाते हैं, जिन्हें "झाडा-फूंका" के माध्यम से ठीक किया जाता है। ये प्रदर्शन दर्शको को आश्चर्य मे डाल देता है। बीच-बीच मे भोपे को ताव आता है जिसमे पूछ होती है और उसके उत्तर दिये जाते हैं।

गवरी सवा महीने तक खेली जाती है। इस अवधि मे राई, बूढिया और भोपा नंगे पांव रहते हैं, जमीन पर सोते हैं और स्नान नहीं करते। कुछ क्षेत्रो मे राई, बुढिया दूध पीकर ही रहते हैं। शराब, मांस और हरी सब्जी का इस अरसे मे निषेध रहता है और बहुधा एक भुक्त रहना अच्छा माना जाता है। गवरी का व्यय, प्रमुख गांव, जहां से गवरी आरम्भ होती है, वहन करता है और जिन गांवो मे गवरी खेली जाती है, खाने-पीने का व्यय उस गांव वाले वहन करते हैं। आदिवासियो की गवरी गांव के चौराहे से प्रारम्भ होती है और शकुन लेकर दिशा निश्चित कर आगे गांवों के लिए प्रस्थान करती है।

गवरी रामाप्ति पर दो दिन पहले जवारे बोये जाते हैं ग्रौर एक दिन पहले कुम्हार के यहाँ से मिट्टी का हाथी लाया जाता है। हाथी ग्राने के बाद भोपे का भाव बद हो जाता है। मय जवारा ग्रौर हाथी के गवरी विसर्जन प्रक्रिया होती है जिसे किसी जलाशय मे विसर्जन करते हैं। कही-कही उन्हे गाँव के बाहर गाड दिया जाता है। गवरी ममाप्ति के छठे दिन नवरात्रि का ग्रारम्भ हो जाता है।

यह पर्व ग्रादिवासी जाति पर पौराणिक तथा सामाजिक प्रभाव की ग्रभिव्यक्ति हैं। इसकी लोकप्रियता मभी जातियो के लोगो की इसमे रुचि लेने मे सुस्पष्ट है। ग्रनेक खेल, कथानक, वीर-गाथाग्रो मे जुडी हुई यह नृत्य नाटिका गवरी के ग्रारम्भ ग्रौर समाप्ति मे पूर्ण रूप से स्वीकार की जाती है। ध्वजारोपण ग्रौर ध्वज का ग्राद्योपान्त रखना दैविक शक्ति की मान्यता पर वल देना है। यह ध्वज एक प्रकार से ग्रनुयायियो, दर्शको ग्रौर पात्रो के वीच दैवी शक्ति की मान्यता पर वल देता है ग्रौर पात्रो के वीच दैवी शक्ति की प्रधानता स्वीकार करने का माध्यम का काम करता है। भोपे, पात्र ग्रौर दर्शक सभी खेल के हर क्षण देवी की प्रत्यक्षता ग्रनुभव करते रहते हं। युद्ध, विजय ग्रौर पराजयो तथा मृत्यु के प्रसंग देवी के ग्राशीर्वाद से ग्रारम्भ ग्रौर समाप्त होते हैं। ऐसा लगता है कि गवरी के द्वारा सम्पूर्ण वातावरण ग्रास्था से ग्रोत-प्रोत हो जाता है। इसके द्वारा नाटकीय ग्रभिव्यक्तियाँ एक ऐसी मामाजिक स्वतन्त्रता की प्रतीक वन जाती हैं कि इसमे जात-पात, रग ग्रौर वर्ण भेद का कोई स्थान नही रहता। देव ग्रौर देवताग्रों की ग्राराधना के प्रसगो में गवरी के पात्र पूर्ण स्वतन्त्रता मे कई रस्म-रिवाजो तथा गाँव के ग्रधिकारियो की ग्रालोचना एव समर्थन करते हैं जिसमे दर्शको मे एक सामाजिक चेतना ग्रनायाम प्रवेश कर जाती है ग्रौर स्वतन्त्र जीवन का सूत्र वन जाती है।

गवरी के सम्वन्ध मे डॉ० भानावत[3] ने ग्रच्छी समीक्षा प्रस्तुत की है। गवरी नाट्य मे भीली सस्कृति का प्राधान्य रहा है। भीलो के साथ-साथ सामान्य लोक-जीवन के रहन-सहन, ग्राचार-विचार, क्रिया-कर्म, रूढि, विश्वास तथा जीवन दर्शन के तत्त्व भी गवरी मे ग्रपने विशिष्ट रूप मे चित्रित हुए मिलते हैं। इसमे प्रदर्शित सभी स्वाग ग्रपने-ग्रपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। गवरी के गरडा तथा गोमा खेल मे भील-मीणो के रूप खुलकर प्रदर्शित हुए हैं। कालवेलिया झाड-फूक तथा तन्त्र-मन्त्र द्वारा जन-जीवन का मनोरजन कर ग्रपना पोषण करता है। नट वाँस तथा लाव के महारे नाना प्रकार की ग्रग भगिमायें दिखाकर सामाजिको को ग्राश्चर्य-चकित कर देता है। इसी प्रकार गवरी के ग्रन्य स्वागो मे भी ग्रपने-ग्रपने वर्ग की कला-सस्कृति का प्रतिनिधित्व रहा है।

"जिन लोक नाट्यो मे मनोरजन की प्रवृत्तियाँ जितनी ग्रधिक होगी, वह

---

3. महेन्द्र भानावत, लोकनाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृ० 5-6

नाट्य उतना ही लोक जीवन की कसौटी पर खरा उतरेगा। इस दृष्टि से गवरी नाट्य जन-मन रंजन का प्रबल माध्यम है। इसका मूलोद्भव ही उल्लास मूलक रहा है। उल्लास की यह मात्रा नृत्य, गीत, अभिनय, वार्ता, सज्जा आदि प्रत्येक पहलू मे देखने को मिलती हैं। गवरी के मूल मे परम्परा तथा रूढ़ियो का भी बड़ा योग रहा है। इन रूढियो मे लोक दृष्टि की व्यापकता, विशालता तथा अनुभवशीलता की गहन अनुभूतियाँ देखने को मिलती हैं।"

गेर

आदिवासियो के क्षेत्रो मे होली के अवसर पर लगभग पूरे मास गेर नृत्य का चलन बड़ा उल्लासमय और स्फूर्तिदायक रूप मे होता है। सामूहिक रूप मे, विशेष-कर पुरुष, लकड़ियो के डके के साथ नाचते हैं जिसमे प्रत्येक अग का भाग तोड और मरोड के साथ ताल से नाचता है और बीच मे ढोल का ढमका बजता रहता है। लगभग आधी रात तक यह क्रम चलता रहता है। कभी-कभी स्त्री-पुरुष के जोडे एक कतार मे दो दलो के रूप मे पास आते हैं और पीछे हटते हैं। इस नृत्य मे भीली सस्कृति की प्रधानता रही है। इसके साथ जो सगीत की लडियाँ गाई जाती है, वे किसी वीरोचित गाथा के या प्रेमाख्यान के खण्ड होती है। फसल की खुशहाली के द्योतक लयो को भी गा-गाकर नृत्य के साथ जोडा जाता है। इस नृत्य की लोक-प्रियता इतनी बढ गयी कि भीलो के अतिरिक्त अन्य जातियाँ भी इस अवसर पर "गेर" बनाकर नाचते रहते हैं और इसके साथ गाते भी हैं। कृषक समाज मे भी इसका प्रचलन है जो फसल काटने के पश्चात् और फसल बोकर गेर करते हैं। राजस्थान के नरेशो के महलो मे होली के ठीक बाद दो-चार दिन तक विभिन्न जाति की "गेरे" जाती थी और नाच का प्रदर्शन करती थी।[4]

नृत्य

पुरुष प्रधान नृत्यो की भाँति राजस्थान मे महिलाओ द्वारा भी कुछ नृत्यो का आयोजन होता है जिसमे एकल, युगल और सामूहिक नृत्य मुख्य हैं। "ऊब-नाच" मे महिला अकेली नाचती है जिसमे हाथ, पैर और कमर का मुडाव बडा रोचक होता है। सिर पर घडा या घडे रखकर नाचना "मटकी नाच" कहलाता है जो कई करतबो मे जुडा रहता है। सामूहिक रूप मे "चपटी नाच", ताली-नाच, "डडिया नाच" भी बडे रोचक होते हैं। विवाह तथा गणगौर के अवसर पर या तीज के त्योहार पर इन नाचो का विशेष महत्त्व रहता है। श्रावण मास मे इस प्रकार के नाचो की छटा बडी अद्वितीय होती है।

गरबा

महिला-नृत्य मे गरबा भक्तिपूर्ण नृत्य का अच्छा उदाहरण है। यह

---

4 डॉ॰ जे॰ एन॰ शर्मा—सोशल साइफ इन मेडियल राजस्थान, पृ० 140-41

नृत्य शक्ति की आराधना का दिव्य रूप है जिसे गुजरात के प्रत्येक शहर और गाँव मे नवरात्रि के अवसर पर देखा जाता है। गुजरात से जुडे डूगरपुर और वासवाडा मे भी इसका प्रचलन व्यापक रूप मे है। इसके साथ-साथ द्रविड सस्कृति के भट्ट, मेवाडा, नागर, अवदिच्य आदि जातियो मे "गरवा" लेने की परम्परा है। गुजरात से आई हुई, कई जातियाँ जो राजस्थान मे वस गई हैं, भी "गरवा" के अवसर को वडे धूमधाम से मनाती है।

गरवा का स्वरूप रास, गरवा, डाँडिया, गवरी आदि मे अभिव्यक्त होता है जो लास्यकला के प्रकार है। ऐसी मान्यता है कि प्रारम्भ मे इस कला का उपयोग आद्यशक्ति की आराधना से प्रारम्भ हुआ। इसकी आराधना मे मिट्टी के घडो मे छिद्र कर और उसमे ज्योति प्रज्वलित कर और उसे सर पर रख स्त्रियाँ गर्भगृह के आसपास प्रदक्षिणा करती थीं। धीरे-धीरे यह विधि गोलाकार नृत्य मे परिणत हो गई।

मुख्य रूप से गरवे के तीन स्वरूप देखे जाते है। पहले मे शक्ति की आराधना एव अर्चना है। दूसरे मे कृष्ण-राधा गोप-गोपियो का प्रणय चित्रण और रास नामक नृत्य मे प्रस्तुतीकरण है। तीसरी विधा के अन्तर्गत लोक जीवन का सौन्दर्य पक्ष प्रस्तुत किया जाता है जिसमे पनिहारी, नव-वधु की भावुकता, गृह-कार्य मे रत स्त्रियो का चित्रण रहता है। आराधना-दीपक, कलश, नृत्य, ताली, चुटकी से नाच होता है और घरो मे अखण्ड ज्योति दुर्गा, अम्बिका, माता की आराधना मे लगाई जाती है। नवरात्रि की समाप्ति के अवसर पर इसका विसर्जन होता है। गरवा लेते समय अनेक लयो मे गीत गाये जाते हैं जो अम्बा की भक्ति के पोषक होते है या जिनमे नारी की समस्त भावनाओ को वाद-माधुर्य और अर्थ-सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

गरवा नृत्य लोक जीवन और दैवी शक्ति की अप्रतिमता प्रस्तुत करता है। इसमे मानव सस्कृति और पारलौकिक भावनाओ का अनुपम सम्मिश्रण है। विशिष्ट वर्ग अथवा जाति से सम्वन्धित होते हुए भी गरवा लोक जीवन के आदर्श और कला का अग वन गया है। जव गरवा आरम्भ होता है या विसर्जन होता है तव सभी वर्ग के लोग इसमे आस्था व्यक्त करते है जिससे इसमे वर्णभेद नही रहता। गरवा ने लोक जीवन को धर्म और सस्कृति के प्रति आस्थावान वनाने तथा परम्परागत भक्ति तथा रूढियो को स्थायित्व प्रदान करने मे वड़ा योग दिया है। गुजरात और राजस्थान की सस्कृति के समन्वय का सुन्दर रूप हमे "गरवा" नृत्य मे देखने को मिलता है।

गरवा मे गाये जाने वाले वाने पदो मे सौभाग्य, कल्याण, प्रेम और उल्लास प्रतिध्वनित होते है। हास्य रस का समावेश देवर, भौजाई, ननद, सौत, सास आदि को लेकर गरवा के गीतो मे किया जाता है। राधाकृष्ण के प्रेम अथवा मीरां की

भक्ति से सम्बन्धित गीतो की लय गरबा मे रहती है। इन पदो मे कितना सौन्दर्य और आसक्ति है—

> "नागर नदजी ना लाल
> रास रमता मारी नथनी खोवाणी"
> "हूँ तो जोगण बनी छू म्हारा बालमजी,
> बालमजी, प्रेम आलमनी"
> "उगे छे—प्रभात आज धीमे-धीमे
> उगे छे उषानु राज्य धीमे-धीमे"

लोकगीत

राजस्थानी लोकगीत सगीत के क्षेत्र मे अनमोल है। इनको किसी ने न लिखा है और न इनके रचयिता का पता है। इनका प्रादुर्भाव मानव मानस और वाणी से सम्बन्धित है। ये मौखिक परम्परा और अनुश्रुति पर आधारित रहे है। मानस पटल की उपज होने के नाते इनमे सास्कृतिक और कलात्मक प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट कर जाती है। इनमे मानव समाज की विशुद्ध मनोवृत्तियाँ और भावनाएँ समयोचित प्रसगो पर हर्ष-विषाद, प्रेम-ईर्ष्या, उल्लास, भक्ति आदि प्रकट होती है। मौखिक होने से एकल और बहुधा सामूहिक रूप मे इन्हे गाया जाता है।

इनके द्वारा बुद्धि, ज्ञान, सौन्दर्य, सुख, भक्ति तथा आनन्द का अनुभव होता है। विवाह, जन्म या अन्य त्यौहारो पर पति-पत्नी, ननद-भौजाई, सती, मातृ-भक्ति, शौर्य, रीति-रिवाज, भक्ति, आराधना, ज्ञान, दर्शन, नीति आदि विषयो को प्राचीन और वर्तमानकालीन आदर्शों और मानव धर्म के सिद्धान्तो के रूप मे इनमे व्यक्त किया जाता है। गीतो मे उपदेश और त्याग का इतना वर्णन रहता है कि गाने वाले और सुनने वालो मे एक नई प्रेरणा का भाव भर जाता है। विवाह और पुत्र जन्म के गीतो मे उल्लास है तो पुत्री की विदाई मे लौकिक दुःख का प्राधान्य है। इसी तरह रात्रि-जागरणो के गीतो मे भक्ति रस समाया मिलता है। तीज के त्यौहार के गीतो मे प्राकृतिक छटा और पति-पत्नी संयोग या वियोग तथा सहेलियो के सहवास के भावो का अच्छा संयोग दिखाई देता है। जन-जीवन मे व्याप्त रूप, कामनाएँ और अभिलाषाओ का यदि अविरल स्रोत प्राप्त करना है तो वह लोकगीतो मे मिलेगा।

लोकगीतो का माध्यम जितनी स्त्रियाँ है, उतने पुरुष नही। जितना प्रेम, हर्ष विषाद, पीड़ा और उल्लास का चित्रण महिलाएँ कर सकती है, अन्य व्यक्ति नही कर सकते। उनके कण्ठ स्वर निकलते है व वास्तविकता के निकट सहज मे पहुँचते है। गीत के बोल बालिका अवस्था से यौवन या प्रौढ अवस्था तक वेद वाक्य बन जाते, जिससे महिलाओ मे एक अनमोल आस्था और शक्ति उत्पन्न होती है।

वेदो की भाँति लोकगीत हमारी सस्कृति के अटूट भण्डार बन जाते हैं और समाज के भव्य भवन को स्थायित्व प्रदान करते है।

गणगौर के अवसर पर गाये जाने वाले अनेक गीतो मे भक्ति और प्रेम टपकता है जो साहित्य की दृष्टि मे बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

खेलण दी गिणगौर भंवर, म्हांनै पूजण दौ गिणगौर
ओ जी म्हारी सैयां जोवे बाट, भंवर म्हानैं खेलण दौ गिणगौर

इसी प्रकार यौवन की पिपासा के साधनों के जुटाने मे स्त्री हृदय कितनी शान्ति का अनुभव करता है जो इस गीत मे प्रकट है—

"चुग-चुग कलियां सेज बिछाई
पौढणरी रुत आसी"

मारूजी को सम्बोधित कर सौभाग्याकाक्षा का रूप भी इन पक्तियो द्वारा पत्नी व्यक्त करती है—

"उदयपुर से तो सायवा पीलो मंगाओजी
तो नानीसी बंधण बंधाओ गाढा मारूजी"

विवाह या विनोले के अवसर पर गाये जाने वाले गीत मे राजस्थान की गर्मी और सौन्दर्य का अच्छा वर्णन है—

"धूम पड़े धरती तपें रे
गोरी गोर मुखडो कुम्हलाय"

तीज सम्बन्धी गीत मे कितनी लालसा है—

"तीज सुण्यां घर आव
मझल आपरी नौकरी महाराज
तीज सुन्यां घर आव

होली सम्बन्धी गीत मे कितना उल्लास भरा है—

"म्हारी घूमर छे नखराली ए मां,
घूमर रमवा म्हे जास्यां।"

लोकवाद्य

विश्व की भाँति राजस्थान मे भी लोक सगीत किसी न किसी लोकवाद्य के साथ जुडा हुआ है। पाबूजी की कथा के साथ रावण हत्था या गूजरी, दगडावत के साथ गला लेग, अर्जुननग (बानवाडा, डूगरपुर) के साथ केन्द्र और अनेक बडी गेय कथाओ के साथ तदूरा व मजीरा जुडे हुए हैं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि अनेक अवदानात्मक (लिजेंड्री) नायको के साथ वाद्य विशिष्ट रूप मे प्रयुक्त हो रहे हैं। इसी प्रकार देवियो के साथ भी वाद्य है। कैलादेवी के मेले मे नगाड़े, ताने और

तीनतारा है जो सारंगी की तरह बजाया जाता है। उसके तीन मुख्य तार घोड़ों की पूंछ के बाल के गुंथाव से लगाये जाते हैं। जोगिया सारंगी का प्रसार पूरे अलवर, भरतपुर जिले में है—साथ ही झुंझनू, सीकर से लेकर नागौर तक पहुंच गया है। जोगियों के साथ ही साथ कोली, माली व गूजर भी एक अन्य प्रकार का पूंगी वाद्य बजाते हैं। इस क्षेत्र में इसे पूंगी कहा जाता है। सामान्यतः तूंगी नामक वाद्य का नाम सपेरों से जुड़ा हुआ है। नलीवाले आकार के तूंबे से यह वाद्य बनता है। किन्तु इस क्षेत्र में पूंगी का अर्थ मशक व बग पाइप है। बकरी की खाल से बनी एक बड़ी मशक है—इसमें एक ओर वाल्व लगे हुए मुख से फूंक भरी जाती है और रीड लगी हुई दो बांसुरियों से सांगीतिक ध्वनि निकलती है। सांगीतिक रूप में पूंगी का प्रयोग सीमित है। इसमें केवल पांच छेद होते हैं जो पूरे सप्तक का काम नहीं करते। इस प्रकार के पांच छेद वाले वाद्य लक्ष्मणगढ़ के मीणा क्षेत्र से लगे आदिवासी जन समाज में प्रचलित हैं जो बैराट और मेवाड़ तक चले जाते हैं। भीलवाड़ा के निकट भी भीलों द्वारा देशी मशक बनाई जाती है। लक्ष्मणगढ़ एवं उसके आस-पास के क्षेत्र में मेव व मीणों की बड़ी बस्तियां हैं। इन मेवों में मिरासी हैं जो गायक हैं। ये चिकारा, जोगिया सारंगी, शास्त्रीय सारंगी जैसे तन्त्र वाद्यों को बजाते हैं। भपग एक प्रकार का लय वाद्य है जो तूंबे पर चमड़ा मढ़ कर एक तार के तनाव से बजता है। मिरासियों में भपगवादन अत्यन्त जटिल लयों को अनुबंधित कर सकता है। भीलों में ढूंचकों एवं भपूंग वाद्य प्रचलित हैं। हमारी ढोल, शहनाई, ढोलक, पुंगिया आदि का प्रयोग विवाह आदि उत्सवों में करते हैं।[5]

लोकगीत, लोकनाट्य एवं लोकवाद्य राजस्थानी संस्कृति एवं सभ्यता का प्रमुख अंग रहे हैं। आदिकाल से लेकर आज तक इन कलाओं का विविध रूप में विकास होता आया है। इन कलाओं का पारस्परिक सम्बन्ध भी घनिष्ठ है। इन सभी का साथ-साथ प्रयोग रंगमंच पर या चौराहों पर एक विलक्षण समा बांध देता है। ये कलाएं किसी न किसी रूप में शास्त्रीय संगीत की सीधी विधाओं से नहीं जुड़ी है, परन्तु लय और ताल में समानता आ जाती है। यदि इन कलाओं के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि हर युग में इनमें एकरूपता रही है जिनकी अभिव्यक्ति राजस्थानी जन-जीवन में प्रस्फुटित हुई है। इन विधाओं के विकास में भक्ति, प्रेम, उल्लास और मनोरंजन का प्रमुख स्थान रहा है। इनके पल्लवन में लोक आस्था की प्रमुख भूमिका रही है। बिना आस्था और विश्वास के इन लोक कलाओं के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्मरण और अनुभव शक्ति के ही सहारे से आज लोककला के संगीत-तत्व जीवित हैं।

लोककला का राजस्थानी स्वरूप आज भी भारतीय लोककला का सर्व

---

5 [illegible] राजस्थान पत्रिका, 5 जू[illegible], 1983।

गर्वा नृत्य

दिशा देने मे अग्रणी है। उनकी केन्द्रीय स्थिति से पजाब, मध्य भारत एव गुजरात तथा उत्तर प्रदेश इन लोक कलाओ मे प्रभावित है। उन भागो के विविध जीवन पक्षो मे राजस्थानी लोक कलाओ के प्रभाव का दिग्दर्शन होता है। इन कलाओ के विषय और साहित्य ने भारत के ही नही, विदेशो के कला-मर्मज्ञो के हृदय को आकर्षित करने मे सफलता प्राप्त की है। गार्हस्थ्य जीवन की सभी साधे लोक कला के माध्यम से प्रकट हुई हैं।

अध्याय 12

उपसंहार

मानव प्रयास के इतिहास मे भारतीय सस्कृति का अपना स्थान है। आज भी यदि हम इस सस्कृति का अध्ययन करना चाहते हैं तो इसकी आत्मा का दिग्दर्शन राजस्थान के जन-जीवन, प्राचीन अवशेष तथा साहित्य और कला के प्रतीको के द्वारा किया जा सकता है। यहाँ की सस्कृति का इतिहास आज से प्राय 5,000 वर्ष पहले सरस्वती और दृषद्वती की घाटी से प्रारम्भ होता है। यहा से प्राप्त पत्थर के और मिट्टी के आभूषण, घरेलू बर्तन, तश्तरिया, प्याले, खिलौने इस बात के प्रमाण हैं कि नदी-घाटी की सस्कृति और सभ्यता विकासमान थी। इन दोनो नदियो की बीच वाली भूमि आर्यों का पवित्र ब्रह्मावर्त था जहाँ वैदिक साहित्य की रचना का श्री गणेश हुआ। यह सस्कृति इतनी प्रगतिशील थी कि उसका प्रसार बनास, आहड, बाकम तथा चम्बल के क्षेत्र तक विकसित हुआ। इन्ही विभिन्न क्षेत्रों म साहित्य, कला, भाषा, धर्म, अनेक रूप मे युगयुगान्तर की यात्रा करते रहे। इतने लम्बे समय से गुजरने पर भी सस्कृति की अविच्छिन्नता का प्रवाह यथावत् बना रहा।

राजस्थान के भू भाग पर आक्रमणो एव युद्धो का दौर लम्बे समय तक चलता रहा। विशेषता यह थी कि आर्य और अनार्यो का सघर्ष स्थल होने पर यहाँ समन्वय की प्रक्रिया साथ ही साथ चलती रही। कई शौर्यशाली जातियो के युद्ध तथा राज्यो के सगठन और विघटन की घटनाएं होती रहीं जिनमे यौधेय, शिव, मालव आदि प्रमुख थे, परन्तु इस अवधि मे समन्वय की भावना जागृत रही और एक जाति दूसरी जाति की विशेषताओ का आदान-प्रदान करती रही। मध्ययुगीन विध्वसकारी आक्रमणो म क्रमिक परिपाक तथा आदान-प्रदान का क्रम अविरल धारा की भाति बहता रहा। इसका मूल कारण यह था कि राजस्थानी जन-जीवन और राजनैतिक व्यवस्था म भारतीय सस्कृति की आत्मा प्रतिबिम्बित थी। उसमे लचक और उदारता के आधार मौजूद थे। इसी आत्मसात् करने की चेष्टा के गर्भ मे विशुद्ध [illegible] [illegible] दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएँ निहित थीं। इन्ही परम्पराओ के तत्वो [illegible] माध्यम [illegible] [illegible] [illegible] सामाजिक एव सास्कृतिक [illegible]यागो का विकास

हुआ जिनकी अभिव्यक्ति धर्म, साहित्य तथा कला के लक्षणों मे आज भी परिलक्षित होती है।

धार्मिक दृष्टि से राजस्थान एक सास्कृतिक इकाई है। प्रारम्भ काल से चलने वाले धर्म अद्यावधि समाज को सगठित किये हुए हैं। चाहे शैव हो या शाक्त, जैन हो या अजैन सर्भ अपने को राजस्थानी मानते हैं तथा अपने-अपने धर्मानुपालन मे सुख और शाति का अनुभव करते है। साथ ही साथ यहाँ के विभिन्न धर्मावलम्बी एक दूसरे के धर्म को सहिष्णुता पूर्ण भाव मे देखते हैं। यहाँ तक कि इस्लाम धर्म के मानने वालों के साथ राजस्थान मे जो सौहार्द्र पूर्ण व्यवहार है अन्यत्र नही दिखाई देता। पुष्कर तीर्थराज और अजमेर की दरगाह का निकट बने रहना इस स्थिति को स्पष्ट करता है। यह स्वीकार करना पडेगा कि पवित्र नदियो, पावन तीर्थस्थलो और भक्ति परायण जन समुदाय का यह क्षेत्र महान् है। आधुनिक काल के सन्तों में दादू व दयानन्द सरस्वती अग्रणी रहे हैं जिन्होने धार्मिक जागरण के स्वर से सास्कृतिक समन्वय की यहाँ स्थापना की थी। गोगाजी और तेजाजी जैसे धर्म सुधारकों ने कृषि व शिल्प जीवी विभिन्न जातियो मे सास्कृतिक एकता स्थापन मे सफलता प्राप्त की। इनके आध्यात्मिक विचारो तथा वाणियो ने राजस्थान मे ही नही वरन् अपनी सामाओं से परे पडोसी राज्यों के निवासियो को एकता का आध्यात्मिक एव नैतिक आधार प्रदान किया है।

राजस्थान के रस्म-रिवाज, त्यौहार, मेले तथा उत्सव पौराणिक गाथाओ और विशुद्ध परम्पराओ से अनुप्राणित हैं। प्रत्येक पीढ़ी के साथ इन परम्पराओ मे निरन्तरता का समावेश होता रहता है। अनायास ही इन त्यौहारो के मनाने से तथा मेले और उत्सवो मे सम्मिलित होते रहने से अध्यात्मवाद, श्रद्धा एव भक्ति का पाठ सतत रूप से समाज मे व्याप्त होता रहता है। ऋतुचक्र से सम्बन्धित जन-धर्म नैसर्गिक रूप से समाज मे नई कल्पनाओ का सृजन करता है। इनके द्वारा पीढी दर पीढी के अनुभव परिपुष्ट होते हैं और नवीन प्रेरणा के स्रोत बनते है। इन सामाजिक व धार्मिक प्रथाओ के माध्यम से जीवन-पद्धति की नीव सुदृढ और गहरी होती जाती है और वही सस्कारो का प्रतिनिधित्व करती है। यदि हम राजस्थानी सस्कृति के लौकिक रूप को निहारना चाहे तो वह हमे इन सामाजिक त्यौहारो, उत्सवो और रस्म-रिवाजो मे मिलेगा जो गम्भीर एव सार्वभौम सिद्धान्तो पर आधारित हैं। भारतीय दर्शन, धर्म और सस्कृति का सच्चा स्वरूप आज भी हमे दीपावली, दशहरा, गणगौर, तीज आदि उत्सवो मे जीता जागता मिलता है। भारतीय और राजस्थानी सभ्यता के सृजनात्मक उपादान इन नियमित अनुष्ठानो मे निहित हैं। प्रकृति, जीवन, सभ्यता और धर्म की विशाल दृश्यावली इन धार्मिक और सामाजिक विधि विधानो मे मिलती है जो साधारण जन को धर्मशास्त्रो की जटिलता मे नहीं मिल सकती। अनायास ही जन-समुदाय अनेक तान्त्रिक और वैदिक तत्त्वो को जीवन-विधि द्वारा आत्मसात् कर लेता है जो दैनिक आचरण का अग बन जाता है। पारलौकिक

और लौकिक विधाओ का समन्वय प्रत्यक्ष रूप से इन त्यौहारो और उत्सवो के परिपालन मे मिलता है जो सच्ची सस्कृति का रूप है।

इन उत्सवो और पर्वो से जुड़ा हुआ सस्कृति का अग राजस्थानी साहित्य है जो गद्य और पद्य मे उपलब्ध है। यह साहित्य जीवन के अनेक पक्षो का उन्मीलन करता है। यहाँ की भूमि वीर-प्रसविनी रही है और यहाँ के निवासी शौर्य प्रधान जीवन को बिताते रहे हैं। इसलिए वीर-रस-प्रधान तथा स्वाभिमान एव नैतिकता मे ओत-प्रोत साहित्य सृजन की परम्परा यहाँ के जीवन का अग बन गई। राजस्थान के कई सतो ने भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी साहित्य से अपनी भावनाओ तथा आदर्शो को साधारण जनता तक पहुँचाया। राजस्थान के लोक-साहित्य का तो बडा महत्त्व है क्योकि वह भावपूर्ण है तथा जीवन के आदर्शो के तत्वो से परिपूर्ण है। बात, वशावली तथा ख्यात साहित्य मे इतिवृत्तात्मक कथाएँ मिलती हैं जो मानसिक, लौकिक, अलौकिक वृत्तियो को तुष्ट करने वाले तत्त्वो से सम्पन्न है। इसमे सामाजिक, नैतिक, तथा यथार्थवाद के आदर्श मिलते है जो सस्कृति के आधार है।

जन मानस की अभिव्यक्ति का स्वरूप हमे लोक गाथाओ और गीतो मे भी मिलता है। यह साहित्य अलिखित होते हुए भी आभिजात्य गुणो तथा सस्कारो से सम्पन्न है। इसमे राष्ट्रीय भावना तथा आधुनिक सभ्यता का प्रभाव भी यत्र-तत्र दिखाई देता है। कुछ क्षेत्रो की गाथाओ तथा गीतो मे सास्कृतिक चेतना के भाव परिलक्षित होते है। इस साहित्य मे विश्वासो, अनुष्ठानो, प्रथाओ और विधानो, व्रतो आदि तत्त्वो का समावेश रहता है जो मानवीय ज्ञान के उन्मीलन तथा लोक-सस्कृति के अध्ययन का अच्छा साधन है। जिन व्यक्तियो या विषयो को कवि या इतिहासकार नहीं छूता उन्हे जनमानस गीत मे अमर कर देते है। तेजाजी व डूगजी इस श्रेणी मे लोकगीत के अमर पात्र है।

साहित्य लिखित या मौखिक हो, उसका विकास मानव मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो मे हुआ है। हर युग मे इसके द्वारा जन सामान्य के सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक जीवन के आदर्शो की रचना हुई है। इसकी आत्मा लोक मानस मे सन्निहित है। इसमे खान-पान, व्यवहार-वाणी, वेश-भूषा, रस्म-रिवाज, विधि विधान, मान, भावना आदि के तत्त्व पाये जाते है, जो सास्कृतिक उत्थान के सच्चे सोपान है। राजस्थान इस प्रकार के साहित्य का भण्डार है। वह इतना समृद्ध है और सुन्दर है कि इसकी गरिमा मे यहा की उन्नत सस्कृति का बोध होता है। इस साहित्य की गाथा मे वह ओज और सार भरा है कि हमारी सस्कृति के विभिन्न पहलू-राग, भक्ति, नीति, जीवन, रस, [illegible], कला आदि आँखो मे घूम जाते है।

राजस्थान की सांस्कृतिक सम्पत्ति को समझने के लिए लोक सगीत, लोक नृत्य, नाच गान तथा लोक नाट्य प्रमुख है। इनसे मात्र लोकानुरंजन ही नहीं होता अपितु [illegible] [illegible] गाथाओ का नैतिक स्वरूप प्रकट होता है।

यहाँ लोक सगीत से जुडी हुई अनेक जातियाँ हैं जो वश परम्परा से जनमानस के अनुरंजन पक्ष को सम्भाले हुए हैं। इनकी उपस्थिति के बिना यहाँ के पर्व या उत्सवो का उल्लास अधूरा रह जाता है। सामान्य वर्ग से लेकर उच्च वर्ग के समाज मे अनुरजनात्मक तथा सौंदर्ययुक्त अभिव्यक्ति को जगाना इनका मुख्य काम है। इस समाज सेवा मे लगी हुई जातियो मे ढोली, मिरासी, ढाढी, लगे, जागे, कामड, हुडकल मागणियारे आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन गायक जातियो ने वीर गाथाओ तथा सामाजिक जीवन की परम्पराओ को जीवित रखने मे पूर्ण सहयोग दिया है।

इन जातियो के विशिष्ट वाद्य भी हैं जो मागलिक अवसरों मे रस को प्रवाहित करते हैं। ये वाद्य वे है जिन्हे थोडे उपकरणो को जुटाकर आदि मानव समाज ने निर्मित किया था। प्रत्येक धुन के साथ इनका तारतम्य बैठ जाता है और इनके वादन से विशेष समा सा बन्ध जाता है। लगे सारगी का प्रयोग करते हैं तो रेगिस्तान के तेजु सतारा। भीलो के भोपो का रावण हत्था तथा गूजरो के भोपो का जेतर मौलिक वाद्य है। मागणिये कामाडचा का प्रयोग करते हैं तो ढोली ढोल, नगाड़ा, शहनाई को खूबी से बजाते हैं। मादल का वादन अपने आप मे उन्मत्त वातावरण उपस्थित करता है।

नृत्य भी लोकानुरजन और भक्ति-प्रदर्शन का प्रमुख माध्यम है। गैर, घूमर, झूमर-नृत्य आदि सामूहिक नृत्य हैं जो आदिवासियो, कृषको आदि मे विशेष प्रचलित हैं। घूमर नृत्य व्यावसायिक जातियो द्वारा विशेषता से नाचा जाता है। एक ताली, दो ताली व पंच ताली नृत्य मे विवाह आदि उत्सवो पर नारियाँ बड़े उत्साह से भाग लेती हैं। मारवाड, मेवाड और बीकानेर क्षेत्र मे तेरा ताली नृत्य कामड़ जाति मे बडा प्रचलित है। इस नृत्य मे एक या दो महिलाएँ, कन्धो, बाहो और पावो मे मजीरो को बाध लेती हैं और इनको हाथ मे बन्धी रस्सी से बजाती हैं और ताल के संयोग से बैठकर आघात करती हैं। घरेलू कामो की अभिव्यक्ति भी इस नृत्य की लय मे सम्मिलित करली जाती है। इस नृत्य मे चौतारा, ढोलक व ताल वादन पुरुषो द्वारा किया जाता है।

पुरुषो के नृत्यो मे रणनृत्य मुख्य है। जिसे गोडवाड क्षेत्र के सरगे आयोजित करते हैं। इस नृत्य मे दो व्यक्ति नगी तलवारो से युद्धात्मक प्रदर्शन करते हैं। बाकिया, ढोल और थालियाँ बजाकर इस नृत्य का सजग रूप उभारा जाता है। बासवाडा और डूगरपुर के क्षेत्र मे जोगी पाचपदा वाद्य के साथ नृत्य करते हैं और नृत्यकार ढोलक के साथ अग-भग, तोड-मरोड के प्रदर्शन करते हैं। इन्ही मुद्राओ के साथ रूमाल या सिक्को को धरती से उठाया जाता है जो इस नृत्य का करतब पक्ष होता है।

कुचामरण मे एक विशेषनृत्य प्रचलित है जिसे कच्छी-घोडा नृत्य कहते हैं। बास की खपच्चियो मे घोडा बनाया जाता है जिसे ढक कर नृत्यकार पाच सात की सख्या मे नाचते रहते हैं। ये तलवारो से युद्ध करते हुए नाचते हैं जिससे एक वीरोचित वातावरण का अजीब समा बन्ध जाता है और साथ मे भेरी और थाल का वादन भी होता रहता है।

जसनामी सम्प्रदाय के भक्त अगारो पर नृत्य करते हैं जो मन्त्रोच्चार तथा नगाडे वादन मे ऐसा सजोया जाता है कि दर्शक मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं।

लोकानुरजन का कलात्मक पक्ष लोक नाट्य मे भी देखा जाता है जिन्हे ख्याल, गवरी, रास व रामलीला तथा तुरकिलगी और कठपुतली कहते है। इन नाट्य प्रकारों को वाद्य, वाद-विवाद, सवाद आदि से प्रदर्शित किया जाता है। नाट्याभिनय का अनुरचनात्मक पक्ष भाण्डो द्वारा भी स्वाग के माध्यम से खेला जाता है। इन नाट्यो मे विभिन्न धार्मिक, पौराणिक एव ऐतिहासिक प्रसग रहते है जो सास्कृतिक पक्ष के द्योतक हैं। इनमे अभिनेता स्थानीय रहते हे जो मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक किया के साथ दर्शको का मनोरजन भी करते हैं और उनमे एक वेग, हर्ष, विस्मय, आराधना तथा भक्ति के भावो का सचार करते हैं। पट चित्रो द्वारा भी राजस्थानी सस्कृति को उजागर किया जाता है जिसमे दर्शको में राजस्थान के सन्त और वीरो के क्रियाकलापो का सस्मरण हो जाता है। इन प्रदर्शनो मे लोक कला तथा राजस्थान की सृजनात्मक प्रवृत्ति के तत्त्व निहित हैं जो सास्कृतिक पक्ष के अनमोल मानदण्ड हैं। सदियो से प्रचलित परम्परा की धरोहर हम इन लोक कलाओ मे देख सकते हैं। राजस्थान मे लोक-सस्कृति का निर्माण पक्ष इन गीतों, नाट्यो, नृत्यो तथा गाथाओ मे आज भी जीता जागता सुरक्षित है।

इन लोक कलाओ के साथ-साथ सास्कृतिक इतिहास मे राजस्थानी मूर्तिकला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। इस कला मे यहाँ की युग युगान्तर की सास्कृतिक प्रगति का साक्षात्कार होता है। धार्मिक चिन्तन और विशुद्ध भावनाओ के अध्ययन का अविरल स्रोत पत्थर से तरासी मूर्तियो मे मिलता है। सबसे बडी विशेषता यह है कि यहाँ के कलाकारो ने पाषाण जैसी जड वस्तु मे प्राण फूक कर उसे सजीव और सुन्दर बनाने मे कोई कसर नही रखी। इन्हे देखने से ऐसा लगता है कि जीवन सम्बन्धी सभी विषयो को समावेशित कर शिल्पियो ने सामाजिक व सास्कृतिक अध्ययन के खुले पन्ने हमारे समक्ष उपस्थित कर दिये हो।

आज से 5,000 वर्ष पूर्व सरस्वती दृषद्वती नदी की घाटी की सभ्यता का प्रतिबिम्ब उस युग के मृद्भाण्डो तथा धातु वस्तुओ मे निहित है। आकृति का अच्छा बोध यहां के मानव का था। [illegible] की मूर्तियों मे कलाकार को आकृति-ज्ञान का कितना सूक्ष्म बोध था यह प्रमाणित होता है। उत्तरोत्तर मौर्य, गुप्त तथा परिवर्तित युग की मूर्तियाँ जो इन युगो के अभिलेखों के अवशेषो मे मिलती हैं। देलवाडा,

नागदा, जगत्, ओसियाँ, आदि स्थानो की मूर्तियो मे तो शक्ति और गति का मूर्तिमान रूप दिखाई देता है। इस काल के मन्दिरो की यक्षियो की मूर्तियाँ मानवशक्ति और क्रीड-विलास की मूर्तिमान उदाहरण हैं। कल्याणपुर की देव, पुरुष और नारी की मूर्तियो से विनय सौन्दर्य और आराधना के भाव टपकते हैं।

जब बाहरी आक्रमणो ने राजस्थानी राजनीति मे प्रवेश किया तो कला के क्षेत्र पर उसका गहरा प्रभाव पडा। राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार तथा जन साधारण मे शौर्य की भावना जागृत हुई तो कलाकार की छैनी ने भी वीरोचित कथानक, सैनिक प्रदर्शन, अस्त्र-शस्त्र, हाथी, घोडे, रथ आदि का प्रस्तुतीकरण करना आरम्भ किया। चित्तौड़ के समाधीश्वर का मन्दिर तथा कीर्तिस्तम्भ के अलकरण ऐसे प्रदर्शनो से भरे पडे हैं। साथ ही साथ धार्मिक चेतना की उपस्थिति के लिए कृष्ण-राधा शिव,-पार्वती और कई देवी देवताओ की मूर्तियो को निर्मित किया गया। युद्धोचित जीवन के साथ वैभव और सुख की कामना की तृप्ति के लिए इस काल मे नारी मूर्तियो को सजोया गया जो शारीरिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं। इसी तरह राजसमुद्र की नोचो की देव मण्डल और पुष्पयुक्त लताएँ तथा बाँध की वेष्टनियो के सामाजिक जीवन के अनेक पक्ष सौन्दर्य चेतना के आकर्षक नमूने हैं।

इसी तरह राजस्थान मे राजप्रासाद, दुर्ग और हवेलियो के उदाहरणो का क्षेत्र विस्तृत एव विविधता मे भरा पडा है। उदयपुर, जोधपुर आमेर के महल राजपूत काल के वास्तु की विपदता और निवास के अभिप्राय के अच्छे उदाहरण हैं। इन स्थानो को यदि स्वत देखा जाय तो वे निस्सदेह अपने चमत्कार से दर्शक पर बडा प्रभाव डालेंगे। इनमे स्थान-स्थान पर विलक्षण जालियाँ, पुतलियाँ, बेल बूँटे और नक्काशियाँ ऐसी बनाई गई हैं कि देखने वाला दग रह जाता है। जैसलमेर की हवेलियो का पीला पत्थर ऐसा बारीकी से तराशा गया है, मानो किसी कुशल सुनार ने रेती से रेत कर आभूषण बनाये हो।

जब दुर्गों की ओर हमारा ध्यान जाता है तो हम देखते हैं कि ये इतने सुदृढ है कि शत्रुओ के प्रवेश के लिए अभेदय बन गये थे। चित्तौड और कुम्भलगढ के दुर्ग चट्टानो और पहाडियो को ऐसे घेर कर बनाये गये थे कि अकबर की फौजो के लिए कई महीनो तक वे समस्या बने रहे। ये राजस्थानी वास्तुकला के अद्भुत, भव्य और विशाल नमूने हैं।

यदि हम मन्दिरो को लें तो देलवाडा के मन्दिर या चित्तौड के कुम्भश्याम मन्दिर तथा उदयपुर का जगदीश मन्दिर अपने अलंकरण की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। इनमे लगी विलक्षण जालियाँ, पुतलियाँ, बेल-बूँटे और नक्काशियाँ सुन्दर अभिव्यक्तियो के अनुपम नमूने हैं। यहाँ की छतो पर बनी हुई नृत्य की भाव-भगीवाली पुतलियो और सगीत मण्डलियो का दिखाव दर्शको को अद्भुत लोक मे ले जाता है। मन्दिर का चप्पा-चप्पा सुन्दर मूर्तियो तथा अलकारिक अभिप्रायो से ढका है,

किन्तु इनमे बहुत सी काम-शास्त्र सम्बन्धी अश्लील मूर्तियाँ भी है जो मन्दिर के पवित्र वातावरण मे काटे की भाति खटकती हैं । सम्भवत ऐसे अकनो को तान्त्रिक भावनाओ ने प्रेरित किया हो ।

राजस्थान की वास्तुकला एव मूर्तिकला की खोज, सग्रह और अध्ययन नितान्त आवश्यक है । इन कलाओ मे हमारी युग-युग की सस्कृति और आध्यात्मिकता के सदेश भरे पडे हैं । परन्तु अभाग्यवश ये सब हमारी उपेक्षा की वस्तु हो रही हैं । इस प्रकार की निधियाँ बिखरी पडी हैं जिनकी सुध लेने वाला कोई नही । ऐसी स्थिति मे प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह उनके मूल्य को समझे, उनके सरक्षण का मार्ग ढूँढे और उन्हे पुनर्जीवित दशा मे लाने का प्रयास करे । कम से कम मूर्तियो को किसी निकट सग्रहालय मे लाकर रख दें या विभागीय कर्मचारी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करें । राष्ट्रीय निधि के नाते उनके प्रति हमारा दायित्व है ।

राजस्थान की चित्रकला का महत्त्व भी मूर्ति एव वास्तुकला की अपेक्षा कुछ कम नही है । यहाँ का कलाकार दरबारी न होने से कला के क्षेत्र को धर्म और समाज के विषयो पर आधारित करता है । वह प्राकृतिक दिखावो मे मग्न होकर पर्वत, नदियो, झरने, पशु-पक्षी एव नर-नारी के चित्रण मे विशेष रुचि लेता है । प्रकृति से प्राप्त रगो को उपयोग मे लेकर रेखा द्वारा चित्रो को इस प्रकार बनाता है कि उसमे धार्मिक चेतना और सजीवता नैसर्गिक रूप मे प्रविष्ट कर जाती है । अपने विषयो के चयन मे चित्रकार राजा-रानी, अमीर-कगाल, भिक्षु-विलासी आदि का अकन समान भाव और निष्ठा के साथ करता है । मृण्भाण्डो पर चित्रित पशु-पक्षी एव वल्लरियो के आकार रेखा शक्ति और स्वाभाविकता के उदाहरण हैं । गुहाओ, कन्दराओ और प्राचीन मन्दिरो मे बने चित्र जन जीवन की प्रगति के सच्चे पृष्ठ हैं ।

जैन, शैव, वैष्णव और शाक्त धर्म से सम्बन्धित अनेक चित्रित ग्रन्थ-कल्प सूत्र, शिवपुराण, भागवत, रामायण, दुर्गासप्तशती, गीत गोविन्द 12 वीं सदी से 18 वी सदी तक यहा बनते रहे । इनमे प्रबल रेखा-चित्रण, रगो की सादगी और अलकरण का बाहुल्य प्रमुख विशेषताएँ हैं । इनकी कला जनता के हृदय और काव्य सगीत के अधिक निकट है । कलाकार ने देवी-देवताओ को पार्थिव स्वरूप मे रख कर जन-जीवन की झाकी को सफलता से प्रस्तुत किया है । पौराणिक कथाओ का अकन भी इस प्रकार किया गया है कि गार्हस्थ्य जीवन के सभी पहलू, जन-मानस की भावनाएँ, बाह्य या अन्तर्जगत एक साथ रेखाओ के माध्यम से उभर पडा है । इन चित्रों मे महिला जगत को नारी सौन्दर्य की पिटारे के रूप मे प्रस्तुत किया गया है । साहित्य मे जितनी उपमाएँ हो सकती है वे रग और रेखा द्वारा इस तरह उपस्थित की गई है कि प्रेम, उल्लास, आनन्द, भक्ति आदि रस एक साथ सनियन्त्रित हो गये है ।

रागमाला चित्रो मे भारतीय धर्मों, प्रकृति के उपकरणो और संगीत को एक साथ जोड कर इस प्रकार अंकित किया गया है कि मानों वे सभी परलोक से इह-लोक मे मूर्तिमान अवतरित हुए हों। भाव, माधुर्य और गेय-तत्त्व मे तरलता और कोमलता को प्रवाहित किया गया है। रागो के अंकन मे चेतना, आकर्षण, कोमलता और सौष्ठव की प्रधानता है। ऋतुओ का चित्रण तो इतना अद्भुत है कि ऐसा लगता है कि चित्रकार ने साकार रूप से ऋतुओ को अपनी कल्पना के माध्यम से खीच लिया हो।

राजस्थान की चित्रकला मे भित्ति चित्रों का विशेष महत्त्व है जिन्हे पर्वो, उत्सवो, विवाहादि प्रसगो पर बनवाया जाता है। इनमे जीवन के अनेक पक्षो, हाथी घोडे, पुतलियाँ, स्वागत के संकेत और हास्य सम्बन्धी अंकन की श्रेष्ठ कृतियाँ उपस्थित की जाती हैं। इनका प्रचलन आज भी यहाँ घर-घर में देखा जाता है। इनके अंकन मे आध्यात्मिकता और लौकिकता का समुचित सतुलन रहता है। जानवरो और पक्षियो के अंकन मे चित्रकार अपनी प्रेरणा के भाव प्रस्तुत करता है जिससे भित्ति चित्रो मे एक सजीवता आ जाती है। हवेलियो के शयन-गृह में बनाये जाने वाले चित्रो मे बडा स्थायित्व उपस्थित किया जाता है जिससे चित्रण के अश भावी पीढियो के लिए प्रेरणा और उल्लास के साधन बने रहें।

राजस्थान की चित्रकला स्थानीय रहते हुए भी सयोगी भी है। मुगलो के सम्पर्क से इसमे एक नई स्फूर्ति पैदा हुई। रणवास के जीवन तथा दरबारी एव शिकार के दिखाव प्रमुख विषय बन गए। रगो की विविधता, चेहरो की सुकुमारता एव तरलता अपने उत्कृष्ट शिखर पर पहुँची। उद्दीपक विषयो में नृत्य, संगीत और सुन्दरियो को निपुणता से चित्रित करने की प्रणाली भी राजस्थान को मुगल शैली की देन है। विदेशी शैलियो को भी राजस्थानी कला मे दक्षता ने स्थान दिया गया है। इस नवीन शैली के चित्र तथा स्थानीय शैली के चित्रों को देश-विदेश मे बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है।

सांस्कृतिक समन्वय

जिस प्रकार सामाजिक, साहित्यिक एव कला के क्षेत्र में सांस्कृतिक उन्नति हुई थी राजस्थान मे धार्मिक क्षेत्र मे समन्वय की प्रक्रिया के कारण एक पुनर्निर्माण का दृश्य दिखाई देता है। प्राचीन काल से यहाँ अनेक मतमतान्तरो, सम्प्रदायो, धार्मिक विश्वासो, पूजा पद्धतियो तथा धार्मिक प्रवृत्तियो का प्रचलन रहा जिनका नेतृत्व ब्राह्मणों, बौद्धों, वैष्णवो तथा जैनो द्वारा किया गया। परन्तु इन विभिन्न धर्मों के रहते हुए प्रारम्भ से ही समन्वय की व्यवस्था बन चुकी थी। जब आर्य और स्थानीय जातियों का यहाँ सम्पर्क हुआ तब शिव भी वैदिक देवताओ मे सम्मिलित कर लिए गए और कालान्तर मे शैव धर्म का प्रचार सम्पूर्ण राजस्थानी क्षेत्र में हो गया। शिव के साथ शक्ति पूजा का भी महत्त्व बढा। शाक्तो और शैवो के आख्या-

मुस्लिम गायको, नर्तकियो और वेश्याओ ने समान रूप से स्वीकार किया । राजस्थान के पुरालेखो मे इनको इनाम, इकरार और प्रोत्साहन दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं, जहाँ जातिवाद न होकर कला की कदर थी । सगीत की भाँति चित्रकला मे भी हिन्दू और मुसलमान कलाकार समान रूप से आश्रय के पात्र थे और उन्हे राज दरबार मे सम्मानित किया जाता था । मुगल दरबारी चित्रकार 16 वी सदी से राजस्थान व मुगल राज्य मे आते जाते रहे और कला मे एक आदान-प्रदान की व्यवस्था बनी । गाँव और नगरो मे उत्सवो पर बनने वाले कई सामाजिक एव धार्मिक चित्र मुस्लिम चित्रकारों द्वारा बनने की प्रथा आज भी राजस्थान म प्रचलित है ।

राजस्थान मे अधिकाश मुस्लिम समाज धर्मान्तरित था । अतएव ऐसे लोग अपनी सस्कार सम्बन्धी जीवन पद्धति हिन्दू विचार के अनुकूल रखने के इच्छुक थे । आज भी अलवर, भरतपुर तथा अजमेर क्षेत्र के कई मुसलमान परिवार विवाह, जन्म आदि अवसरो मे हिन्दू पद्धति को प्रधानता देते है । ऐसे परिवार दीपक जलाने, चादर पत्ते समर्पित करने, प्रसाद बाँटने, पुष्प की माला चढाने, अगरबत्तियाँ जलाने, सुगन्धित पदार्थों का सेवन करने मे तथा मजारो मे श्रद्धायुक्त नत मस्तक करने मे विश्वास रखते हैं । दरगाहो एव मजारो पर गायन-वादन का प्रचार समन्वय की प्रक्रिया का परिणाम है । दीपावली, होली, ईद तथा अन्य पर्वो पर राजस्थान मे हिन्दू-मुस्लिम समान भाव से सम्मिलित होते रहे हैं । दरबारी जीवन मे समान भाव से मिलने से हिन्दू तथा मुसलमान दरबारी बैठको मे एकत्व का अनुभव करते रहे हैं ।

स्थापत्य कला मे महलो का दिखाव, नक्काशी, महराब, गुम्बज आदि से अलकृत करने की प्रथा राजस्थान मे खूब देखी जाती है जिसे हिन्दू और मुसलमान कारीगर साथ रहकर बनाते रहे है । साधारण व्यक्तियो के आवास जो हिन्दू पद्धति से बनते हैं वहाँ भी बरामदे, खम्भे मुस्लिम ढग के पाये जाते हैं । अजमेर का ढाई दिन का झोपडा प्रारम्भिक सामजस्य का रूप है । इसके बाद दोनो पद्धतियो मे आदान-प्रदान प्रचलित हुआ जिसका दिग्दर्शन, मन्दिरो, मस्जिदो तथा राजप्रासादो मे होता है । राजसमुद्र की नौका और अनासागर की बारादरी मे बहुत कुछ शिल्प के विचार से साम्यता है । निर्माण का आधार हिन्दू शैली का है तो ऊपरी ढाचा और दिखाव मे इस्लामी प्रभाव है । ये दोनो शैलिया इतनी घुल मिल जाती है कि पूरा स्थापत्य स्थानीय बन जाता है ।

धार्मिक नव जागरण और सुधारवादी सस्कृति

समन्वय की प्रक्रिया मे 16 वी सदी का धार्मिक नव जागरण और सुधारवादी प्रयत्न, जो इस काल के प्रमुख विचारको द्वारा किये गये थे बडे महत्त्व के हैं । इन विचारको ने धर्म और समाज मे जो दोष उत्पन्न हो गये थे उनको हटाकर अभिनव समाज के निर्माण का काम हाथ मे लिया । भारत की धर्म सुधार की लहर

त्मिक एव मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्तो मे अधिक अन्तर नही था। जहाँ ये दोनो विचार खूब पनप रहे थे वैष्णव धर्म भी यहाँ मध्यमकाल मे खूब पनपा। नगरी के लेख मे मकपरा का उल्लेख वैष्णव धर्म की ख्याति पर प्रकाश डालता है। जब वल्लभ सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय ने भक्ति और कीतन पर बल दिया तो शैव और शाक्तधर्म को मानने वाले राजा एव महाराजाओ ने इन सम्प्रदायो के सिद्धान्तो को मान्यता दी और अपने-अपने राज्यो मे आश्रय और अनुदान द्वारा कृष्णभक्ति के प्रचार मे बहुत योगदान किया। इन धर्मों के द्वारा समाज की दो प्रकार से सेवाएँ हुई। एक तो इनके अनुयायियो ने सस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओ के विकास मे बहुत सहायता पहुँचाई। दूसरा भक्ति और कीतन के माध्यम से स्वभावत जाति-पाति के बन्धन शिथिल हो गए। राजस्थान के वैष्णव सम्प्रदाय के भाव से मुसलमान भी वचित नही रहे। यहाँ भक्ति तथा प्रपत्ति का मार्ग सहज रूप से हृदयग्राही सिद्ध हुआ।

सूफीमत

मध्ययुग के धार्मिक समन्वय के इतिहास मे सूफी विचारधारा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सिंध मे अरब शासन की स्थापना के बाद अनेक मुसलमान धर्म प्रचारक एव सन्त राजस्थान मे आये। सुलतान महमूद गजनवी के पजाब तथा मुहम्मद गोरी के उत्तरी भारत और राजस्थान के कुछ भागो पर अधिकार करने के बाद से सूफी सन्तो की सख्या मे वृद्धि हुई और वे अजमेर, नागौर आदि स्थानो मे फैल गये। चित्तौड, रणथम्भोर और जालोर विजय से इनके प्रसार मे और बढ़ोतरी हुई। इन क्षेत्रो मे कुछ उदार व्यक्तियो ने इन सन्तो की करामातो से प्रभावित हो इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। यहाँ मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह बनने से तथा नागोर मे सूफी विचारको के बसने से एक विशुद्ध वातावरण बना और इस्लाम को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। सूफी सन्तो का सादा जीवन हिन्दू समाज को प्रभावित करता रहा। ईश्वर का निर्गुण और निराकार स्वरूप, भक्ति, नृत्य, नूर, जलवा से आराधना का मार्ग और सूफियो के निरामिष भोजन की रुचि ने इस्लाम और हिन्दूमतावलम्बियो मे सहयोग के भावों को जन्म दिया। सूफी हिन्दुओ की भाति योगाभ्यास का मान्यता प्रदान करते थे। वे जप, भक्ति, नृत्य को आराधना का साधन मानते थे। यह विधि उन्हे हिन्दुओं के निकट लाई। सूफी सन्तो के शिक्षालयो, मस्जिदो, मदरसो आदि को राजस्थानी राज्यो द्वारा आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाने लगी। ऐसी स्थिति मे सूफी विचार और हिन्दू विचार और आराधना पद्धति और सामाजिक रस्म रिवाज मे निकटता आना स्वाभाविक था, जो सांस्कृतिक समन्वय की बहुत दृढ कड़ी बनी।

राजस्थान मे सूफी सतों, हिन्दू भक्तों और राज दरबारो मे सगीत के माध्यम से [illegible] स्थापित हुआ। राग, तान और बाजो ने मेल बढ़ा जिनको हिन्दू व

मुस्लिम गायकों, नर्तकियों और वेश्याओं ने समान रूप से स्वीकार किया। राजस्थान के पुरालेखों मे इनको इनाम, इकरार और प्रोत्साहन दिये जाने के उल्लेख मिलते है, जहाँ जातिवाद न होकर कला की कदर थी। सगीत की भाँति चित्रकला मे भी हिन्दू और मुसलमान कलाकार समान रूप से प्रश्रय के पात्र थे और उन्हे राज दरबार मे सम्मानित किया जाता था। मुगल दरबारी चित्रकार 16 वी सदी से राजस्थान व मुगल राज्य से आते जाते रहे और कला मे एक आदान-प्रदान की व्यवस्था बनी। गांव और नगरो मे उत्सवो पर बनने वाले कई सामाजिक एव धार्मिक चित्र मुस्लिम चित्रकारों द्वारा बनने की प्रथा आज भी राजस्थान म प्रचलित है।

राजस्थान मे अधिकाश मुस्लिम समाज धर्मान्तरित था। अतएव ऐसे लोग अपनी सस्कार सम्बन्धी जीवन पद्धति हिन्दू विचार के अनुकूल रखने के इच्छुक थे। आज भी अलवर, भरतपुर तथा अजमेर क्षेत्र के कई मुसलमान परिवार विवाह, जन्म आदि अवसरो मे हिन्दू पद्धति को प्रधानता देते है। ऐसे परिवार दीपक जलाने, चादर पत्ते समर्पित करने, प्रसाद बांटने, पुष्प की माला चढाने, अगरबत्तियाँ जलाने, सुगन्धित पदार्थों का सेवन करने मे तथा मजारो मे श्रद्धायुक्त नत मस्तक करने मे विश्वास रखते हैं। दरगाहो एव मजारो पर गायन-वादन का प्रचार समन्वय की प्रक्रिया का परिणाम है। दीपावली, होली, ईद तथा अन्य पर्वों पर राजस्थान मे हिन्दू-मुस्लिम समान भाव से सम्मिलित होते रहे है। दरबारी जीवन मे समान भाव से मिलने से हिन्दू तथा मुसलमान दरबारी बैठको मे एकत्व का अनुभव करते रहे हैं।

स्थापत्य कला मे महलो का दिखाव, नक्काशी, महराब, गुम्बज आदि से अलकृत करने की प्रथा राजस्थान मे खूब देखी जाती है जिसे हिन्दू और मुसलमान कारीगर साथ रहकर बनाते रहे है। साधारण व्यक्तियो के आवास जो हिन्दू पद्धति से बनते हैं वहाँ भी बरामदे, खम्भे मुस्लिम ढग के पाये जाते हैं। अजमेर का ढाई दिन का झोपडा प्रारम्भिक सामजस्य का रूप है। इसके बाद दोनो पद्धतियो मे आदान-प्रदान प्रचलित हुआ जिसका दिग्दर्शन, मन्दिरो, मस्जिदो तथा राजप्रासादो मे होता है। राजसमुद्र की नौका और अनासागर की बारादरी मे बहुत कुछ शिल्प के विचार से साम्यता है। निर्माण का आधार हिन्दू शैली का है तो ऊपरी ढाचा और दिखाव मे इस्लामी प्रभाव है। ये दोनो शैलियां इतनी घुल मिल जाती है कि पूरा स्थापत्य स्थानीय बन जाता है।

धार्मिक नव जागरण और सुधारवादी सस्कृति

समन्वय की प्रक्रिया म 16 वी सदी का धार्मिक नव जागरण और सुधारवादी प्रयत्न, जो इस काल के प्रमुख विचारको द्वारा किये गये थे बड़े महत्त्व के हैं। इन विचारको ने धर्म और समाज मे जो दोष उत्पन्न हो गये थे उनको हटाकर अभिनव समाज के निर्माण का काम हाथ मे लिया। भारत की धर्म सुधार की लहर

त्मिक एवं मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्तों में अधिक अन्तर नहीं था। जहाँ ये दोनों विचार खूब पनप रहे थे वैष्णव धर्म भी यहाँ मध्यमकाल में खूब पनपा। नगरी के लेख में सकर्षण का उल्लेख वैष्णव धर्म की ख्याति पर प्रकाश डालता है। जब वल्लभ सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय ने भक्ति और कीर्तन पर बल दिया तो शैव और शाक्तधर्म को मानने वाले राजा एवं महाराजाओं ने इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को मान्यता दी और अपने-अपने राज्यों में आश्रय और अनुदान द्वारा कृष्णभक्ति के प्रचार में बहुत योगदान किया। इन धर्मों के द्वारा समाज की दो प्रकार से सेवाएँ हुई। एक तो इनके अनुयायियों ने संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में बहुत सहायता पहुँचाई। दूसरा भक्ति और कीर्तन के माध्यम से स्वभावतः जाति-पाति के बन्धन शिथिल हो गए। राजस्थान के वैष्णव सम्प्रदाय के भाव से मुसलमान भी वंचित नहीं रहे। यहाँ भक्ति तथा प्रपत्ति का मार्ग सहज रूप से हृदयग्राही सिद्ध हुआ।

सूफीमत

मध्ययुग के धार्मिक समन्वय के इतिहास में सूफी विचारधारा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सिंध में अरब शासन की स्थापना के बाद अनेक मुसलमान धर्म प्रचारक एवं सन्त राजस्थान में आये। सुलतान महमूद गजनवी के पंजाब तथा मुहम्मद गोरी के उत्तरी भारत और राजस्थान के कुछ भागों पर अधिकार करने के बाद से सूफी सन्तों की संख्या में वृद्धि हुई और वे अजमेर, नागौर आदि स्थानों में फैल गये। चित्तौड, रणथम्भोर और जालोर विजय से इनके प्रसार में और बढ़ोतरी हुई। इन क्षेत्रों में कुछ उदार व्यक्तियों ने इन सन्तों की करामातों से प्रभावित हो इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। यहाँ मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह बनने से तथा नागौर में सूफी विचारकों के बसने से एक विशुद्ध वातावरण बना और इस्लाम को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। सूफी सन्तों का सादा जीवन हिन्दू समाज को प्रभावित करता रहा। ईश्वर का निर्गुण और निराकार स्वरूप, भक्ति, नृत्य, नूर, जलवा से आराधना का मार्ग और सूफियों के निरामिष भोजन की रुचि ने इस्लाम और हिन्दूमतावलम्बियों में सहयोग के भावों को जन्म दिया। सूफी हिन्दुओं की भांति योगाभ्यास को मान्यता प्रदान करते थे। वे जप, भक्ति, नृत्य को आराधना का साधन मानते थे। यह विधि उन्हें हिन्दुओं के निकट लाई। सूफी सन्तों के शिक्षालयों, मस्जिदों, मदरसों आदि को राजस्थानी राज्यों द्वारा आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाने लगी। ऐसी स्थिति में सूफी विचार और हिन्दू विचार और आराधना पद्धति और सामाजिक रस्म रिवाज में निकटता आना स्वाभाविक था, जो सांस्कृतिक समन्वय की बहुत दृढ़ कड़ी बनी।

राजस्थान में सूफी सन्तों, हिन्दू भक्तों और राज दरबारों में संगीत के माध्यम से एका स्थापित हुआ। राग, ताल और वाद्यों में मेल बढ़ा जिनको हिन्दू व

समाज के सस्थापन का बीड़ा उठाया। वे विदेशी शासन के विरोधी थे और प्राचीन गौरव व सस्कृति के पूर्ण पोषक थे। वैदिक आस्थाओ के प्रचार हेतु उन्होने "आर्य समाज" नामक संस्था की स्थापना की जो भारतीय समाज व धर्म मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाली उन्नीसवी शताब्दी की उल्लखनीय सस्था थी। मानव जाति का सर्वांगीण विकास, समाज के सदस्यो मे सत्य और नैतिक आदर्शों मे विश्वास पैदा करने मे वे विश्वास करते थे। उनका शुद्धि आन्दोलन भी समाज सगठन की एक प्रवृत्ति थी। हिन्दी भाषा को सम्पूर्ण देश की राष्ट्र भाषा बनाने पर वे बल देते थे।

राजस्थान को स्वामी जी ने अपने कार्यक्षेत्र का प्रमुख केन्द्र बनाया। दलित-वर्ग के उद्धार के लिए उन्होंने जाति प्रथा की आलोचना की तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। स्त्रियो की दशा एव भावी नागरिको के उत्थान के लिए उन्होंने शिक्षा पर बल दिया। विधवाश्रम, अनाथालय आदि सस्थाओ की स्थापना द्वारा विधवा स्त्रियो तथा अनाथ बच्चो के सरक्षण की व्यवस्था की।

वेदो के प्रतिपादन से धार्मिक मूल्यो को स्थापित करने के प्रयत्न मे उन्हें बड़ी सफलता मिली। प्रबुद्ध वर्ग तथा प्रशासनिक वर्ग ने इनके विचारो का सम्मान किया। 1881 ई० की उनकी मेवाड यात्रा ने महाराणा सज्जनसिह, महता पन्ना-लाल, पुरोहित पद्मनाथ, कविराज श्यामलदास तथा कई भारतीय सस्कृति के प्रेमी सामन्तो को बडा प्रभावित किया। महर्षि ने उदयपुर के नवलखा महल मे रहकर ही सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय सस्करण की तैयारी कर उसकी भूमिका लिखी।

इसी तरह जयपुर, करौली, भरतपुर, शाहपुरा, बनडा, अजमेर आदि स्थानो मे भ्रमण कर तथा रहकर स्वामीजी ने कई उच्चस्तर के व्यक्तियो को अपना शिष्य बना लिया जिनमे हर विलास शारदा, राजाधिराज नाहरसिह (शाहपुरा), जयपुर के राजा रामसिह द्वि० (जयपुर) इन्द्र सिह (दूदू) गोविन्दसिह (बनड़ा), केसरीसिह (कुचामन) और प्रतापसिह (जोधपुर) के नाम उल्लेखनीय है। स्वामीजी का देशी राज्यो के भ्रमण का प्रमुख उद्देश्य रियासतो मे जागृति पैदा करना था। उन्होन जोधपुर जाकर महाराजा जसवन्तसिह को वेश्या के प्रभाव से मुक्त करने के लिए बडी लताड दी और उसी के कारण उनको विष के प्रभाव से स्वर्गवासी होना पडा।

स्वामी दयानन्द के उपदेशो का प्रभाव राजस्थान पर ही नही सम्पूर्ण भारत-वर्ष पर पडा। राजस्थान मे तो सस्कृति के आधार जो विदेशी शिकजो से निर्बल हो रहे थे उन्हे मजबूत बनाया। यहाँ स्वतन्त्रता आन्दोलन का भी बीजारोपण स्वामीजी द्वारा हुआ क्योकि वे अपने उपदेशो मे हिन्दी भाषा को राष्ट्र भाषा की मान्यता देते थे और देश को सगठित रखने पर बल देते थे। राजा, महाराजाओ तथा प्रबुद्ध वर्ग को शिष्य बनाकर उन्होने देश के हाथो को मजबूत बनाया। इस दृष्टि से उनका प्रचार केवल धार्मिक न होकर सामाजिक व राष्ट्रीय था।

राजस्थान मे भी पहुची और विशेष रूप से कबीर के विचार और उनकी वाणी का प्रभाव समाज के हर तबके तक पहुंचा । आध्यात्मिक चिन्तन और सामाजिक सुधार के क्षेत्र मे कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रचारक हुए । इनकी वाणी के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विचार तत्कालीन विचारधाराओ से प्रभावित थे और उन्होने समय की दृष्टि से उन सभी धाराओ को जो अद्वैतवाद, ब्रह्मवाद, निर्गुण-ज्ञान तथा हठयोग से मिश्रित थी एक नूतन विचार के रूप मे रखा । उन्होने सूफियो से भी कई बाते सीखी और आडम्बर तथा धार्मिक रूढियो को खूब ललकारा । उन्होंने ईश्वर के नाम भेद से हटकर एकता का पाठ पढाया । उनके विचारो मे निराकार के आधार मे साकार और भक्ति का अच्छा सयोग दिखाई देता है । उन्होंने जाति-पाति, विधि-विधान, पूजा के प्रकारो मे विश्वास न रखकर भाव शुद्धता, नैतिक आचरण, भ्रातृभाव और एकत्व पर बल दिया । सरल भाषा और भक्ति तथा सगीत के माध्यम से कबीर पथ राजस्थान मे निम्न वर्ग के उद्धार मे अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ । हिन्दू-धर्म और भारतीय सस्कृति के सच्चे व मौलिक स्वरूप को जीवित रखने मे कबीर का योगदान श्लाघ्य है । आज भी यहाँ के कतिपय भण्डारो मे कबीर की साखियो के हस्तलिखित ग्रन्थ देखने को मिलते हैं जिनसे उनके द्वारा समाज मे एक नई चेतना को जागृत करने का प्रयास दिखाई देता है । इनके साहित्य से नवीन साहित्य का सृजन, स्थानीय भाषाओ का विकास और जन साधारण मे शिक्षा का प्रचार सभव हो सका ।

इसी प्रकार का समाज सुधार का प्रयत्न दादू पथी और रामस्नेही विचारको ने किया । इन पथो मे प्राचीन शास्त्रो के आधार पर धार्मिक सिद्धान्तो का निरूपण किया गया था । समाज सगठन, क्षेत्रीय भाषा मे साहित्य सृजन तथा नैतिक आचरण के उपदेश द्वारा नव जागरण की प्रेरणा इन पथो के विचारको से हमे मिलती है । हिन्दू-मुस्लिम समाज मे हार्दिक सद्भावना स्थापित करने मे इनका सफल प्रयत्न रहा । इन पथो मे धर्म सस्कृति, जीवन, साहित्य, भाषा, भक्ति और दर्शन का व्यापक समन्वय सन्निहित है ।

कबीर की सरल वाणी ने दलित वर्ग को तो दादू और रामस्नेही साधुओ ने मध्यमवर्ग के समाज को अधिक प्रभावित किया । परन्तु वे बौद्धिक एव तार्किक तबके के सदस्यो को प्रभावित नही कर सके । इस बचे हुए काम की पूर्ति दयानन्द सरस्वती ने की जो अच्छे सस्कृतज्ञ, दार्शनिक तथा उच्चकोटि के वक्ता थे । उनका जन्म 1824 मे गुजरात के मोरवी क्षेत्र के टकारा ग्राम मे ब्राह्मण वश मे हुआ था । 1860 ई० मे स्वामी विरजानन्द से दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्होने धर्म प्रचार तथा समाज सुधार मे अपना जीवन लगा दिया । उन्होने हिन्दू समाज मे प्रचलित कुरीतियो, अन्ध विश्वास और निर्मूल परम्पराओ का घोर विरोध किया । वैदिक विचारो के अनुकूल धार्मिक विचारो का प्रतिपादन कर उन्होने विशुद्ध हिन्दू-

समाज के संस्थापन का बीड़ा उठाया। वे विदेशी शासन के विरोधी थे और प्राचीन गौरव व संस्कृति के पूर्ण पोषक थे। वैदिक आस्थाओं के प्रचार हेतु उन्होंने 'आर्य समाज" नामक संस्था की स्थापना की जो भारतीय समाज व धर्म में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाली उन्नीसवीं शताब्दी की उल्लेखनीय संस्था थी। मानव जाति का सर्वांगीण विकास, समाज के सदस्यों में सत्य और नैतिक आदर्शों में विश्वास पैदा करने में वे विश्वास करते थे। उनका शुद्धि आन्दोलन भी समाज संगठन की एक प्रवृत्ति थी। हिन्दी भाषा को सम्पूर्ण देश की राष्ट्र भाषा बनाने पर वे बल देते थे।

राजस्थान को स्वामी जी ने अपने कार्यक्षेत्र का प्रमुख केन्द्र बनाया। दलित-वर्ग के उद्धार के लिए उन्होंने जाति प्रथा की आलोचना की तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। स्त्रियों की दशा एवं भावी नागरिकों के उत्थान के लिए उन्होंने शिक्षा पर बल दिया। विधवाश्रम, अनाथालय आदि संस्थाओं की स्थापना द्वारा विधवा स्त्रियों तथा अनाथ बच्चों के संरक्षण की व्यवस्था की।

वेदों के प्रतिपादन से धार्मिक मूल्यों को स्थापित करने के [illegible] में उन्हें बड़ी सफलता मिली। प्रबुद्ध वर्ग तथा प्रशासनिक वर्ग ने इनके विचारों का सम्मान किया। 1881 ई० की उनकी मेवाड़ यात्रा ने महाराणा सज्जनसिंह, [illegible] पन्ना-लाल, पुरोहित पद्मनाथ, कविराज श्यामलदास तथा कई भारतीय [illegible] के [illegible] सामन्तों को बड़ा प्रभावित किया। महर्षि ने उदयपुर के नवलखा [illegible] में रहकर ही सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्करण की तैयारी कर उसकी भूमिका लिखी।

इसी तरह जयपुर, करौली, भरतपुर, शाहपुरा, बनेड़ा, [illegible] स्थानों में भ्रमण कर तथा रहकर स्वामीजी ने कई उच्चस्तर के व्यक्तियों को [illegible] शिष्य बना लिया जिनमें हर विलास शारदा, राजाधिराज नाहरसिंह ([illegible]), [illegible] राजा रामसिंह द्वि० (जयपुर) इन्द्र सिंह (दूदू) गोविन्दसिंह [illegible], [illegible] (कुचामन) और प्रतापसिंह (जोधपुर) के नाम उल्लेखनीय हैं। [illegible] राज्यों के भ्रमण का प्रमुख उद्देश्य रियासतों में जागृति पैदा [illegible]। उन्होंने जोधपुर जाकर महाराजा जसवन्तसिंह का वेश्या के प्रभाव [illegible] बड़ी लताड़ दी और उसी के कारण उनको विष के [illegible] पड़ा।

स्वामी दयानन्द के उपदेशों का प्रभाव राजस्थान [illegible] वर्ग पर पड़ा। राजस्थान में तो संस्कृति के आधार जो [illegible] हो रहे थे उन्हें मजबूत बनाया। यहाँ स्वतन्त्रता आन्दोलन [illegible] स्वामीजी द्वारा हुआ क्योंकि वे अपने उपदेशों में हिन्दी [illegible] मान्यता देते थे और देश को संगठित रखने पर बल देते [illegible] तथा प्रबुद्ध वर्ग को शिष्य बनाकर उन्होंने देश के [illegible] दृष्टि से उनका प्रचार केवल धार्मिक न होकर [illegible]

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द तथा एनिबिसेन्ट के लेख और विचार राजस्थान मे बडी रुचि और श्रद्धा से पढे जाते थे। उन्होने यहाँ के शिक्षित समाज को धर्माभिमानी, स्वाभिमानी, देश प्रेमी तथा भारतीय सस्कृति के प्रति श्रद्धावान बनाया।

सस्कृति की इस सक्षिप्त समीक्षा से विदित होता है कि राजस्थान का योग सस्कृति की धरोहरो को सुरक्षित रखने मे अपूर्व रहा है। हिन्दू व मुस्लिम सस्कृतियो के मध्य समन्वय की स्थापना मे इस प्रदेश का बडा हाथ है। जितनी सहानुभूति और सहिष्णुता राजस्थानी समाज मे आज भी देखने को मिलते है अन्यत्र उनका अनुपात इतना अधिक नही है। बौद्धिक क्रियाशीलता, साहित्यिक विकास, कलात्मक उत्थान आदि मे भी राजस्थान का स्थान सर्वोपरि है। राजस्थान के अनेक विचारको ने अपने प्रचार मे वेदान्त की भक्तिपरम्परा के माध्यम से दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर समाज को प्रबुद्ध किया। इसी तरह हमारे काल के विचारको ने धार्मिक, आध्यात्मिक एव राष्ट्रीय सदेश मे सास्कृतिक मूल्यो की अभिवृद्धि की। इन विविध प्रयत्नो का तथा राजस्थान की सरकार के उदार दृष्टिकोण का फल है कि हम राजस्थानी अपनी सस्कृति की प्राचीनता, उदारता, विशालता तथा आध्यात्मिकता पर गर्व और सम्मान का अनुभव करते हैं।

सौभाग्य का विषय है कि राजस्थान का प्रबुद्ध वर्ग लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व से यहाँ की सस्कृति के विविध पहलुओ के अध्ययन और सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है। कई एक जनपदीय सस्थाएँ इस दिशा मे स्थापित हो चुकी हैं जो प्राचीन मध्यकालीन, एव वर्तमान के साहित्य और कला की खोज की प्रवृत्ति मे लगी हुई है। कुछ सीमा तक ये सस्थाएँ अतीत की समृद्ध परम्परा के प्रति और देश मे होने वाली महत्वपूर्ण खोजो के प्रति सजग है। ऐसी सस्थाओ मे कुछ एक के नाम इस प्रकार है —

उदयपुर की हिन्दी विद्यापीठ मे एक शोध विभाग है जो प्राचीन ग्रन्थो की खोज और सम्पादन के कार्य मे लगा हुआ है। लोक साहित्य को प्रकाश मे लाने का काम भी इसने अपने हाथ मे ले रखा है, जिसका प्रकाशन "शोध पत्रिका" द्वारा किया जाता है। इस सस्था की प्रगति श्री जनार्दन नागर की देन है।

दूसरी सस्था जो प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थो के अनुसधान, सम्पादन और प्रकाशन मे लगी हुई है वह "सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट," बीकानेर है। इसकी स्थापना बीकानेर राज्य के प्रमुख विद्वानो के प्रयत्न से सन् 1944 मे हुई थी। कई राजस्थानी दोहे, गाथाएं, लोकगीत आदि इस सस्था द्वारा प्रकाशित हुए है। इसकी प्रगति मे स्वर्गीय डा० दशरथ शर्मा, श्री नाहटाजी, प्रो० नरोत्तम स्वामी जैसे सुधन्य विद्वानो का योगदान रहा है।

बिसाऊ की राजस्थान साहित्य समिति द्वारा त्रैमासिक पत्रिका "वरदा"

का प्रकाशन होता है जिसमे राजस्थानी साहित्य पर शोध पूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। इसी तरह जोधपुर मे राजस्थानी शोध सस्थान है जिससे 'परम्परा" नामक पत्रिका निकलती है। उस सस्था की देखरेख श्री नारायणसिंह भाटी करते है। सस्था मे राजस्थानी साहित्य की कई अप्राप्य पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

इसी तरह बोरून्दा मे "रूपायन" संस्था है जो राजस्थान की लोकवार्ता, गीत तथा वाद्यो पर शोधपूर्ण कार्य कर रही है। सस्थान के संरक्षण मे हजारो की सख्या मे लोक गीत, लोक-वार्ता सग्रहित हैं और कई टेप की हुई वार्ता व गीत हैं जो शोधकार्य के लिए बडे उपयोगी हैं। अपने ही मुद्रणालय मे यहाँ प्रकाशन कार्य भी अच्छी प्रगति कर रहा है। इसका निर्देशन कोमल कोठारी करते हैं।

उदयपुर का "भारतीय लोक कला मण्डल", उदयपुर जिसकी स्थापना श्री देवीलालजी साभर के प्रयत्न से हुई थी, लोक प्रवृत्तियो मे बहुमुखी क्षेत्रो के शोध और अध्ययन का केन्द्र है। लोकनृत्यो की अनेक विधाओ का यहाँ अध्ययन हो चुका है। कठपुतली के प्रदर्शन मे यह सस्था देश विदेश मे ख्याति अर्जित कर चुकी है। यहाँ से लोक साहित्य और कला पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अप्रकाशित स्रोतो का प्रकाशन "लोक कला" नामक पत्रिका द्वारा होता रहता है।

"राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च, जयपुर राजस्थान सरकार व राजस्थान विश्वविद्यालय मे मान्यता प्राप्त एक मात्र सस्था है जहाँ से विद्यार्थियो को पी एच डी डिग्री के लिए मार्गदर्शन मिलता है। इस सस्था ने लगभग 30 विद्यार्थियो को इस डिग्री का भागी बनाया है और रिसर्च जर्नल द्वारा अनेक विद्वत्तापूर्ण लेखो का प्रकाशन किया है और किया जा रहा है। इसके प्रथम निदेशक स्वर्गीय डा मथुरालाल शर्मा थे और अब इसका भार डा गोपीनाथ शर्मा पर है। भारतीय और राजस्थानी संस्कृति के अध्ययन कार्य मे यह सस्था लगी हुई है और कई शोधार्थी शोध कर रहे हैं।

राजस्थान सरकार राजस्थान की संस्कृति के अध्ययन के सम्बन्ध में बडी रुचि लेती है। उसके द्वारा सचालित कई सस्थाएँ और विभाग इस दिशा मे काम कर रहे हैं। सचिवालय मे शिक्षा विभाग का एक अग सस्कृति के विभिन्न पहलुओ की देख-रेख करता है और उससे जुडी हुई कई सस्थाओ को मार्ग-दर्शन देता है। इसी तरह जन सम्पर्क विभाग सास्कृतिक कार्यक्रमो का आयोजन करता है और गाँव-गाँव मे अपने प्रचार के साधनो से शिक्षा और संस्कृति के सम्बन्ध मे आम जनता को सजग करता है। यहाँ तक कि कई मेले व उत्सव जिनमे शिथिलता आ गई थी उन्हें पुनर्जीवित कर विभाग ने लोक-सस्कृति को सजीवित किया है। इसी तरह कृषि मन्त्रालय, गजेटियर विभाग, आर्कियोलॉजिकल सर्वेक्षण विभाग, एरिड जॉन विभाग अपने-अपने क्षेत्र मे सामग्री को सचित करते रहते हैं जो सास्कृतिक

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द तथा एनिबिसेन्ट के लेख और विचार राजस्थान मे बडी रुचि और श्रद्धा से पढे जाते थे । उन्होने यहाँ के शिक्षित समाज को धर्माभिमानी, स्वाभिमानी, देश प्रेमी तथा भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धावान बनाया ।

संस्कृति की इस संक्षिप्त समीक्षा से विदित होता है कि राजस्थान का योग संस्कृति की धरोहरो को सुरक्षित रखने मे अपूर्व रहा है । हिन्दू व मुस्लिम संस्कृतियो के मध्य समन्वय की स्थापना मे इस प्रदेश का बडा हाथ है । जितनी सहानुभूति और सहिष्णुता राजस्थानी समाज मे आज भी देखने को मिलते हैं अन्यत्र उनका अनुपात इतना अधिक नही है । बौद्धिक क्रियाशीलता, साहित्यिक विकास, कलात्मक उत्थान आदि मे भी राजस्थान का स्थान सर्वोपरि है । राजस्थान के अनेक विचारको ने अपने प्रचार मे वेदान्त की भक्तिपरम्परा के माध्यम से दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर समाज को प्रबुद्ध किया । इसी तरह हमारे काल के विचारको ने धार्मिक, आध्यामिक एव राष्ट्रीय संदेश मे सांस्कृतिक मूल्यो की अभिवृद्धि की । इन विविध प्रयत्नो का तथा राजस्थान की सरकार के उदार दृष्टिकोण का फल है कि हम राजस्थानी अपनी संस्कृति की प्राचीनता, उदारता, विशालता तथा आध्यात्मिकता पर गर्व और सम्मान का अनुभव करते है ।

सौभाग्य का विषय है कि राजस्थान का प्रबुद्ध वर्ग लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व से यहाँ की संस्कृति के विविध पहलुओ के अध्ययन और सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है । कई एक जनपदीय संस्थाएँ इस दिशा मे स्थापित हो चुकी हैं जो प्राचीन मध्यकालीन, एव वर्तमान के साहित्य और कला की खोज की प्रवृत्ति मे लगी हुई है । कुछ सीमा तक ये संस्थाएँ अतीत की समृद्ध परम्परा के प्रति और देश मे होने वाली महत्त्वपूर्ण खोजो के प्रति सजग है । ऐसी संस्थाओ मे कुछ एक के नाम इस प्रकार है —

उदयपुर की हिन्दी विद्यापीठ मे एक शोध विभाग है जो प्राचीन ग्रन्थो की खोज और सम्पादन के कार्य मे लगा हुआ है । लोक साहित्य को प्रकाश मे लाने का काम भी इसने अपने हाथ मे ले रखा है, जिसका प्रकाशन "शोध पत्रिका" द्वारा किया जाता है । इस संस्था की प्रगति श्री जनार्दन नागर की देन है ।

दूसरी संस्था जो प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के अनुसधान, सम्पादन और प्रकाशन मे लगी हुई है वह "सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टाट्यूट," बीकानेर है । इसकी स्थापना बीकानेर राज्य के प्रमुख विद्वानो के प्रयत्न से सन् 1944 मे हुई थी । कई राजस्थानी दोहे, गाथाएँ, लोकगीत आदि इस संस्था द्वारा प्रकाशित हुए है । इसकी प्रगति मे स्वर्गीय डा० दशरथ शर्मा, श्री नाहटाजी, प्रो० नरोत्तम स्वामी जैसे सुधन्य विद्वानो का योगदान रहा है ।

पिलानी की राजस्थान साहित्य समिति द्वारा समाचार पत्रिका "वरदा"

का प्रकाशन होता है जिसमे राजस्थानी साहित्य पर शोध पूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। इसी तरह जोधपुर मे राजस्थानी शोध सस्थान है जिससे 'परम्परा" नामक पत्रिका निकलती है। उस सस्था की देखरेख श्री नारायणसिंह भाटी करते है। सस्था मे राजस्थानी साहित्य की कई अप्राप्य पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

इसी तरह बोरून्दा मे "रूपायन" सस्था है जो राजस्थान की लोकवार्ता, गीत तथा वाद्यो पर शोधपूर्ण कार्य कर रही है। सस्थान के संरक्षण मे हजारो की सख्या में लोक गीत, लोक-वार्ता सग्रहित हैं और कई टेप की हुई वार्ता व गीत हैं जो शोधकार्य के लिए बडे उपयोगी हैं। अपने ही मुद्रणालय से यहाँ प्रकाशन कार्य भी अच्छी प्रगति कर रहा है। इसका निर्देशन कोमल कोठारी करते हैं।

उदयपुर का "भारतीय लोक कला मण्डल", उदयपुर जिसकी स्थापना श्री देवीलालजी साभर के प्रयत्न से हुई थी, लोक प्रवृत्तियो मे बहुमुखी क्षेत्रो के शोध और अध्ययन का केन्द्र है। लोकनृत्यो की अनेक विधाओ का यहाँ अध्ययन हो चुका है। कठपुतली के प्रदर्शन मे यह सस्था देश विदेश मे ख्याति अर्जित कर चुकी है। यहाँ से लोक साहित्य और कला पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अप्रकाशित स्रोतो का प्रकाशन "लोक कला" नामक पत्रिका द्वारा होता रहता है।

"राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च, जयपुर राजस्थान सरकार व राजस्थान विश्वविद्यालय मे मान्यता प्राप्त एक मात्र सस्था है जहाँ से विद्यार्थियो को पी एच डी. डिग्री के लिए मार्गदर्शन मिलता है। इस सस्था ने लगभग 30 विद्यार्थियो को इस डिग्री का भागी बनाया है और रिसर्च जर्नल द्वारा अनेक विद्वत्तापूर्ण लेखो का प्रकाशन किया है और किया जा रहा है। इसके प्रथम निदेशक स्वर्गीय डा मथुरालाल शर्मा थे और अब इसका भार डा गोपीनाथ शर्मा पर है। भारतीय और राजस्थानी संस्कृति के अध्ययन कार्य मे यह सस्था लगी हुई है और कई शोधार्थी शोध कर रहे हैं।

राजस्थान सरकार राजस्थान की सस्कृति के अध्ययन के सम्बन्ध मे बडी रुचि लेती है। उसके द्वारा सचालित कई सस्थाएँ और विभाग इस दिशा मे काम कर रहे हैं। सचिवालय मे शिक्षा विभाग का एक अग सस्कृति के विभिन्न पहलुओ की देख-रेख करता है और उससे जुडी हुई कई सस्थाओ को मार्ग-दर्शन देता है। इसी तरह जन सम्पर्क विभाग सांस्कृतिक कार्यक्रमो का आयोजन करता है और गाँव-गाँव मे अपने प्रचार के साधनो से शिक्षा और सस्कृति के सम्बन्ध मे ग्राम जनता को सजग करता है। यहाँ तक कि कई मेले व उत्सव जिनमे शिथिलता आ गई थी उन्हे पुनर्जीवित कर विभाग ने लोक-सस्कृति को सजीवित किया है। इसी तरह कृषि मन्त्रालय, गजेटियर विभाग, आर्कियोलॉजिकल सर्वेक्षण विभाग, एरिड जॉन विभाग अपने-अपने क्षेत्र में सामग्री को सकलित करते रहते है जो सास्कृतिक

उपलब्धियो के विश्वस्त साधन हैं। राजस्थान के जयपुर, जोधपुर, तथा उदयपुर के विश्वविद्यालयो मे भी राजस्थान की सस्कृति के सम्बन्ध मे कई शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं और इनमे शोध कार्य चल भी रहे हैं।

शोध सामग्री का अतुल भण्डार राजस्थान सरकार के पास है जिसमे पुरालेख विभाग, बीकानेर तथा प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर प्रमुख हैं। पुरालेख विभाग मे 16 वी शताब्दी से हमारे काल के बस्ते, बहियाँ और दस्तावेज हैं जो राजस्थान के जन-जीवन और सस्कृति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। प्रतिवर्ष देश विदेश से कई शोधक यहाँ आते है और शोध सामग्री से लाभान्वित होते हैं। प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान मे हजारो हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह है जो हमारी सस्कृति को समझने का अच्छा साधन है। यहाँ से अनेक ग्रन्थो का प्रकाशन भी हुआ है जिसका श्रेय स्वर्गीय जिनमुनि जी को जाता है।

बडे हर्ष का विषय है कि राजस्थान सरकार ने ग्रन्थ अकादमी, राजस्थान सगीत नाटक अकादमी (जोधपुर), राजस्थान साहित्य सगम (उदयपुर), राजस्थान उर्दू अकादमी (जयपुर) आदि द्वारा प्रदेश की साहित्यिक एव कला सम्बन्धी गतिविधि को प्रोत्साहन दिया है। इन सस्थाओ से निकलने वाली पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ यहाँ की सस्कृति के अध्ययन के लिए बडी उपयोगी हैं। राजस्थान का ट्राइबल इन्स्टीट्यूट (उदयपुर) भी राजस्थान की जन-जाति की सस्कृति को बढावा देने मे बडी प्रयत्नशील है। सस्कृति के सरक्षण में कई निजी सस्थाएँ भी काम कर रही हैं।

आज राजस्थान को विदेशो मे "कर्मभूमि" के नाम से जाना जाता है। इसके शौर्यपूर्ण इतिहास को बडी श्रद्धा की दृष्टि से पढा जाता है। इसका कारण यह है कि इस प्रदेश की आधारभूत स्थायि सास्कृतिक एकता और आदर्श के कारण है। विदेशी आक्रमणो और साम्राज्यवादी शिकजो मे फसने के बावजूद भी राजस्थान की सस्कृति अद्यावधि इस राज्य को एक सूत्र में बाँधे हुए है। इस सूत्र की दृढता आधार यहाँ का आचार-विचार, चरित्र, कला, साहित्य, सामाजिक-रस्म रिवाज, उत्सव-मेले, पवित्र नगर, झीलें, नदियाँ पर्वत तथा तीर्थ स्थान है। ये विभिन्न इकाइयाँ एक प्रकार से ऐतिहासिक सास्कृतिक सयोजन हैं। यही सयोजन यहाँ की जीवन-पद्धति का राज है। आशा है राजस्थान की सस्कृति के ये आयाम भविष्य मे विश्व मे न्याय, शान्ति और सुव्यवस्था के स्थापन करने में विश्व सभ्यता के आधार स्तम्भ बनेंगे।

□□□

नामानुक्रमणिका

(छ)

(ज)

(झ)

(ट)

(ड)

(ढ)

(त)

(द)

(न)

सहायक सामग्री व ग्रन्थों की सूची

I शिलालेख

(प्राकृत)

भाभ्रू शिलालेख, घटियाला (वि स 910, 918)

(संस्कृत)

अपराजित शि (वि स 718)

मानमोरी शि (वि स 770)

प्रतापगढ शि. (वि स 1003)

नारनाथ शि (वि स 1010)

डगोदा शि (वि स 1190)

नाडोल शि (वि स 1202)

बीजोलिया शि (वि स 1226)

आबू शि (वि स 1287)

चीरवा शि (वि स 1330)

रसिया की छतरी शि (वि स 1331)

अचलेश्वर शि (वि स 1342)

शृंगी ऋषि शि (वि स 1485)

समिधेश्वर शि (वि स 1485)

रणकपुर शि (वि स 1496)

कीर्ति स्तम्भ शि (वि स 1517)

कुम्भलगढ शि (वि स 1526)

एकलिंग शि (वि स 1545)

जावर शि (वि स 1554)

बीकानेर शि (वि स 15[illegible]1)

बीकानेर शि (वि स 1650)

जैसलमेर शि (वि स 1663)

हिम्मतराम मंदिर का शि (वि स 1891)

II अप्रकाशित पत्रावली

(फारसी)

जहांगीर का फरमान (1626, 1627 ई)

महाराजा जयपुर का पत्र दाऊदखाँ को (1707 ई)
महाराजा जयपुर का पत्र नाहरखाँ को (1710 ई)
हसुलहुक्म (1711 ई)
आमेर से दस्तक (1712 ई०)
आमेर मे अर्जनदास (1716 ई०)
(राजस्थानी)
पट्टे (वि सं. 1682, 1745, 1763, 1773, 1785)
पोर्टफोलियो फाइल पत्रावली (वि स 1840–1908)

III फारसी के ग्रन्थ

ताजउल-मासिर-हसन निजामी
तवकात-ए-नासिरी—मिनहाजउद्दीन
खजाइन-उल-फुतूह—अमीर खुसरो
आशिक—अमीर खुसरो
तारीखे-फिरोजशाही—वर्मी
तारीखे मुबारकशाही—ह्यावीन अहमद
तुजुक-ए-बाबरी—बाबर
हुमायूनामा—गुलवदन
तजकिरात-उल-वाकियात—जोहर
अकबरनामा—अबुल फजल
आइने अकबरी—अबुल फजल
तवकात-ए-अकबरी—निजामुद्दीन अहमद
मुन्तखब-उल-तवारीख—बदायूनी
तारीखे फरिश्ता—फरिश्ता
तुजुक-ए-जहाँगीर—जहाँगीर
इकबालनामा—मुनमिद खा
बादशाहनामा—अब्दुल हमीर लाहोरी
शाहजहाँनामा—इनायतखाँ
मुन्तखाब-उल-लुबाब—खाफी खा
मासिर-उल-उमरा—शाहनवाज खाँ

IV. पुरालेख

ब्याव वही, हाँसिल वही, देवस्थानो की वहिया, कोटा भण्डार, हवाला वही जोधपुर, अर्जी फाइल, हकीकत वही, हयवही, स्याह हजूर, दस्तूर कौमवार, तोजिया व अडमट्टे, दुर्गा फाइल आदि।

सहायक सामग्री व ग्रन्थों की सूची

I शिलालेख

(प्राकृत)

भाभ्रू शिलालेख, घटियाला (वि स 910, 918)

(सस्कृत)

अपराजित शि (वि स 718)

मानमोरी शि (वि म 770)

प्रतापगढ शि (वि स 1003)

सारनाथ शि (वि स 1010)

इगोदा शि (वि म 1190)

नाडोल शि (वि म 1202)

बीजोलिया शि (वि स 1226)

आबू शि (वि स 1287)

चीरवा शि (वि म 1330)

रसिया की छतरी शि (वि स 1331)

अचलेश्वर शि (वि स 1342)

शृंगी ऋषि शि (वि म 1485)

नमिधेश्वर शि (वि स 1485)

रणकपुर शि (वि म 1496)

कीर्ति स्तम्भ शि (वि म 1517)

कुम्भलगढ शि (वि म 1526)

एकलिंग शि (वि म 1545)

जावर शि (वि म 1554)

बीकानेर शि (वि म 15[illegible]1)

बीकानेर शि (वि म 1650)

जैसलमेर शि (वि म 1663)

हिम्मतराम मंदिर का शि (वि म 1891)

II. अप्रकाशित पत्रावली

(फारसी)

जहांगीर का फरमान (1626, 1627 ई)

महाराजा जयपुर का पत्र दाऊदखाँ को (1707 ई)
महाराजा जयपुर का पत्र नाहरखाँ को (1710 ई)
हशुलहुक्म (1711 ई)
आमेर से दस्तक (1712 ई०)
आमेर से अर्जनदास (1716 ई०)
(राजस्थानी)
पट्टे (वि स 1682, 1745, 1763, 1773, 1785)
पोर्टफोलियो फाइल पत्रावली (वि स 1840–1908)

III फारसी के ग्रन्थ

ताजउल-मासिर-हसन निजामी
तवकात-ए-नासिरी—मिनहाजउद्दीन
खजाइन-उल-फुतूह—अमीर खुसरो
आशिक—अमीर खुसरो
तारीखे-फिरोजशाही—वर्नी
तारीखे मुबारकशाही—याहीन अहमद
तुजुक-ए-बाबरी—बाबर
हुमायूनामा—गुलबदन
तजकिरात-उल-वाकियात—जोहर
अकबरनामा—अबुल फजल
आइने अकबरी—अबुल फजल
तवकात-ए-अकबरी—निजामुद्दीन अहमद
मुन्तखब-उल-तवारीख—बदायूनी
तारीखे फरिश्ता—फरिश्ता
तुजुक-ए-जहाँगीर—जहाँगीर
इकबालनामा—मुतमिद खाँ
बादशाहनामा—अब्दुल हमीद लाहोरी
शाहजहाँनामा—इनायतखाँ
मुन्तखाब-उल-लुबाब—खाफी खा
मासिर-उल-उमरा—शाहनवाज खाँ

IV. पुरालेख

ब्याव बही, हॉसिल बही, देवस्थानो की बहियां, कोटा भण्डार, हवाला बही जोधपुर, अर्जी फाइल, हकीकत बही, हयबही, न्याह नजर. दस्तूर कौमवार, नोजिया व अटमट्टे, दुर्गा फाइल आदि।

सहायक सामग्री व ग्रन्थों की सूची

I शिलालेख

(प्राकृत)

माभ्रू शिलालेख, घटियाला (वि स 910, 918)

(सस्कृत)

अपराजित शि (वि. स 718)

मानमोरी शि (वि स 770)

प्रतापगढ शि (वि स 1003)

सारनाथ शि (वि स 1010)

डूगोदा शि (वि स 1190)

नाडोल शि (वि स 1202)

बीजोलिया शि (वि स 1226)

ग्राबू शि (वि स 1287)

चीरवा शि (वि स 1330)

रसिया की छतरी शि (वि स 1331)

अचलेश्वर शि (वि स 1342)

शृगी ऋषि शि (वि स 1485)

समिधेश्वर शि (वि स 1485)

रणकपुर शि (वि स 1496)

कीर्ति स्तम्भ शि (वि स 1517)

कुम्भलगढ शि (वि स 1526)

एकलिंग शि (वि स 1545)

जावर शि (वि स 1554)

बीकानेर शि (वि स 15[illegible]1)

बीकानेर शि (वि स 1650)

जैसलमेर शि (वि स 1663)

हिम्मतराम मदिर का शि (वि स 1891)

II. अप्रकाशित पत्रावली

(फारसी)

जहागीर का फरमान (1626, 1627 ई)

महाराजा जयपुर का पत्र दाऊदखाँ को (1707 ई)
महाराजा जयपुर का पत्र नाहरखाँ को (1710 ई)
हसुलहुक्म (1711 ई)
आमेर से दस्तक (1712 ई०)
आमेर से अर्जनदास (1716 ई०)
(राजस्थानी)
पट्टे (वि स 1682, 1745, 1763, 1773, 1785)
पोर्टफोलियो फाइल पत्रावली (वि. स 1840–1908)

फारसी के ग्रन्थ

ताजउल-मासिर-हसन निजामी
तवकात-ए-नासिरी—मिनहाजउद्दीन
खजाइन-उल-फुटूह—अमीर खुसरो
आशिक—अमीर खुसरो
तारीखे-फिरोजशाही—बर्नी
तारीखे मुबारकशाही—ह्यावीन अहमद
तुजुक-ए-बाबरी—बाबर
हुमायूनामा—गुलबदन
तजकिरात-उल-वाकियात—जोहर
अकबरनामा—अबुल फजल
आइने अकबरी—अबुल फजल
तबकात-ए-अकबरी—निजामुद्दीन अहमद
मुन्तखब-उल-तवारीख—बदायूनी
तारीखे फरिश्ता—फरिश्ता
तुजुक-ए-जहाँगीर—जहाँगीर
इकबालनामा—मुनमिद खाँ
बादशाहनामा—अब्दुल हमीर लाहोरी
शाहजहाँनामा—इनायतखाँ
मुन्तखाब-उल-लुबाब—खाफी खा
मासिर-उल-उमरा—शाहनवाज खाँ

४. पुरालेख

ब्याव बही, हॉसिल बही, देवस्थानो की बहिया, कोठार भण्डार, हवाला बही जोधपुर, अर्जी फाइल, हकीकत बही, हथबही, स्याह हजूरे, दस्तूर कौमवार, तोजिया व अडसट्टे, दुर्ग फाइल आदि ।

V चित्रित ग्रन्थ व चित्रावली

कल्पसूत्र, भागवत पुराण, महाभारत, रामायण, रागमाला, गीत गोविन्द, आर्शरामायण, कृष्णचरित, कविप्रिया, एकादशी महात्म्य, पचतन्त्र, नाथचरित्र, सूरज प्रकाश, खजान्ची सग्रह के चित्र, नाथद्वारा के चित्र ।

VI यात्रियों के वर्णन

थोमसरो, पिटरमन्डी, टेवरनियर, बर्नियर, मनूची, विशोप हेबर आदि ।

VII (अ) संस्कृत साहित्य

वृहद् गुर्वावली, सोम सौभाग्य काव्य, पृथ्वीराज विजय (जयानक), राजवल्लभ (मडन), राजविनोद (सदाशिव भट्ट), सगीत रत्नाकर (सारगदेव), कर्मचन्द्र, वशोत-कीर्तनकम्काव्य (जयसोम), अमरसार (जीवाधर), अमर काव्य वशावली (रणछोड भट्ट), राजरत्नाकर (सदाशिव), अजीत चरित्र (बालकृष्ण), राज्यभिशेख पद्धति (चक्रपाणी मिश्र) ।

(ब) राजस्थानी साहित्य

कान्हडदे प्रबन्ध (पद्मनाभ)
रावजेतसीरो छन्द (वीठू सूजो)
कृष्ण रुक्मणी वेल (पृथ्वीराज)
गुणभाषा (हेमकवि)
गुणरूपक (केशवदास)
नैणसीरी ख्यात (नैणसी)
राजरूपक (वीरभान)
अभयविलास (पृथ्वीराज)
रईदास री पर्ची (प्रियदास)
राजप्रकाश (किशोरदास)
नखसिख (रूपजी)
गोराबादल चोपई
पद्मिनी चोपई (जीवनचन्द)
सूरज प्रकाश (कर्णीदान)
दयालदास ख्यात (दयालदास)
बांकीदास ख्यात (बांकीदास)
अचलदास खीची री वार्ता
पाबूजी री वार्ता
पाबूजी रा दूहा (मेहू)
राजा राणा जी री बात

दानेश्वर वशावली
मेडतियारी ख्यात
तवारीख जैसलमेर
खाँपा, तवारीख, वाता, वशवलियाँ आदि ।

(स) राजस्थानी व हिन्दी साहित्य

नागदमन (गोविन्ददास)
त्रियाविनोद (मुर्ली)
आनन्दविलास (महाराजा जसवन्तसिह)
राजविलास (मानकवि)
मधुमालती (वसतराज)
राजस्थानी भाषा और साहित्य (माहेश्वरी हीरालाल)
राजस्थानी भाषा और साहित्य (डा मेनारिया)
महाराणा सागा (मुन्शी देवीप्रसाद)
मीरावाई का जीवन चरित्र (मुन्शी देवी प्रसाद)
राजस्थान के इतिहास (ओझा)
मारवाड का इतिहास (प रेगू)
राजस्थान का इतिहास (डा गोपीनाथ शर्मा), वीरविनोद (श्यामलदास)
कोटा राज्य का इतिहास (डा मथुरालाल शर्मा)
प्राचीन भारतीय मूर्तिकला (राय कृष्णदास)
महाराणा सागा (शारदा(
ढोला मारू रा दूहा (नरोत्तमदास स्वामी)
बीकानेर लेख सग्रह (अगरचन्द नाहटा)

(द) अंग्रेजी में प्रकाशित ग्रन्थ

Beni Prasad Jahangir
Banarsi Prasad History of Shah Jahan of Delhi
Behnier Travels in the Mughal Empire.
Barham The wonder that was India
Brown Indian Architecture
Bundi Paintings
Banergee Rajput Paintings
Coomarswamy Rajput Paintings
Chopra . Some aspects of Society and Culture during the Mughal Age
Dey The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India

Elliat and Dowson The History of India as told by its own Historians Vol I–VIII
Fergusson History of India and Eastern Architecture
Goetz Art and Architecture Bikaner State
Gopi Nath Rao Elements of Hindu Econography
Grierson The Linguistic Survey of India, Vol IX
Kene History of Dharmashatras
Kishangarh Painting
Majumdar An Advanced History of India
Majumdar The History of Indian People, Vols I–VII
Manucci Staria do Mogor
Moti Chand Mewar Painting
Mehta Studies in Indian Paintings
Pillai Swami Kannu Indian Ephimeries
Kanungo Sher Shah
Kanungo Studies in Rajput History
Reu Glories of Marwar and Glorious Rathors
Rushbrook Williams An Empire Buider of the 16th century
Sharda Maharana Kumbha
Sharda Maharana Sanga
Sharda Ajmer
Sarkar Aurangjeb Vol I–V
Sherring Hindu Tribes and castes
Sharma, G R Mewar and the Mughal Empires
,, ,, A Bibliography of Mediaeval Rajasthan
,, ,, Glories of Mewar
, ,, Social Life in Mediaeval Rajasthan
Srivastava Akbar the Great I–III
Smith A History of Fine Art in India and Ceylon
The Cambridge History of India
Tod Annals and Antiquities of Rajasthan Vols I–III

VIII पत्र-पत्रिकाएँ व गजट (इगलिश)

Administration Reports—Rajasthan
Adyar Library Bulletin
Archaeological Survey of India
Epigraphia Indica
Journal of Asiatic Society
Marg—Vol IV–V
Progress Reports of Archeological Servey

Proceedings of Indian Historical Records Commission
Proceedings of Indian History Congress
Reports of Rajputana Musium
The Imperial Gazetteers of Rajputana
Vienna Oriental Journal

हिन्दी

मरु भारती
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
राजस्थान भारती
शोध पत्रिका
वीणा
वरदा

□□□

Elliat and Dowson The History of India as told by its own Historians Vol I–VIII
Fergusson History of India and Eastern Architecture
Goetz Art and Architecture Bikaner State
Gopi Nath Rao Elements of Hindu Econography
Grierson The Linguistic Survey of India, Vol IX
Kene History of Dharmashatras
Kishangarh Painting
Majumdar An Advanced History of India
Majumdar The History of Indian People, Vols I–VII
Manucci Staria do Mogor
Moti Chand Mewar Painting
Mehta Studies in Indian Paintings
Pillai Swami Kannu Indian Ephimeries
Kanungo Sher Shah
Kanungo Studies in Rajput History
Reu Glories of Marwar and Glorious Rathors
Rushbrook Williams An Empire Buider of the 16th century
Sharda Maharana Kumbha
Sharda Maharana Sanga
Sharda Ajmer
Sarkar Aurangjeb Vol I–V
Sherring Hindu Tribes and castes
Sharma, G R Mewar and the Mughal Empires
,, ,, A Bibliography of Mediaeval Rajasthan
,, ,, Glories of Mewar
,, ,, Social Life in Mediaeval Rajasthan
Srivastava Akbar the Great I–III
Smith A History of Fine Art in India and Ceylon
The Cambridge History of India
Tod Annals and Antiquities of Rajasthani Vols I–III

VIII पत्र-पत्रिकाएँ व गजट (इगलिश)

Administration Reports—Rajasthan
Adyar Library Bulletin
Archaeological Survey of India
Epigraphia Indica
Journal of Asiatic Society
Marg—Vol IV–V
Progress Reports of Archeological Survey

Proceedings of Indian Historical Records Commission
Proceedings of Indian History Congress
Reports of Rajputana Musium
The Imperial Gazetteers of Rajputana
Vienna Oriental Journal

हिन्दी

मरु भारती
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
राजस्थान भारती
शोध पत्रिका
वीणा
वरदा